ॐ तत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुमं ।

तृतीय खण्ड ।

Sri Dharma Kalpadruma

Vol. III.

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

AS THE BASIS OF

All Religion and Philosophy.

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

काशी ।
भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड्के शास्त्रप्रकाश
विभाग द्वारा प्रकाशित ।

तृतीय संस्करण ।

1926.

मूल्य २) दो रुपया ।



ॐ तत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

तृतीय खण्ड ।

Sri Dharma Kalpadruma

Vol. III.

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

AS THE BASIS OF

All Religion and Philosophy.

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

काशी ।

भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेडके

शास्त्र प्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित ।

तृतीयावृत्ति ।

गोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा

भारतधर्म प्रेस, बनारसमें मुद्रित ।

1926.

मूल्य २) दो रुपया ।

श्रीभारतधर्म महामण्डल ।

हिन्दूजातिकी यह भारतवर्षव्यापी महासभा है। सनातनधर्मके प्रधान प्रधान धर्म्माचार्य्य और हिन्दू स्वाधीन नरपतिगण इसके संरक्षक हैं। इसके कई श्रेणीके सभ्य तथा अनेक शाखासभाएं हैं। हिन्दू नर नारी मात्र इसके साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको केवल अढ़ाई रुपया वार्षिक चन्दा देना होता है। उनको मासिकपत्र बिना मूल्य मिलता है और इसके अतिरिक्त समाज हितकारी कोषसे सहायता भी प्राप्त होती है। पत्र व्यवहारका पता यह है:—

जनरल सैक्रेटरी,

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल

प्रधान कार्यालय

जगतगञ्ज, बनारस।

श्रीविश्वनाथो जयति ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुम ।

(तृतीयखण्ड सम्बन्धीय विज्ञापन)

श्रीभगवान्‌की कृपासे श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका तीसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। प्रथम खण्डमें प्रथम काण्डकी साधारण धर्म्म सम्बन्धीय सात शाखाएं और द्वितीय काण्डकी वेद और शास्त्र सम्बन्धीय आठ शाखाएं प्रकाशित हुई हैं। दूसरे खण्डमें विशेष धर्म्मकी चार शाखाएं प्रकाशित हुई हैं। अब इस तृतीय खण्डमें विशेष धर्मके आर्यजाति तथा अनार्यजातिसे उसकी विशेषता, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म, प्रवृत्ति और निवृत्तिधर्म और आपद्धर्म नामिका पांच शाखाएं और चतुर्थ काण्डके साधनमार्गकी भक्ति और योग और मन्त्रयोग नामिका दो शाखाएँ प्रकाशित हुई हैं। इसी प्रकारसे आठ काण्डोंमें पूर्ण यह बृहत् ग्रन्थ कई खण्डोंमें प्रकाशित होगा।

पूजनीय ग्रन्थकर्त्ताका विचार यह है कि सर्वलोक-हितकर साधारण धर्म और विभिन्न अधिकारियोंके उपयोगी विशेष धर्म और वेद और शास्त्रोक्त सब धर्मसिद्धान्त और धर्मजिज्ञासुओंके जानने योग्य सब विज्ञान इस बृहत् ग्रन्थमें विभिन्न विभिन्न शाखाओंमें इस प्रकारसे प्रकाशित किये जायं कि जिससे धर्मजिज्ञासुओंका सब अभाव एकही पुस्तकके द्वारा दूर हो सके, सनातनधर्मके सर्वलोकहितकारी स्वरूपमें साधारण लोगोंकी जो जो शङ्काएँ हो सकती हैं उनकी पूरी मीमांसा इस बृहत् ग्रन्थमें रहे, धर्म शिक्षाके लिये यह बृहत् ग्रन्थ आधाररूप हो और धर्मवक्ता, धर्मशिक्षक एवं आचारवान् धार्मिकके लिये समानरूपसे यह बृहत् ग्रन्थ मार्गदर्शक हो।

किस प्रकारकी शाखाओंसे इस बृहत् ग्रन्थका प्रत्येक काण्ड पूर्ण है सो तीनों खण्डोंकी विषय-सूचीसे पाठकवर्गोंको विदित होगा और कैसे कैसे विषयसमूह इस बृहत् ग्रन्थमें दिये जायँगे सो माननीय ग्रन्थकारजीने प्रथम खण्डकी प्रस्तावनामें प्रकाशित किया है। इन सब विषयोंको विचार कर इस

बृहत् ग्रन्थके सम्पूर्ण प्रकाशित होनेसे पूर्व यदि कोई महानुभाव और चिंताशील सज्जन भविष्यत् खण्डोंमें प्रकाशित होनेवाले विषयोंमें न्यूनाधिक करनेके लिये कोई शुभ प्रस्ताव करेंगे तो उसे सादर ग्रहण किया जायगा।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके नियमानुसार उसके शास्त्र प्रकाशक विभागकी जिम्मेवारी और खर्चका भार श्रीमहामण्डलपर न रखकर श्रीमहामण्डलके सञ्चालक पूज्यपाद श्री १०८ श्रीस्वामीजी महाराजपर रक्खा गया है, उसी नियमके अनुसार इस विभागका कार्य निर्वाहित होता है। श्रीमहामण्डलके साधुगण अपने भक्तोंसे धनकी सहायता लेकर ग्रन्थप्रकाशनका कार्य चलाते हैं और ग्रन्थ विक्रयकी आमदनीका कुछ धन श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दान भण्डार द्वारा दीन, दरिद्र, अनाथ, विधवा और निराश्रय व्यक्तियोंकी सहायतार्थ श्रीमहामण्डल कार्यालयमें व्यय होता है अतः इस ग्रन्थका स्वत्त्वाधिकार उक्त दानभण्डारको ही दिया गया है।

इस तृतीय खण्डकी प्रथमावृत्तिकी छपाईका रुपया श्रीमान् महाराजा बहादुर बलरामपुर नरेशकी श्रीमती महारानी साहबाने दान किया था। श्रीमतीकी यह उदारता और सात्त्विक दान अन्य नरपति और राजमहिलाओंके अनुकरण करने योग्य है। श्रीविश्वनाथ श्रीमतीजीको नीरोग, दीर्घायु और यशःशालिनी करें।

निवेदक—

सैक्रेटरी—शास्त्र प्रकाशक विभाग,

श्रीभारतधर्ममहामण्डल, जगत्गञ्ज, बनारस।

श्रीधर्मकल्पद्रुम।

तृतीय खण्डकी तृतीयावृत्तिकी विषय-सूची।

तृतीय काण्ड।

—:o:—

विषय। पृष्ठ।

राजा और प्रजाधर्म— ८७६-९०९

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म— ९१०-९३४

आपद्धर्म— ९३५-९६२

चतुर्थ काण्ड ।

ओंतत्सत्।

श्रीधर्मकल्पद्रुम।

तृतीय खण्ड।

तृतीय काण्ड।

आर्य्यजाति।

(अनार्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषता)

अनादि कालसे भारतमाताके पवित्र हृदयमें विराजमान आर्य्यजातिका गौरव भारतकी इस वर्त्तमान दीन दशामें भी निष्पक्ष उदारजनोंके हृदयमें प्रतिष्ठित है, जिसकी पवित्र ज्योति वर्त्तमान कालसिन्धु जलमें प्रतिबिम्बित होकर उसकी शोभा-वृद्धि कर रही है और भारतके भविष्यत् भाग्य गगनमें ध्रुवताराकी ज्योतिकी नांई मधुर आशाका सञ्चार करा रही है। इसलिये पुण्य-श्लोक आर्यजातिका लक्षण और स्वरूप, आदि वासभूमि, प्राचीनता, अनार्य-जातिसे विशेषता तथा सर्व्वाङ्गीण पूर्णतापर विचार करना प्रत्येक भारतजननी-के सुपुत्रका कर्त्तव्य है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। परन्तु यहां यह अवश्य हृदयङ्गम करना चाहिये कि जिस प्रकार धर्म्म और रिलिजन ये दोनों शब्द एक नहीं हो सकते, उसी प्रकार हमारे शास्त्रोक्त आर्य्य शब्द और पाश्चात्य एरियन शब्द ठीक एक अर्थ वाचक नहीं हैं। आर्यजातिके लक्षणके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। कर्ममीमांसामें कहा हैः—

उभयोपेताऽऽर्य्यजातिः ।

तद्विपरीताऽनार्य्या ।

जो जाति चतुर्वर्णधर्म्म और चतुराश्रमधर्मसे युक्त है वही आर्यजाति है। वर्णाश्रमधर्म्मविहीन जाति अनार्य्यजाति है। इसके सिवाय धात्वर्थ और गुणानुसार भी आर्यजातिके अनेक लक्षण होते हैं। यथाः—गमन या व्याप्ति अर्थक 'ऋ' धातुसे ण्यत् प्रत्यय द्वारा आर्य शब्दके बननेके कारण वेदोंके भाष्यकार सायणाचार्यने आर्यजातिका यही लक्षण किया है कि जो जाति पृथिवीके अनेक स्थानोंमें जाकर अपनी कीर्ति-ध्वजाकी स्थापना करती थी, वही आर्यजाति है। इस विषयमें महाभारतमें भी प्रमाण मिलता है। यथाः—

म्लेच्छाश्चाऽन्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ।

आर्याश्च पृथिवीपालाः ।

पूर्व कालमें बहुत प्रकारकी अनार्यजातिको युद्धमें परास्त करके जो जाति पृथिवीकी अधिपति हो गई थी, वही आर्यजाति है। यास्क मुनिने अपने प्रणीत निरुक्त ग्रन्थमें कहा हैः—

आर्य ईश्वरपुत्रः ।

ईश्वर-पुत्रको आर्य कहते हैं। इस प्रकार आर्यजातिका लक्षण वर्णन करके उल्लिखित 'वीरता' के अतिरिक्त आध्यात्मिक पूर्णताका भी प्रमाण आर्यजातिके लिये प्रदर्शित किया है। तदनुसार किसी किसीने 'ऋ' धातुका अर्थ इस प्रकार भी वर्णन किया है। यथाः—

अर्तुं सदाचरितुं योग्यः इति आर्यः ।

इस लक्षणके अनुसार न्यायपथपर चलनेवाली, सदाचारशील, कर्त्तव्यपरायण जाति ही आर्यजाति है ऐसा सिद्ध होता है। रामायणके द्वितीय काण्डमें लिखा हैः—

योऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा ज्येष्ठेन भामिनि ।

इस प्रकार कह कर महर्षि वाल्मीकिने आर्य शब्दके उपर्युक्त लक्षणोंका ही निर्देश किया है।

स्मृतिमें आर्यजातिका निम्न लिखित लक्षण वर्णन किया हैः—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।

तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥

वर्णाश्रमानुकूल कर्त्तव्यपरायण, अकर्त्तव्यविमुख, आचारवान् पुरुष ही आर्य है। अतः उपर्युक्त समस्त लक्षणोंको मिलाकर यह सिद्धान्त हुआ कि जो जाति सदाचारसम्पन्न, सकल विषयोंमें अध्यात्म लक्ष्ययुक्त, दोषरहित और चतुर्वर्ण तथा चतुराश्रम-धर्म-परायण है वही जाति आर्य्यजाति कहला सकती है। भारतभूमि इस प्रकारसे सर्वगुणालंकृत आर्य्यजातिकी ही प्राचीन निवास भूमि है जिसके लिये ऋग्वेदके प्रथम, तृतीय, चतुर्थ आदि मण्डलोंमें आर्य्यजातिकी गुणकथा वर्णित की गई है। यथाः—ऋग्वेदके तृतीयाष्टकके प्रथमाध्यायमें लिखा हैः—

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्यायेति।

वामदेव ऋषिने स्वरूपस्थित होकर कहा कि "मैंने प्रजापतिरूप होकर आर्य अङ्गिराको भूमिदान किया और इन्द्ररूप होकर यज्ञ करनेवाले मनुष्योंको वृष्टिदान किया।" इस प्रकार भगवान्‌के निःश्वासरूपी अनादि वेदमें भी आर्य्यजातिकी गौरवकथा देखनेमें आती है।

आर्य्यजातिका आदि निवासस्थान भारतवर्ष है या नहीं इस विषयमें आजकल बहुत मतभेद हो रहे हैं। अपने देशमें विदेशी बनना केवल धर्म्म और शास्त्रविरुद्ध ही नहीं है, अधिकन्तु युक्ति और बुद्धिमत्तासे भी विरुद्ध है। अतः इस विषयपर विचार किया जाता है। आर्य्यजाति भारतवर्षकी आदि जाति है या नहीं, इस विषयमें ऐतिहासिक लोगोंकी जितनी कल्पनाएं देखनेमें आती हैं उन सबोंको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथमतः वे लोग कहते हैं कि आर्य्यगण मध्यएशियामें कास्पियन ह्रदके पास पहले कहीं रहा करते थे और वहांसे ही क्रमशः भारतवर्षमें आये हुए हैं। इस प्रकारकी कल्पनाके मूलमें उन्होंने तीन युक्तियां बताई हैं। यथा ऋग्वेद संहितामें ऐसे अनेक नद नदी तथा नगरके नाम मिलते हैं जिनके स्थान मध्यएशियामें कहे जा सकते हैं। द्वितीय युक्ति यह है कि आर्य्यगण शास्त्रोंमें श्वेताङ्ग पुरुष करके वर्णित किये गये हैं और मध्यएशियाके लोग श्वेत वर्णके होते हैं। तृतीयतः आर्योंके उपास्य अनेक देव देवियोंके नामके साथ उक्त प्राचीन महादेशकी प्राचीन जातियोंके अनेक उपास्य देव देवियोंके नामका मेल देखनेमें आता है; जिससे यह प्रमाण होता है कि मध्यएशियाके एकही प्रदेशसे भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें जाकर आर्य्यगण बसे थे। ऐतिहासिक पुरुषोंकी द्वितीय कल्पना यह है कि आर्य्य लोग उत्तर मेरुसे क्रमशः दक्षिणकी ओर अग्रसर होकर अन्तमें भारतमें आये हैं। इसके लिये युक्ति यह है कि वेदमें दीर्घकाल व्यापी रात्रि तथा दिनका

उल्लेख है और उत्तर मेरुमें छः महीनेका दिन और छः महीनेकी रात्रि होती है। और जेन्दाभेस्ता नामक ग्रन्थमें लिखा है:—"आर्य्योंका स्वर्ग उत्तर मेरुमें ही था, वहांपर वर्ष भरमें एकही बार सूर्यका उदय होता था। पश्चात् बरफ तथा शीतके अधिक होनेके कारण वह स्थान जब वास करने योग्य न रहा तो आर्य्यलोग उसे त्यागकर दक्षिण देशकी ओर आए।" ऐतिहासिक पुरुषोंकी तृतीय कल्पना यह है कि जर्मनीके पास किसी स्थानमें आर्यलोग रहते थे। क्योंकि भाषापर विचार करके देखा जाता है कि आर्य्यभाषा संस्कृतके साथ जर्मन भाषाका बहुत मेल है। इन सब ऐतिहासिक पुरुषोंकी कल्पनाओंके अतिरिक्त आजकल और एक नवीन कल्पना निकली है जिसके अनुसार आर्य्यजाति तिब्बतसे आई है ऐसा कहा जाता है। अब नीचे इन सब कल्पनाओंके असत्य होनेके विषयमें विचार किया जाता है।

दुःखकी बात यह है कि अर्वाचीन ऐतिहासिक पुरुषोंने भारतकी प्रकृति तथा सृष्टिके क्रमविकाशके नियमपर विचार न करके ही अपनी अपनी कल्पना की है। किसी वस्तुके तत्त्वानुसन्धान करनेके लिये यथार्थ उपाय यह है कि कारणोंका तत्त्व निर्णय करके उसीके अनुसार कार्यका तत्त्व निर्णय किया जाय। क्योंकि कार्य कारणका ही विकाश मात्र है और इसलिये कारणके विषयमें पूर्ण सिद्धान्त निर्णय होनेपर तभी कार्यका पूर्ण सिद्धान्त निर्णय हो सकता है। इसलिये आर्य्यजातिकी आदि वासभूमि निर्णय करनेके पहले, भारतकी प्रकृति आर्य्यजातिकी प्रकृति और सृष्टिके क्रमविकाशके अनुसार दोनों प्रकृतिका कब किस प्रकार मेल हो सकता है इसका अवश्य विचार होना चाहिये। तभी सत्य सिद्धान्त निर्णय हो सकता है। हिन्दु शास्त्रके सिद्धान्तानुसार समष्टि सृष्टिकी धारा ऊपरसे नीचेकी ओर चलती है। तदनुसार सृष्टिकी प्रथम दशामें पूर्ण मानव उत्पन्न होते हैं और वह युग सत्ययुग कहलाता है। उस समय पूर्ण सत्त्वगुणका विकाश रहनेसे सभी लोग पूर्ण धर्मात्मा होते हैं। स्मृति तथा पुराणोंमें इस प्रकार सृष्टिका क्रम बहुधा वर्णन किया है। यथाः— सृष्टिके प्रथम विकाशमें पूर्ण निवृत्तिसेवी सनक, सनन्दन आदि ब्रह्माजीके चार पुत्र, तदनन्तर मरीचि, अत्रि आदि सात (किसी किसी मतमें दस) पुत्र उत्पन्न होते हैं। पश्चात् उनके द्वारा और सृष्टि क्रमशः उत्पन्न होती है। इसका पूर्ण वृत्तान्त इस ग्रंथके पहले खण्डमें वर्ण-धर्मके अध्यायमें बताया गया है।

उक्त कथनसे सिद्धान्त होता है कि सृष्टिके पहले पूर्ण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं और क्रमशः सृष्टि अधोमुखिनी होकर सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर

जाने लगती है। तदनुसार धीरे धीरे धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है। मनुसंहितामें लिखा है:—

चतुष्पात् सकलो धर्म्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रति वर्तते॥
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकाऽनृतमायाभिर्धर्मश्चाऽपैति पादशः॥

सत्ययुगमें धर्म चार पाद रहता है, सत्यकी पूर्णता रहती है और अधर्मके द्वारा अर्थादि लाभकी ओर मनुष्योंकी दृष्टि कदापि नहीं जाती है। तदनन्तर त्रेतादि युगमें क्रमशः धर्मका एक एक पाद नष्ट होने लगता है जिससे चोरी, मिथ्यावाद, कपटता आदि बुरी वृत्तियां क्रमशः बढ़ने लगती हैं। यही सब समष्टि सृष्टिके अधोमुखिनी होनेका प्रमाण है। केवल हिन्दुशास्त्रोंका ही यह सिद्धान्त नहीं है। परन्तु पाश्चात्य धर्म-ग्रन्थोंमें भी अनेक स्थलपर ऐसा ही सिद्धान्त पाया जाता है। प्राचीन हिब्रु ग्रंथमें आदम (Adam) से जीवोंकी उत्पत्तिके विषयमें भी ऐसाही लिखा है कि उनसे एक स्वर्गीय ज्योति निकलकर पृथिवीकी ओर आई जिससे यहांपर अनेक पुण्यात्मा पुरुष उत्पन्न हुए, परन्तु यह सृष्टि बहुत दिनोंतक ऐसी नहीं रही और क्रमशः अधोमुखिनी हो गई इत्यादि। ग्रीस देशके प्रसिद्ध विज्ञानवित् पण्डित प्लेटो (Plato) ने अपने फिड्रस (Phaedrus) नामक ग्रंथमें लिखा है कि सृष्टिकी पहिली दशामें ऐसे पुण्यात्मा पुरुष थे कि स्वर्गमें देवताओंके साथ भी उनकी बातचीत हुआ करती थी। पश्चात् कालके अनुसार सृष्टि निम्नाभिमुखिनी होनेसे मनुष्योंकी बुद्धिपर भी आवरण आ गया जिससे अधार्मिक सन्तान उत्पन्न होने लगी इत्यादि। अतः पूर्व तथा पश्चिम दोनों देशोंके शास्त्रीय सिद्धान्तोंसे यह बात निश्चय हुई कि सृष्टिके आदि कालमें पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं और पश्चात् क्रमशः धर्मके ह्रास होनेके कारण वह पूर्णता नष्ट होकर सात्त्विक, राजसिक, तामसिक सकल प्रकारकी प्रजा उत्पन्न होती है। अब विचार करनेकी बात यह है कि सृष्टिकी प्रथम दशामें जो पूर्ण पुरुष उत्पन्न होते हैं वे पृथिवीके किस स्थलमें उत्पन्न हो सकते हैं। क्योंकि मनुष्यकी प्रकृति जिस प्रकारकी होती है वे उसी देश कालमें उत्पन्न हो सकते हैं, असमान या प्रकृतिके विरुद्ध देशकालमें उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसी विचारसे सिद्ध होता है कि पूर्ण पुरुषोंकी उत्पत्ति पूर्ण प्रकृतियुक्त भूमिमें ही हो सकती है, अपूर्ण प्रकृति भूमिमें पूर्ण पुरुष उत्पन्न

नहीं हो सकते हैं। पूज्यचरण आर्य महर्षिगण तथा मनीषी पाश्चात्य विज्ञानवित् पण्डितगण सभीने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है कि पृथिवीभरमें भारतवर्षकी ही प्रकृति सर्वथा पूर्ण है। प्रकृति स्थूल, सूक्ष्म, कारण या आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनोंकी पूर्णतासे पूर्ण होती है। भारतकी प्रकृतिपर विचार करनेसे इन तीनोंकी पूर्णता देखनेमें आती है। आधिभौतिक या स्थूल प्रकृतिकी पूर्णताका प्रथम लक्षण यह है कि यहांपर षड्ऋतुओंका विकाश ठीक ठीक होता है। दो दो महीनेके अनन्तर प्रकृतिका सूर्यगतिके अनुसार ठीक ठीक परिवर्तन होना उसी देशमें सम्भव हो सकता है कि जिस देशकी प्रकृति पूर्ण हो। अपूर्ण प्रकृतिमें ऐसा कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्राकृतिक अपूर्णताके कारण सूर्यकी गतिका यथाक्रम प्रभाव, जिससे कि ऋतुओंका विकाश सम्भव होता है, नहीं पड़ सकता है। और यही कारण है जिससे उन देशोंमें षड्ऋतुओंका आविर्भाव यथाक्रम न होकर एक या दो ऋतुका ही प्रभाव रहता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु भारतीय प्रकृतिकी स्थूल पूर्णताका यह भी और एक अपूर्व लक्षण है कि यहांपर एक ही समयमें भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें भिन्न भिन्न ऋतुओंका विकाश रहता है, जिससे सिद्ध होता है कि स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता केवल भारतकी समष्टि प्रकृतिमें नहीं, परन्तु भारतकी व्यष्टि प्रकृतिके अङ्ग अङ्गमें भी व्याप्त है। जिस समय हिमालयके शीतमय प्रदेशोंमें तुषारमय पर्वत हेमन्त और शिशिर ऋतुओंके प्रबल पराक्रमका झण्डा उड़ाते रहते हैं ठीक उसी समय सिन्धुदेशके मरुस्थलमें ग्रीष्म ऋतुका प्रभाव रहता है और उसी कालमें मैसूर आदि देशोंमें वसन्त, आसाम आदि देशोंमें वर्षा और मध्य देशमें शरद ऋतुका आनन्द बना रहता है। सर्व शोभामयी प्रकृति माताके सब अङ्गोंका परमानन्द केवल भारतवर्षमें ही है। पृथिवीके यूरोप आदि देशोंमें श्वेतवर्णके मानव, अफ्रिका आदि देशोंमें कृष्णवर्णके मानव और जापान चीन आदि देशोंमें पीतवर्णके मानव बहुधा दिखाई पड़ते हैं परन्तु भारतवर्षमें वैसी असम्पूर्णता नहीं पायी जाती। इस पवित्र आर्य्यजातिकी मातृभूमिमें उज्ज्वल गौरवर्ण, साधारण गौरवर्ण, श्वेतवर्ण, कृष्णवर्ण, पीतवर्ण, लोहितवर्ण श्यामवर्ण और उज्ज्वलश्यामवर्ण आदि अनेक रङ्गोंके स्त्री पुरुष समानरूपसे दिखाई देते हैं। यही इस भूमिकी पूर्णता है। प्रत्यक्ष पूर्णताका वर्णन करते हुए उद्भिज्जके तत्व जाननेवाले पण्डितोंने यह भलीभांति निश्चित कर दिया है कि भारतवर्षमें पृथिवीके सब देशोंके उद्भिज उत्पन्न होकर उन्नतिको प्राप्त हो

सकते हैं। उसी प्रकारसे प्राणिशास्त्रवेत्ता परिडतोंने यह स्पष्ट रीतिसे कहा है कि पृथिवीभरमें जितने प्रकारके पशु पक्षी और अन्य प्रकारके जीव हैं वे सब भारतवर्षके किसी न किसी प्रदेशमें भली प्रकारसे जीवित रहकर भारतवर्षकी सृष्टिलीलाविस्तारकारी पूर्णताका परिचय दे सकते हैं। भारतसमुद्रकी गभीरता और भारतसमुद्रकी मुक्ता प्रवाल आदि रत्न और नाना समुद्रसेवी जीवोंके प्रसव करनेकी शक्ति तो सर्ववादिसम्मत है। पवित्रसलिला भागीरथीके जलकी अपूर्वता और उसकी शक्ति तो आजकलके दाम्भिक सायन्सवेत्ता परिडतोंने भी स्वीकार की है जिसका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायोंमें किया गया है। इस पवित्र तथा पूर्ण प्रकृतियुक्त भूमिमें सब प्रकारकी भूमियां हैं। सिन्धुदेश और राजपुतानाके कुछ अंशमें शुष्क जलहीन मरुस्थल, वङ्गदेश और मिथिला आदि देशोंमें अधिक सजलता और ब्रह्मावर्त आदि प्रदेशोंमें इन दोनों अवस्थाओंकी समता विद्यमान है। पृथिवीभरमें सबसे बड़ा और उच्च पर्वतराज हिमालय और सबसे गभीर भारतसमुद्र आर्य्यावर्तकी महिमाको अनन्तकालसे बढ़ा रहे हैं। श्वेतवर्णकी ब्राह्मणजातीय भूमि, रक्तवर्णकी क्षत्रियजातिकी भूमि, पीतवर्णकी वैश्यजातीय भूमि और कृष्णवर्णकी शूद्रजातिकी भूमि भारतवर्षके प्रायः सब प्रदेशोंके विभागोंमें विद्यमान है, इस कारण सब प्रकारके उद्भिज्ज भारतवर्षमें उत्पन्न हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं। यही भारतमें भूमिकी पूर्णता है।

शिवरत्नसारतन्त्रमें लिखा हैः—

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिर्यथा।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः।
तथा श्रेष्ठा कर्मभूमिर्भूमौ भारतमण्डलम्॥

जिस प्रकार देवताओंमें विष्णु, ह्रदोंमें समुद्र, नदियोंमें गङ्गा, पर्वतोंमें हिमालय, वृक्षोंमें अश्वत्थ और राजाओंमें इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार कर्म्मभूमि भारतवर्ष पृथिवीकी अन्य सब भूमियोंसे श्रेष्ठ है। यही सब भारतवर्षकी आधिभौतिक पूर्णताका लक्षण है। भारतवर्षमें दैवीशक्तिकी पूर्णताके कारण ही यहांपर अनादि कालसे काशी आदि दैवी शक्तिके प्रकाशक केन्द्ररूपी नित्य तीर्थ, अनेक नैमित्तिक तीर्थ, विविध पीठस्थान, ज्योतिर्लिंग आदि आधिदैविक शक्तिके केन्द्र विद्यमान हैं और भगवत्शक्तिके आधारभूत विभूति तथा अवतारोंका यहां आविर्भाव होता है और इसी आधिदैविक पूर्णता-

के कारण ही भगवान्‌के पूर्णावतार आनन्दकन्द कृष्णचन्द्रकी लीला यहांपर प्रकट हुई थी। भारतवर्षकी आध्यात्मिक पूर्णताके कारण ही यहांपर पूर्णज्ञानाधार वेद और पूर्ण ज्ञानमय महर्षियोंका आविर्भाव हुआ है। वेदमें लिखा है:—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती है। इसलिये भारतमें पूर्णज्ञानका आविर्भाव होनेके कारण भारत मुक्तिभूमि कहलाता है। मोक्षमूलर, कोलब्रुक आदि पाश्चात्य मनीषिगण एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि इसी देशसे ज्ञानज्योति प्रकट होकर ससारमें व्याप्त हुई है। कोलब्रुककी तो यह सम्मति है कि इस देशसे ज्ञानकी ज्योति ग्रीसमें गई थी, ग्रीससे रोममें, और रोमसे समस्त पृथिवीमें गई है। अतः भारतकी आध्यात्मिक पूर्णता सर्ववादिसम्मत है। इस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सकल प्रकारसे पूर्ण होनेके कारण भारतकी प्रकृति पूर्ण है यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। इस विषयमें पूर्व तथा पश्चिम देशके पण्डितोंकी और भी अनेक सम्मतियां आगेके किसी अध्यायमें बताई जायगीं। प्रकृत विषय यह है कि आर्यजातिकी उत्पत्ति कहांपर हो सकती है। जब विचार तथा प्रमाणके द्वारा यह निश्चय हुआ कि सृष्टिकी प्रथम दशामें पूर्ण पुरुष उत्पन्न हुए थे और पूर्ण पुरुषकी उत्पत्ति पूर्णप्रकृतियुक्त भूमिमें ही हो सकती है और जब यह भी निश्चय हुआ कि पृथिवीभरमें भारतवर्षकी ही प्रकृति पूर्ण है तो यह बात निःसन्देह है कि आदि सृष्टि भारतवर्षमें ही हुई थी और किसी देशमें नहीं। और जब मनुजीके सिद्धान्तानुसार आदि सृष्टिके पूर्ण–पुरुष आर्य महर्षिगण थे तो आर्यजातिकी आदि निवास भूमि भारतवर्ष ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः पूर्ण मनुष्यत्वयुक्त आर्यजाति और किसी देशमें रहती थी, वहांसे भारतवर्षमें आयी, यह कल्पना मिथ्या कपोल-कल्पना मात्र है; यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। वेदकी आदि विकाशभूमि भारतवर्षमें वैदिक आर्यजाति ही अनादिकालसे वास कर सकती है। यहां कोई अपूर्ण जाति सृष्टिके आदि कालमें नहीं हो सकती है और न पूर्ण ज्ञान और पूर्ण मनुष्यत्वयुक्त आर्यजाति और किसी अपूर्ण प्रकृतियुक्त देशमें उत्पन्न होकर यहांपर आ सकती है। पूर्ण मानव आर्यगणकी भारतवर्षमें तथा तदन्तर्गत कुरुक्षेत्रादि ब्रह्मर्षि देशोंमें उत्पत्ति होनेके विषयमें श्रुतिस्मृतियोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मनुसंहितामें:—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवाऽन्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

जिस भूमिके पूर्व और पश्चिममें समुद्र है, जिसके उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें विन्ध्याचल है, उसको आर्य्यावर्त्त कहते हैं। अर्य्यावर्त्त भारतवर्षका ही नाम है। पूर्वोक्त लक्षणको देखकर और दक्षिणमें विन्ध्याचलका नाम देखकर प्रायः मनुष्यकी यही सम्मति होती है कि भारतवर्षके उत्तर भागको आर्य्यावर्त्त कहते हैं, और दक्षिण भागके दक्षिणावर्त्तादि और और नाम हैं; परंतु इस सिद्धान्तको निश्चित न रखकर यदि समस्त भारतवर्ष अर्थात् हिंदुस्थानको ही आर्य्यावर्त्तरूपसे माना जाय तो सिद्धान्तके स्थिर करनेमें सुविधा होगी। यदि वर्त्तमान उत्तरभारतको आर्य्यावर्त्तरूपसे माना जाय तो उसकी पूर्व्व-सीमा और पश्चिम सीमामें समुद्र पाया नहीं जाता, क्योंकि उत्तरभारतके पूर्व-में वङ्गदेश तथा पद्मा, ब्रह्मपुत्रा आदि बड़ी बड़ी नदियाँ हैं। और पश्चिम सीमामें पञ्जाब, सिन्धदेश और सिंधुनद तथा अन्यान्य नदियाँ हैं। इस कारण शास्त्रोक्त पूर्व्व कथित लक्षण घटानेपर केवल उत्तर भारतको आर्य्यावर्त्त नहीं कह सकते। पूर्व्वसमुद्र और पश्चिमसमुद्र द्वारा पूर्व्व पश्चिम सीमा समझी जानेपर भारतवर्ष अर्थात् पूरे हिंदुस्थानको ही आर्य्यावर्त्त करके मान सकते हैं। उत्तरमें हिमालयके होने और दक्षिणमें विन्ध्याचलके होनेके विषयमें उत्तर सीमाका तो मतभेद है नहीं, केवल दक्षिणमें विन्ध्याचलके होनेका रहस्य निर्णय होने योग्य है। यद्यपि इस समय भारतवर्षके बीचके पर्व्वतको ही विन्ध्याचल नामसे पुकारते हैं, परन्तु जिस प्रकार नीलपर्व्वत भारतवर्षके कई स्थानोंमें है और पुराणोंमें भी नीलपर्व्वतका भारतवर्षके कई स्थानोंमें होना पाया जाता है और अब भी उड़ीसामें, दक्षिण भारतमें और हरिद्वारके निकट, इन तीन स्थानोंमें नीलपर्वतके नामसे पर्व्वत विद्यमान हैं; ठीक उसी ढंगपर भारतवर्षके मध्यपर्व्वतको विन्ध्याचल कहते हैं और दक्षिण समुद्रके निकटवर्त्ती

स्थानोंमें भी विन्ध्य नामका पर्व्वत विद्यमान है। यदि यह सिद्धान्त स्थिर माना जाय कि आर्य्यावर्त्तकी सीमा कहते समय महर्षियोंने भारतकी दक्षिण सीमाके विन्ध्यपर्व्वत नामक शिखरको ही लक्ष्य किया है तो अति सुगमतासे समग्र हिंदुस्थानको आर्य्यावर्त्त करके निश्चय कर सकते हैं और समग्र भारतवर्ष अर्थात् हिंदुस्थानको ही आर्य्यावर्त्त करके माननेमें सब प्रकारकी सुविधा भी है। और शास्त्रोक्त पूर्व और पश्चिम समुद्रकी भी मीमांसा ठीक ठीक हो सकती है।

सरस्वती और दृषद्वती नाम्नी दोनों देवनदियोंके बीचमें जो देवनिर्मित देश है उसका नाम ब्रह्मावर्त्त देश है। कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पाञ्चालदेश और मथुरादेश ब्रह्मावर्त्तके मध्यवर्ती ये देश ब्रह्मर्षि देश कहलाते हैं। सृष्टिका आदि विकाश इसी देशमें हुआ है, सृष्टिकी प्रथम दशामें जो ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे सो इसी देशमें उत्पन्न हुए थे और इन्हींसे आचार, व्यवहार और चरित्रका आदर्श संसारमें सर्वत्र व्याप्त होना चाहिये; और सो हुआ भी था। क्योंकि पाश्चात्य पण्डितोंके सिद्धान्तानुसार पूर्ण पुरुष आर्य्यगणको ही ज्ञानकी ज्योति समस्त संसारमें फैल गई थी सो आजतक उन देशोंमें प्रकाशको दे रही है। और श्रीभगवान् मनुजीके ऊपर कथित वचनोंका भी यही तात्पर्य है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है:—

तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्।

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है। देवता लोग कर्मके प्रेरक हैं, इसलिये देवयज्ञके द्वारा जो दैवीशक्ति उत्पन्न होती है उसीसे कर्मानुसार सृष्टि-प्रवाह चलता है और वह शक्ति जब कुरुक्षेत्रमें ही प्रथम विकाशको प्राप्त हुई थी तो प्रथम सृष्टिका विकाश कुरुक्षेत्रमें ही हुआ था इसमें कोई भी संदेह नहीं है। इसलिये गीताजीमें भी भगवान्ने कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहा है। जाबालोपनिषद्में लिखा है: —

यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्।

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है तथा समस्त जीवोंका आदि उत्पत्तिस्थान है। सृष्टिके आदिकालमें पूर्णपुरुष आर्य्यगण भारतके इसी स्थानमें उत्पन्न होकर समस्त आर्य्यावर्त्तमें विचरण करते थे, उनके रहनेके कारण इस भूमिका नाम आर्य्यावर्त्त हुआ है। शास्त्रोंमें लिखा है:—

आर्याः श्रेष्ठा आवर्त्तन्ते पुण्यभूमित्वेन वसंत्यत्र इति आर्यावर्तः।

पुण्यभूमि होनेके कारण पूर्णपुरुष आर्यगण यहांपर निवास करते थे इसलिये इस भूमिका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। कुल्लूक भट्टजीने आर्यावर्त्त शब्दका यह अर्थ किया है:—

आर्या अत्राऽऽवर्त्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्त्तः।

आर्यगण इस स्थानमें पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं इसलिये इस स्थानका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। आर्यगणके आदिग्रन्थ वेदमें इन सब विषयोंका बहुधा वर्णन देखनेमें आता है। यथा ऋग्वेदमें:—

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।

गंगा यमुनाके संगमस्थलमें प्राणत्याग होनेसे ऊर्द्ध्वगति होती है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा भारतवर्ष ही आर्यगणकी आदि निवासभूमि है यह बात स्पष्ट रूपसे सिद्ध होती है। इस विषयमें पण्डित मुयर साहबनेअपने संस्कृत टेक्स्ट (Sanskrit Text) में कहा है "आर्यलोग कभी पश्चिम देशसे इस देशमें नहीं आये हैं, किन्तु आर्यगणके वंशसे ही पश्चिमदेशकी अनेक सभ्यजाति उत्पन्न हुई थी। उत्तर या उत्तर पश्चिम देशसे भी आर्यगण भारतमें नहीं आये हैं, क्योंकि प्राचीनकालमें पश्चिममें कोई सभ्यजाति रहती थी जिनसे आर्यगणकी सभ्यता तथा धर्मकी उत्पत्ति हुई है ऐसा प्रमाण भाषातत्त्वके इसिहासमें कहीं नहीं मिलता है। किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थमें प्रमाण नहीं मिलता है कि विदेशीय किसी जातिसे प्राचीन आर्यगण उत्पन्न हुए हैं अथवा भारतके सिवाय और कहीं आर्योंका निवास था"। अतः वेदादि शास्त्रीय प्रमाण तथा विचारके द्वारा निश्चय हुआ कि आर्यजातिके देशान्तरसे आनेके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंने जो कुछ कल्पना की है सो सर्वथा उनकी मिथ्या कपोल-कल्पना मात्र है इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है।

अब जब विज्ञान तथा शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा सिद्धांत हो गया कि आर्यजातिका आदि स्थान भारतवर्ष ही हो सकता है, यह जाति और कहीं उत्पन्न होकर यहां नही आई है तो इसी सिद्धांतपर प्रतिष्ठित होकर अर्वाचीन पुरुषोंके कल्पनाजालपर विचार करनेसे सहज ही उनके मिथ्यात्वके विषयमें निश्चय हो जायगा। इसलिये अब उनकी युक्तियोंपर एक एक करके विचार किया जाता है। उनका पहिला कहना यह है कि आर्यगण मध्यएशियामें कास्पियन हृदके किनारेपर बसते थे और पश्चात् वहींसे यहां आगये। इस प्रकार कल्पनाकी पुष्टिमें वे युक्ति देते हैं कि ऋग्वेदमें मध्यएशियाके नद नदी और नगर ग्राम-

के नाम देखनेमें आते हैं, वहांके लोग वेदमें वर्णित आर्योंकी तरह श्वेतवर्ण होते हैं और वहांके प्राचीन देवदेवियोंके नामके साथ आर्यशास्त्रोक्त देवदेवियोंके नाम मिलते हैं। थोड़े विचारसे ही सिद्ध होगा कि अर्वाचीन पुरुषोंकी इस प्रकारकी युक्तियाँ नितान्त सारहीन अकिञ्चित्कर हैं। यदि वेदमें मध्यएशिया-के नदनदीके नाम देखनेसे ही आर्यगणका मध्यएशियामें रहना स्थापित हो जाय तो वेदमें गंगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, वितस्ता आदि नदनदियोंके नाम देखनेसे भारतवर्षमें रहना सिद्ध क्यों न होगा ? पहले ही प्रमाण दिया जा चुका है कि गंगा, यमुना, आदि नदनदियोंके अनेक वर्णन वेदमें मिलते हैं। अतः नामको देखकर आदि वासस्थान निर्णय करना सर्वथा अयौक्तिक है। सामान्य दृष्टान्तसे ही समझ सकते हैं कि यदि अंग्रेजोंके किसी इतिहास या भूगोल ग्रन्थ में कामस्कट्काके किसी शहरका नाम मिल जाय तो क्या इससे यह सिद्धान्त करना होगा कि अंग्रेजोंके आदि पुरुष कामस्कट्कामें वास करते थे ? यह सिद्धान्त नितान्त हास्यजनक है। इससे यह सिद्धान्त ठीक होगा कि यहांके लोग वहाँ जाकर अपना आधिपत्य विस्तार करते थे, इसलिये इनके इतिहास तथा भूगोलमें उस देशके नाम आगये हैं। इसी दृष्टान्तके अनुसार वेदमें और देशोंके नाम देखकर आर्यजाति और देशकी थी, यहाँ आ गयी है। इस प्रकार सिद्धान्त करनेकी अपेक्षा ऐसा कहना बेहतर होगा कि आर्यजाति पूर्व कालमें पृथिवीकी अधीश्वरी थी और इसलिये उसका आधिपत्य-विस्तार पृथिवीके सर्वत्र था। आर्य्यगण सकल स्थानोंमें आया जाया करते थे इसलिये उनके ग्रन्थोंमें पूर्वोक्त नाम पाये जाते हैं। आर्यजातिके अन्यान्य ग्रंथोंमें और देशोंके नाम देखकर ऐसा सिद्धान्त भले ही किया जाय परन्तु वेदमें मध्य एशियाके या और किसी प्रदेशके नदनदियोंके नाम देखकर ऐसा सिद्धांत कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि वेद यदि किसीके बनाये ग्रंथ होते तो आर्यजाति-के भिन्न देशमें जानेके साथ ही साथ उन देशोंके नाम या तत्रत्य नदनदियोंके नाम वेदमें आ गये हैं ऐसा कहना ठीक होता। परंतु वेद ऐसा मनुष्यकृत ग्रन्थ नहीं है। पूर्व खण्डमें वेदके अध्यायमें यह बात सिद्ध हो चुकी है कि वेद ईश्वरकृत और ज्ञानरूप हैं। ऋषिलोग वेदके कर्त्ता नहीं किंतु द्रष्टा मात्र हैं। इसलिये आर्यजाति वहींपर जा बसी और वहांकी बातें वेदमें लिख दीं ऐसा नहीं हो सकता है। वेदमें मध्यएशिया स्थित नदनदियोंके नाम अथवा गङ्गा यमुना आदि भारत स्थित नदनदियोंके नाम आनेका कारण यह है कि वेद ज्ञानरूप और पूर्ण ग्रंथ है। इसलिये संसारभरकी बातें तथा देशदेशान्तरोंके

नाम उसमें आ जाते हैं। जब प्रकृतिसे अतीत परमात्माका अटल सिद्धान्त वेदमें स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है तो पृथिवीके सामान्य देश, ग्राम, नगर या नदनदियोंके दो चार नाम बताना वेद जैसे पुस्तकके लिये क्या बड़ी बात है। वेद त्रिकालदर्शी होनेसे इसमें अतीत, वर्त्तमान या भविष्यत्में होनेवाली सभी बातें या सभी देशदेशान्तरोंके नाम या घटनायें यथावत् लिखी जा सकी हैं। यही कारण है कि वेदमें और देशके नदनदियोंके नाम पाये जाते हैं। मोक्षमूलर आदि पाश्चात्य मनीषिगण सभी एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि वेद ही समस्त पृथिवीका आदि ग्रंथ है, और यह भी सभीने स्वीकार किया हुआ है कि भारतवर्ष ही वेदका आदि विकाश स्थान है। अतः सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद जब भारतका आदि ग्रन्थ है तो वैदिक आर्यजातिकी आदि वास-भूमि भारतवर्ष ही होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है? आर्यगण श्वेताङ्ग पुरुष थे, भारतवर्षमें श्वेताङ्ग पुरुष नहीं मिलते हैं, काकेशियामें मिलते हैं, इस-लिये आर्यगण काकेशियासे आये हैं, इस प्रकार युक्ति जो लोग देते हैं उन्होंने सर्वत्र परिभ्रमण करके पुरुषोंको देखा नहीं होगा या यथार्थमें श्वेत-वर्ण कैसा होता है इसका उन्हें परिज्ञान नहीं होगा। आर्यशास्त्रोंमें ब्राह्मणोंका वर्ण श्वेत लिखा है सो हिमाचल और विन्ध्याचलके बीचमें और पश्चिम तथा पूर्व समुद्रके बीचमें जो आर्यब्राह्मण रहते हैं उनका वर्ण आज भी बहुधा श्वेत ही है, अन्य वर्ण नहीं है। और जहां कुछ विशेष अन्यथा है वहां विशेष ऋतु भेद तथा कालके प्रकोपसे परम्परागत धर्मके ही परिवर्त्तनका फल है, इससे वैदिक सिद्धान्तमें कोई भी विरोध नहीं पड़ता है। और काकेशिया तथा पाश्चात्य देशके मनुष्योंके वर्णके विषयमें जो कहा जाता है सो वर्ण-ज्ञानके अभावका ही परि-चायक है। क्योंकि सिवाय भारतके अन्य देशोंके लोग यथार्थ श्वेतवर्ण नहीं होते किन्तु विकृत श्वेतवर्ण हुआ करते हैं। उनका रंग देखनेसे सभी लोग ऐसा कहेंगे। इससे यह भी युक्ति अकिञ्चित्कर प्रतीत होती है। तृतीयतः देव देवी अथवा भाषागत शब्दोंके नामका मेल देखकर जो लोग मध्यएशियामें आर्यजातिका वासस्थान निर्देश करना चाहते हैं अथवा संस्कृत-भाषाके साथ जर्मन-भाषा-का कहीं कहीं सादृश्य देखकर पोलएड या स्कारिडनेमियामें आर्योंका आदि वासस्थान बताना चाहते हैं उनकी युक्ति भी ऐसी ही मिथ्या है। कोई जाति जब एक देशसे जाकर और किसी देशमें अधिकार विस्तार करती है तो इससे उस जातिके देशका गौरव तथा स्मृतिचिन्ह लुप्त नहीं होता है। उलटे इस प्रकार अधिकार विस्तारके द्वारा अपने देशका गौरव बढ़ता ही है।

दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि, आजकल अंग्रेज आदि अनेक जातियाँ प्रभावशालिनी होकर भिन्न भिन्न देशोंमें आधिपत्य स्थापन कर रही हैं। क्या इससे इङ्गलैण्ड आदि देशोंका गौरवह्रास हो रहा है यह कहना पड़ेगा ? कदापि नहीं, बल्कि इससे उन देशोंकी गौरववृद्धि हो रही है ऐसा सिद्धान्त प्रत्यक्ष होगा। इसी प्रकार जब भारतवर्षमें वेदसे लेकर समस्त विषयमें आर्यजातिका गौरव परिस्फुट है और अन्य देशोंमें केवल दो चार नामोंका उल्लेख पाया जाता है तो यह सिद्धान्त करना युक्तियुक्त होगा कि आर्यगण और किसी देशसे नहीं आये थे। भारतही आर्योंका आदि वासस्थान है जहांपर इनकी गौरव-पताका फहरा रही है। और इसी देशसे पृथ्वीकी अधीश्वर आर्यजाति विजयपताका फहराती हुई पृथ्वीमें जहां जहांपर गई थी, वहां अब विजयपताका नष्ट होनेसे केवल आर्यभाषाके कुछ शब्द तथा देवदेवियोंके नामका मेलही रह गया है, जिससे आदि वासस्थानके विषयमें इतने सन्देह उत्पन्न हो रहे हैं। विदेशमें अधिकारविस्तार होनेसे स्वदेशका गौरव बढ़ता ही है; घटता नहीं। सृष्टिके आदिकालसे पृथिवीके विशाल वक्षमें विराजमान पृथ्वीपति आर्यजातिके विषयमें ऐसा ही हुआ है, जिससे भारतमें जगद्गुरु आर्यजातिका गौरव प्रतिष्ठित है और अन्य देशोंमें प्राचीन अधिकार विस्तारके स्मृतिचिह्न आज भी विद्यमान हैं। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका कल्पनाजाल खण्ड विखण्ड हो गया। पहले ही कहा गया है कि 'ऋ' धातुका अर्थ गमन या व्याप्ति होनेसे जिसने पृथ्वीमें सर्वत्र गमन करके अपना अधिकार विस्तार किया था वही आर्यजाति है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित होता है। आर्यजातिके प्राचीन इतिहासपर मनन करनेपर भी इन विषयोंका पता लगता है। शास्त्रमें लिखा है कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रतने पृथ्वीको सप्तद्वीपमें विभक्त किया था। यथाः—जम्बु, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शाक, शाल्मली और कुश। इन्हीं सप्तद्वीपोंके अन्तर्गत आजकलके एशिया, युरोप आदि महादेश हैं। राजा प्रियव्रतने इन्हीं सप्तद्वीपोंको अपने पुत्रोंके लिये विभक्त कर दिया था। अतः आर्यशास्त्रके अनुसार प्राचीन कालमें ये ही सप्तद्वीप आर्य राजाओंके अधिकारभुक्त थे, आर्य इतिहाससे यही सिद्धान्त निकलता है। प्रसिद्ध प्राचीन तत्त्ववेत्ता पण्डित ब्रुगस्वे साहबने कहा है कि अति प्राचीन कालमें सुयेज क्यानल पार होकर आर्यजातिके एक दलने नील नदके तीरपर उपनिवेश स्थापन किया था। कर्नेल अलकाट साहबने कहा है कि भारतवर्षसे ही आर्यगणोंने मिशर (Egypt) देशमें जाकर अपनी सभ्यता और शिल्पकलाका विस्तार किया था। कुरुक्षेत्रके युद्धके पहले पाण्डवोंने

दिग्विजय करते हुए जिन जिन देशोंपर अधिकार स्थापन किया था महाभारतके सभापर्वमें उन सभोंका वर्णन है। प्रथम यात्रामें चीन, तिब्बत, मङ्गोलिया, पारस्य आदि देश और द्वितीय यात्रामें अरब, मिश्र आदि देशोंपर अपनी विजयपताका पाण्डवोंने फहराई थी। सगर राजाने भी दिग्विजयके लिये निकलकर भारत महासमुद्रस्थित समस्त द्वीपोंपर अधिकार जमाया था, यह वृत्तान्त भारतके आदिपर्वमें लिखा है। यहांतक कि उत्तर मेरु देशमें भी आर्यौंका जाना आना था। महाभारतके वनपर्वमें पाण्डुराजाने कुन्तीको उत्तर मेरुमें स्त्री जातिकी अवस्थाके विषयमें वर्णन किया है कि उसी देशकी स्त्रियां नग्न रहती हैं इत्यादि। इसके सिवाय ऋग्वेदमें भी सुदास और भुज्यु राजाके दिग्विजयका वृत्तान्त लिखा है। अतः वेद आदि हिन्दुशास्त्र तथा पाश्चात्य पण्डितोंके सिद्धान्तानुसार निश्चय हो गया कि आर्य राजागण पृथ्वीमें सर्वत्र ही विचरण तथा राज्यस्थापन करते थे। जहां जहां उनका अधिकार विस्तार होता था वहांके लोगोंमें उनका प्रभाव अवश्य ही जमता था और उस देशकी भाषामें आर्यभाषाके शब्द आ जाया करते थे। क्योंकि जेता जातिके साथ विजित जातिका इस प्रकार भाषा और भावका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। आजकल भारतपर अङ्गरेज जातिका अधिकार है जिससे यहांकी भाषा तथा जातिगत भावोंके ऊपर आंग्लभाषा और भावोंका बहुत ही प्रभाव पड़ गया है। उसी प्रकार प्राचीनकालमें आर्यजातिकी भाषाका और भावोंका बहुत ही प्रभाव पृथ्वीकी अन्यान्य जातियोंपर था। अब कालचक्रकी विपरीत गतिके कारण आर्यजातिका वह प्रभाव नष्ट हो गया है। इसलिये उन देशोंमें इनका अधिकार भी विलुप्त हो गया है। केवल स्मृतिरूपसे भाषा आदिका कहीं कहीं सादृश्य देखनेमें आता है। यही कारण है कि मध्यएशिया, पोलण्ड आदि प्रदेशोंमें आर्यभाषाके शब्द, नाम और देवदेवियोंकी संज्ञा देखनेमें आती हैं। आर्यजातिके प्राचीनत्वके विषयमें यही सत्य सिद्धान्त है जिसको बुद्धिमान लोग विचारके द्वारा निर्णय कर सकते हैं। संस्कृतभाषाके साथ जर्मन, स्काण्डिनेविया, पोलण्ड आदि देशोंकी भाषाका सादृश्य और भी निम्न लिखित दो कारणोंसे हो सकता है। जिस समय पृथ्वीके अधीश्वर आर्यराजागण सर्वत्र अपना अधिकार विस्तार करके सर्वत्र ही वास करते थे, उस समयसे क्रमशः उनमेंसे बहुत लोग उन देशोंमें अपना स्थायी वासस्थान बनाने लगे। पश्चात् जब आर्यजातिका गौरव पृथ्वीके अन्यान्य प्रान्तोंमें नष्ट होकर केवल भारतवर्षमें ही रह गया तब जो लोग अन्यान्य देशोंमें बस गये थे उनका सम्बन्ध आर्यजातिके

साथ नष्ट हो गया। वे सब उधर ही रहकर धीरे धीरे अपने आर्यजातीय आचार व्यवहारसे गिर गये और अन्य जाति कहलाने लगे। परन्तु उनकी भाषा आर्य भाषा होनेके कारण यद्यपि नवीन भाव और जीवनके साथ उसमें कुछ परिवर्तन हो गया तथापि पूर्ण परिवर्तन नहीं हो सका। यही कारण है कि भारतके सिवाय अन्यान्य देशोंकी भाषाओंमें भी संस्कृत भाषाके साथ सादृश्य देखनेमें आता है। इस प्रकार क्रियालोपसे भिन्न जाति बननेके विषयमें मनुजीने भी कहा है:—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पन्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥
मुखबाहूरुपाज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥

उपनयन आदि क्रियालोप और वेदाध्ययनाध्यापनके अभावसे नीचे लिखि हुई जातियोंने क्रमशः शूद्रत्व और म्लेछत्व प्राप्त किया है। यथा पौंड्रक, औंड्र, द्रविड्, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पन्हव, चीन, किरात, दरद और खश। ब्राह्मणादि चार वर्णोंके बीचमेंसे क्रियालोपके कारण जो लोग बहिष्कृत होकर नामसे जाति कहलाते हैं वे आर्यभाषा बोलें या म्लेछभाषा बोलें इनकी गणना दस्युओंमें होती है। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म्मोक्त क्रियालोप होनेके कारण प्राचीन आर्यजातियोंमेंसे बहुत जातियां बन गई हैं और पृथ्वीके देश देशमें उनका वास-स्थान हुआ है। महाभारतमें वर्णित है कि महाराजा ययातिने अपने कई पुत्रोंको भारतवर्षसे निर्वासित किया था और राजा सगरने अपनी प्रजाओंमेंसे बहुत लोगोंको भारतवर्षसे निकाल दिया था। ऋग्वेदमें सुदास राजाके विषयमें भी ऐसी बातें देखनेमें आती हैं कि उन्होंने अपने राज्यस्थ अनेक विद्रोही मनुष्योंको परास्त करके राज्यसे निकाल दिया था। इस प्रकारसे और पूर्वोक्त अनेक प्रकारसे भारतवर्षसे आर्यगण अफ्रिका, यूरोप और अमेरिकाके अनेक स्थानोंमें जा बसे हैं। कालक्रमसे उनके आचार व्यवहार और प्रकृति अन्यरूप हो जानेपर भी बहुत सी बातें अब भी मिलती हैं और भाषाका मेल भी इसी कारणसे पाया जाता है। संस्कृत भाषासे लाटिन्, ग्रीक्, जर्मन् आदि भाषाओंके मेल होनेका द्वितीय कारण संस्कृत भाषाकी मौलिकता है। संस्कृत भाषा और देशोंकी भाषाओंकी तरह अस्वाभाविकरूपसे बनी हुई भाषा नहीं है। संस्कृत भाषा

प्रकृतिके कम्पनसे उत्पन्न प्राकृतिक नादोंसे बनी हुई भाषा है। प्रकृतिके स्पन्दन द्वारा प्रलयान्तमें जब सृष्टि होने लगती है उस समयका प्रथम कम्पनजनित शब्द ॐ है। इसलिये ॐही सकल शब्दोंका मूल आर्यशास्त्रोंमें माना जाता है (ओंकार-के विषयमें विस्तृत वर्णन अगले अध्यायोंमें किया जायगा) और इसके पश्चात् उसी मूल शब्दसे प्रकृतिके अनन्त कम्पन द्वारा अनन्त शब्दोंकी सृष्टि हुई है। उन्हीं प्राकृतिक शब्दोंकी समष्टि संस्कृत भाषा है और अन्य देशीय समस्त भाषाएँ इसी प्रकृतिकी विकृतिसे उत्पन्न हुई हैं। जब विकृति प्रकृतिमूलक है और उसी प्रकृतिसे संस्कृत भाषा बनी है तब विकृतिसे उत्पन्न समस्त भाषाओंके मूलमें संस्कृत भाषा ही होगी इसमें कोई संदेह नहीं है। यही कारण है कि संसारकी समस्त भाषाओंके मूलमें (Root) संस्कृत भाषा देखनेमें आती है और जर्मन आदि भाषाओंके साथ संस्कृतका मेल रहनेके येही सब कारण हैं। आर्यजातिका पोलण्ड आदि स्थानोंसे भारतमें आना इसका कारण नहीं है। वेदमें दीर्घकालव्यापी रात्रि और दिन तथा अधिक शीतका वर्णन है इस कारण आर्यगण उत्तरमेरुमें वास करते थे, इस प्रकार जो लोग कल्पना करते हैं उनकी भी कल्पना उपर्युक्त कारणोंसे कपोलकल्पनामात्र प्रतीत होती है। वेद पूर्ण और भगवद्वाक्य होनेसे उसमें संसारकी सभी बातें रहेंगी इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है? अतः वेदमें इन बातोंके देखते ही इस प्रकार कल्पना कर डालना ठीक नहीं प्रतीत होता। वेदकी बातही क्या, जब महाभारतके वनपर्वमें पाण्डु राजाकी कुन्तीके प्रति जो उक्ति है, उसके द्वारा यह सिद्ध होता है कि महाभारत जैसे इतिहासमें भी उत्तरमेरुका वर्णन है, जिससे आर्यगण उत्तरमेरुमें भी जाया आया करते थे ऐसा निश्चय होता है; तो भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानको नेत्रके सामने रखनेवाले वेदमें उत्तरमेरुका वर्णन है इसमें असम्भावना ही क्या हो सकती है? पारसी जातिके जेन्दा आभेस्ता ग्रन्थमें आर्यगणका स्वर्ग उत्तरमेरु है ऐसा जो वर्णन पाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रमात्मक है। हिंदुशास्त्रोंमें स्वर्गको अनन्त सुखका स्थान कहा है, यथाः—

"सुसुखः पवनः स्वर्गे गंधश्च सुरभिस्तथा"
"यन्न दुःखेन संभिन्नम्"।

इस प्रकारसे स्वर्गलोक अतीव आनन्दमय है, वहां दुःखका लेशमात्र नहीं है ऐसा वर्णन किया गया है। परन्तु जहां छः छः महीने तक सूर्यका मुख देखनेमें न आवे और मारे ठण्डके प्राण निकल जाय वह स्थान उपर्युक्त

लक्षणयुक्त स्वर्ग कैसे हो सकता है सो बुद्धिमान् लोग सोच सकते हैं। स्वर्गलोक ऊर्द्ध्वलोक होनेसे वहां प्रकाशका अधिक होना शास्त्र तथा विज्ञान-सिद्ध है। अतः स्वर्गमें छः महीने दिन और छः महीने रात्रि नहीं हो सकती है और पृथ्वीकी गति जाननेवाले लोग जानते हैं कि विषुव रेखाके उपरिस्थित और निकटवर्त्ती देशोंमें ही सूर्यरश्मि अधिक पड़ती है। इससे उत्तरकी तरफके देशोंमें उत्ताप होनेसे शीत अधिक होता है इसलिये उत्तरमेरुमें अधिक शीत होना प्राकृतिक है। वहांपर कभी चिरवसन्त विराजमान था और संसारके श्रेष्ठ पुरुष आर्यगण वहां रहते थे, पश्चात् शीत अधिक होनेसे वहांसे भागे ऐसा सिद्धान्त न भूगोल विद्या ही कह सकती है और न हिंदू शास्त्रमें ही स्वर्गका ऐसा लक्षण पाया जाता है। यदि स्वर्गकी ऐसी दुर्दशा हो तो इतनी तपस्या और यज्ञ करके स्वर्गकी कामना कौन करेगा और भगवान् श्रीकृष्णचंद्र भीः—

"अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्"

इस प्रकारसे स्वर्गकी महिमा ही क्यों वर्णन करेंगे? अतः इस प्रकारकी कल्पना सर्वथा भ्रमयुक्त है। चतुर्द्दशभुवन और स्वर्गादि लोकोंका रहस्य अतिसूक्ष्म विज्ञानसे युक्त है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीन भावोंको जो नहीं समझते वे लोग इस विषयको नहीं समझ सकेंगे। (स्वर्गादि लोकोंका अतीन्द्रिय सूक्ष्म राज्यसे सम्बन्ध है जिसका विस्तृत वर्णन एक स्वतन्त्र अध्यायमें कियां जायगा) जब वेदके वर्णनानुसार उत्तरमेरुकी दशा जो पहले थी, अब भी वही है तो आर्यगण वहांसे यहां क्यों आये? पहले वहांपर शीत कम था, बीचमें कुछ बढ़ गया और आजकल फिर पहलेकी तरह हो गया ऐसा कहना सत्य और वेदवर्णन-सङ्गत नहीं है और कभी ऐसा हो भी तथापि इससे आर्यगण वहां रहते थे ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है? वेदमें केवल शैत्याधिक्यका वर्णन नहीं है। वेदमें जिस प्रकार शीतका वर्णन है उसी प्रकार हेमन्त, शरत्, ग्रीष्म आदिका भी वर्णन है। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलमें शरद् ऋतुका, षष्ठ और पञ्चम मण्डलमें हेमंत ऋतुका, दशम मण्डलमें ग्रीष्म और वसंत ऋतुका और अनेक स्थानोंमें शीत ऋतुका वर्णन देखनेमें आता है। यदि वेदमें शीतका वर्णन देखते ही शीतप्रधान उत्तरमेरु आर्यजातिका आदिवासस्थान था ऐसा सिद्धांत करना हो तो वेदमें शरत्, हेमंत, वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंका वर्णन देखनेसे जिन जिन स्थानोंमें ऐसे ऋतु प्रधान हैं वहांपर भी आर्यजाति प्राचीन कालमें वास करती थी और वहांसे यहां आगई ऐसा कहना

पड़ेगा। इस प्रकारकी कल्पनाका फल यह होगा कि आर्य्यजातिके आदिवासस्थानके विषयमें कुछ निर्णय ही नहीं हो सकेगा। यदि वेदमें वर्णित ऋतुके विचारसे ही आर्यजातिका आदिवासस्थान निर्णय करना हो तो धीरमस्तिष्क होकर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि जब वेदमें सभी ऋतुओंका वर्णन देखनेमें आता है तो जहांपर सभी ऋतु भ्रातृभावसे विराजमान हैं, पूर्ण प्रकृतियुक्त वही देश पूर्णप्रकृति आर्यगणका आदिवासस्थान है और ऐसा सकल ऋतुओंसे युक्त पूर्णप्रकृतिशाली भारत ही है, अन्य देश नहीं हो सकता। अतः विचार, शास्त्रीय प्रमाण, इतिहास, भूगोलादि सभीके अवलम्बनसे सिद्धान्त हुआ कि भारतवर्ष ही आर्यजातिका आदिवासस्थान है। इसके सिवाय कुछ अर्वाचीन पुरुषोंने जो तिब्बतसे आदिसृष्टि मानी है सो प्रमाण और विचारोंसे हीन होनेके कारण सर्वथा मिथ्या है। तिब्बत शीतप्रधान स्थान है। वहां छओं ऋतुओंका विकाश न होनेसे वह भूमि पूर्ण प्रकृतियुक्त नहीं है। अतः पूर्व कहे हुए विज्ञानके अनुसार अपूर्ण प्रकृतियुक्त स्थान तिब्बतमें पूर्ण प्रकृतियुक्त आर्यगण प्रथम उत्पन्न ही नहीं हो सकते। मध्यएशिया आदिसे आनेके विषयमें जो कुछ युक्ति काई कोई लोग देते हैं, तिब्बतके लिये कोई भी ऐसी युक्ति नहीं दी जा सकती। अतः प्रमाण और युक्तिसे हीन होनेके कारण यह कल्पना, सर्वथा परित्याज्य है और तिब्बत शब्दको त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्गका अपभ्रंश कहकर स्वर्गसे देवप्रतिम आर्योंकी उत्पत्ति बताना भी भ्रमयुक्त ही है क्योंकि पूर्वसिद्धान्तानुसार आर्यगण ही आदिसृष्टिमें उत्पन्न होनेसे त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्गसे आदि सृष्टि मानना विज्ञान और शास्त्रसंगत नहीं है। मनु संहितामें लिखा है:—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥
ताभ्याञ्च शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च शाश्वतम्।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च निर्ममे॥

भगवान् ब्रह्माजीने सकल सृष्टिके अधाररूप अण्डमें एक वर्ष तक रहकर उसे ध्यानबलके द्वारा द्विधा विभक्त किया। उसके ऊपरके खण्डसे स्वर्ग आदि लोक और नीचेके खण्डसे पृथ्वी आदि लोकोंकी उत्पत्ति की। इस प्रकार सृष्टिके प्रथम स्वर्गादि लोक और पृथिव्यादि लोक उत्पन्न होनेके बाद स्वर्गादिमें दिव्यसृष्टि और पृथिव्यादिमें मनुष्यसृष्टि प्रारम्भ होती है और

उसी मनुष्यसृष्टिमें पूर्ण मानव आर्य ऋषिगण हैं; जिसका प्रमाण पहले ही दिया जा चुका है। अतः तिब्बतको त्रिविष्टप अर्थात् स्वर्ग कहकर वहांसे मनुष्यसृष्टिका वर्णन करना मिथ्या कपोल कल्पना मात्र है, शास्त्रसङ्गत नहीं है। अन्ततः अर्वाचीन पुरुषोंका सकल कल्पना-जाल छिन्न होकर यह सिद्धान्त प्रगट हुआ कि आर्य्य-जातिका आदि निवासस्थान भारतवर्ष ही है।

प्रसङ्गोपात्त 'हिन्दु' शब्दके ऊपर विचार किया जाता है। हिब्रू भाषामें 'हन्दू' शब्दका अर्थ तेज, गौरव या शक्ति है। इस भाषाके 'एस्तार' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि राजा आहासुरेश हन्दूसे इथिओपिआ तक राज्य करते थे, अर्थात् उनके राज्यके एक प्रान्तमें भारतवर्ष और अन्य प्रान्तमें मिशर देश था। भारतवर्षको वे हन्दू अर्थात् गौरवान्वित राज्य कहा करते थे। जेन्दा आभेस्तामें हन्दू शब्दकी उत्पत्ति 'हिन्दव' से मानी गई है और यही ग्रीक भाषामें 'हन्दकोश' 'इन्दिकोश' और 'इण्डिकोश' आदि शब्द-रूपेण परिणत होता है और इसीसे हिन्दु वा इण्डिया शब्द बना है। अतः हिन्दु शब्दका अर्थ पवित्र गौरवान्वित जाति है और पारसियोंके अति प्राचीन ग्रन्थ जेन्दा आभेस्तामें जब हिन्दु जातिको गौरवान्वित जाति करके वर्णन किया है तब हिन्दु शब्दपर सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। किसी किसी आधुनिक ग्रन्थमें हिन्दु शब्दका निन्दनीय अर्थ लिखा है ऐसा कहकर आजकल जो लोग अपनेको 'हिन्दु' कहलानेमें संकुचित होते हैं उनकी ऐसी भ्रान्ति ऊपर लिखित प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे दूर हो जानी चाहिये। हिन्दु शब्द बहुत ही गौरवान्वित शब्द है और हिन्दु जाति करके आर्य जातिको ही समझना चाहिये। मेरुतन्त्रमें:—

हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।

हीनताके विरोधी उच्च गौरवान्वित जाति ही हिन्दु जाति है ऐसा कहकर हिन्दुजातिकी परम प्रतिष्ठा की गयी है और इसी सिद्धान्तके अनुसार इस ग्रन्थमें हिन्दु वा आर्य शब्द एकार्थवाचक रूपसे व्यवहृत हुए हैं।

भारत आकाशमें अज्ञानकी घनघटा आच्छन्न होनेसे ज्ञानसूर्य विलुप्तप्राय हो गया है इससे वर्तमान भारतवासियोंके हृदयसे उनके प्राचीन पितृपितामह पुण्यश्लोक आर्यगणकी गौरवस्मृति दिन प्रतिदिन नष्ट होकर नवीन विदेशीय जातिकी अकिञ्चित्कर गौरव कहानी उनके चित्तपर प्रभाव जमा रही है

जिसका यह विषमय फल देखनेमें आ रहा है कि स्वाधीन सन्धानप्रवृत्ति नष्ट होकर अनुकरप्रवृत्ति बढ़ रही है और इसीसे हिन्दु जातिका अधःपतन हो रहा है, इसलिये वर्त्तमान प्रबन्धमें प्राचीन आर्य्य गौरवकी स्मृति दिलाकर उसीके साथ आर्य्य और अनार्य्यकी पृथकता बताई जायगी। पाश्चात्य मनस्वी मोक्षमूलर साहबने कहा है कि "जो जाति अपने प्राचीन गौरव, इतिहास और साहित्यसे अपनेको गौरवान्वित नहीं समझती, वह अपने जातीय जीवनके प्रधान आश्रयको नष्ट कर डालती है। जिस समय जर्मन जाति राजनैतिक अवनतिके अन्धकूपमें निमग्न हो गई थी उस समय उसने उपायान्तर न देख कर अपने ही प्राचीन साहित्यपर दृष्टि डाली थी और उसी अतीतकी आलोचना द्वारा उसकी भावी आशालता फल फूलोंसे सुशोभित हो गई थी।"

जो जाति अपने प्राचीन पुरुषोंके गौरवको भूल जाती है या उनके प्रति दोष-दृष्टिपरायण हो जाती है, वह जातीय जीवनमें कदापि उन्नति नहीं कर सकती। दुर्भाग्य है हमारा कि हम अपने प्राचीन पुरुषोंकी जीवनचर्य्याको छोड़कर किसी विदेशीय जातिका अनुकरण करते हैं और उसीमें अपना गौरव और उन्नति समझते हैं। मनुसंहितामें लिखा है:—

येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

पिता, पितामह आदिके द्वारा प्रदर्शित पथ ही उत्तम पथ है। उसीके अवलम्बनसे कोई विपत्ति भी नहीं होती है। अतः अपनी उन्नतिके लिये हमें प्राचीन आर्य्य पुरुषोंकी सर्वतोमुखिनी महिमापर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये। आर्य्यजाति और उसके निवासस्थान भारतवर्षके विषयमें प्रोफेसर मोक्षमूलरने कहा है—"समस्त पृथ्वीमें यदि ऐसा कोई देश मुझे बताना हो जिसको प्रकृति-माताने धन ऐश्वर्य्य शक्ति और सौन्दर्य्यके द्वारा पूर्ण कर रक्खा है, यहांतक कि जिसे पृथ्वीमें स्वर्ग कहनेपर भी अत्युक्ति न होगी, तो मैं मुक्तकंठ होकर बता दूंगा कि वह देश भारतवर्ष है। यदि कोई मुझसे कहे कि किस आकाशके नीचे मनुष्य अन्तःकरणकी पूर्णता प्राप्त हुई थी और जीवन रहस्यके कठिन सिद्धान्तों-की मीमांसा हुई थी, जिसको प्लेटो तथा क्यान्ट जैसे दार्शनिक पुरुषोंके दार्शनिक ग्रन्थोंके पाठक भी जानकर ज्ञानवान् हो सकते हैं, तो मैं बता दूंगा कि वह देश भारतवर्ष है। यदि मैं अपनी आत्मासे पूछूं कि हम यूरोपवासी, जिनकी चिता-

शक्तिकी पुष्टि ग्रीक, रोमन तथा सेमेटिक जातिकी चिंताशक्ति द्वारा हुई है, अपने जीवनको पूर्ण उदार विश्वव्यापी और मनुष्यत्वपूर्ण बनानेके लिये तथा इस जीवनके सिवाय चिरजीवन तक पूर्णोन्नत बनानेके लिये किस देशके साहित्य और शास्त्रसे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं? तो मुझे यही उत्तर मिलेगा कि वह देश भारतवर्ष है। भाषा, धर्म, पुरावृत्त, दर्शनशास्त्र, आचार, शिल्प और विज्ञान कोई भी विषय मनुष्य जानना चाहे, सभीका अपूर्व अनुपम आदर्श प्रकृतिमाताके अनन्त भाण्डार भारतवर्षमें ही प्राप्त हो सकता है" आर्यजातिके प्राचीन इतिहासपर सोचनेसे प्रोफेसर मोक्षमूलरकी बातें अक्षरशः सत्य मालूम होती हैं। भारतवर्षके विषयमें कहा गया है:—

मन्ये विधात्रा जगदेककाननम् ।
विनिर्मितं वर्षमिदं सुशोभनम् ॥
धर्माख्यपुष्पाणि कियन्ति यत्र वै ।
कैवल्यरूपं च फलं प्रचीयते ॥

भारतवर्ष भगवान्‌का बनाया हुआ सुन्दर बगीचा है जिसमें, धर्मरूपी फूल और मुक्तिरूपी फल उत्पन्न होता है। जिस प्रकार सायन्स और शिल्पकलाकी उन्नतिसे आधिभौतिक उन्नति समझी जाती है उसी प्रकार ज्ञान और आत्मतत्त्वविज्ञानकी उन्नतिसे आध्यात्मिक उन्नति समझी जाती है। प्राचीन कालमें आर्य्यजाति आध्यात्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुंच गई थी, इसको सभी निरपेक्ष लोग स्वीकार करते हैं। जिस गंभीर आत्मतत्त्वकी खोजमें प्लेटो तथा सक्रेटिस जैसे मनीषी थक गये हैं और स्पेन्सरने ईश्वर तत्त्व जानना मेरी बुद्धिसे अतीत है ऐसा कह दिया है, वहांपर अपनी सूक्ष्म बुद्धि तथा अतीन्द्रिय दृष्टिको दौड़ाकर आत्मतत्त्वका पूर्ण अनुभव करना प्राचीन आर्य्यगणकी ही महती शक्तिका फल है जिसके कारण केवल भारतवर्ष ही नहीं, समस्त संसार उनका ऋणी रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक विज्ञान और आर्य्यजातिके दार्शनिक-विज्ञानकी, परस्पर तुलना करनेसे संक्षेपतः यही कहना यथार्थ होगा कि जहांपर अन्य देशोंका विज्ञान समाप्त हुआ है वहांसे आर्य्यजातीय दार्शनिक विज्ञान प्रारम्भ होकर अनन्त ज्ञान समुद्रमें जाकर विलीन हुआ है। जिस प्रकार ज्ञानकी पूर्णतासे पुरुषकी पूर्णता और मुक्ति होती है, उसी प्रकार पातिव्रत्यकी पूर्णतासे स्त्रीकी पूर्णता और मुक्ति होती है। इसलिये जिस देशकी स्त्रियोंमें सतीधर्मका पूर्णता देखनेमें आती है वही देश पूर्णोन्नत है इसमें अक्षरमात्र

सन्देह नहीं है। समस्त पृथ्वीमें केवल आर्यमाता भारतभूमि ही सतीत्वकी पूर्णता द्वारा विभूषित हुई थी, इस बातको सभी लोग एक वाक्य होकर स्वीकार करेंगे। आर्यरमणीका जीवन अपने सुखके लिये नहीं किन्तु पतिदेवताकी पूजाके लिये ही है इसलिये पतिदेवताका शरीर त्याग हो जानेपर आर्य्यरमणी एकाकिनी संसारमें नहीं रह सकतीं क्योंकि देवताका विसर्जन होनेपर नैवेद्यकी आवश्यकता क्या है? इसलिये आर्य्यशास्त्रमें सतीके लिये मृतपतिके साथ सहमृता होनेतककी आज्ञा दी गयी है। प्राचीनकालमें इस प्रकारकी आज्ञाका पूर्णतया प्रतिपालन हुआ करता था।

ऋग्वेदके दशम मण्डलमें अष्टादश सूक्तके अष्टम ऋक्‌में संकुशक ऋषिने पतिके वियोगसे कातरा सहगमनके लिये उद्यता किसी स्त्रीको लक्ष्य करके कहा है:-

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमितासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्त्ववेदं पत्युर्जनित्यमभिसम्बभूथा॥

हे स्त्री! संसारकी ओर लौट जाओ, उठो, तुम जिसके साथ सोनेको जा रही हो वह मृत हो गया है इसलिये उसके साथ तुम्हारा गर्भाधानादि कार्य समाप्त हो गया है। अब घरमें बाल बच्चोंको लेकर रहो। इस मन्त्रसे यही भावार्थ निकलता है कि स्त्री सहमरणमें जाना चाहती है और लोग उसे निवृत्त कर रहे हैं। राजा पाण्डुकी मृत्युसे माद्रीका सहमरण, इत्यादि आर्य्यरमणीकी पूर्णताके ज्वलन्त दृष्टान्त यहांपर ही मिलेंगे। अतः प्राचीन आर्यजातिकी आध्यात्मिक उन्नतिकी पूर्णता सर्ववादि सम्मत है।

प्राचीन आर्य-जातिमें मानसिक उन्नति कितनी हुई थी? आर्यजातिके व्यावहारिक जीवनपर पर्यालोचना करनेसे उसका स्वरूप पूर्णतया प्रकट होगा। जहांपर हरिश्चन्द्र जैसे महात्मा सत्यरक्षाके लिये राज्य, धन, स्त्री पुत्र तकको उत्सर्ग करके चाण्डालका दासत्व कर सकते हैं, जहांपर शरणागत पक्षी तककी रक्षाके लिये शिविराजा अपने शरीरको खण्ड २ करके काट दे सकते हैं, जहां पर आसुरी शक्तिको दमन करनेके लिये महर्षि दधीचि अपने अस्थि तकको प्रदान कर सकते हैं, जहांपर मयूरध्वज जैसे गृहस्थ अतिथिसत्कारकी पराकाष्ठाका आदर्श स्थापन करनेके लिये स्त्री-पुरुष मिलकर अपने बालकके शरीरके सिरसे पैरतक दो टुकड़े कर सकते हैं, जहांपर पितृ-सत्य-प्रतिपालनके लिये श्रीरामचन्द्र जटा धारण करके वनवासी हो सकते हैं, जहां पर पिताकी तृप्तिके लिये भीष्मदेव आजीवन ब्रह्मचारी रह सकते हैं, जहांपर

समस्त राज्यसे च्युत होकर वनवास क्लेश सहन करनेपर भी महाराज युधिष्ठिर सत्यकी मर्यादाको नहीं भूल सकते हैं, वहांकी जातियोंमें मानसिक, नैतिक तथा चरित्रसम्बन्धीय कितनी उन्नति हुई थी सो सामान्य पुरुष भी विचार कर निर्णय कर सकेंगे। प्राचीन आर्यजातिकी उदारता, सरलता, सत्यप्रियता, साहसिकता, शिष्टाचार, सदाचार, दया, परोपकारवृत्ति आदि सभी दैवी सम्पत्तियां संसारमें आदर्शरूप हैं। मनुजीने अपनी संहितामें लिखा हैः—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

भारतमें उत्पन्न आर्यब्राह्मणोंके पाससे ही पृथिवीकी अन्यान्य जातियोंको चरित्रका आदर्श ग्रहण करना चाहिये। इसकी पूर्णता भारतके इतिहास पाठ करनेसे मालूम होती है। केवल मनुजीकी ही बात नहीं, अनेक विदेशीय भारत-भ्रमणकारी लोगोंने भी आर्य्यजातिके अपूर्व चरित्र और मानसिक उन्नतिके विषयमें हाथ उठाकर बारबार ऐसा ही कहा है। पाश्चात्य पण्डित चलारने सत्यधर्मको सकल धर्मसे श्रेष्ठ कहा है और हिन्दुशास्त्रमें—

नाऽस्ति सत्यात्परो धर्म्मः।

कहकर सत्यकी ही प्रतिष्ठा की है। आर्यजातिकी सत्यवादिताके विषयमें द्वितीय शताब्दिके ऐतिहासिक एरियान साहब आदिने भी कहा हैः—"मैंने कभी किसी आर्य्यको मिथ्या कहते हुए नहीं सुना है।" ग्रीक ऐतिहासिक ष्ट्रावोने कहा हैः—"आर्यगण ऐसी उत्तम प्रकृतिके मनुष्य हैं कि चोरीके भयसे उनके दरवाजेपर ताला नहीं लगाना पड़ता और उन्हें किसी कार्यके लिये इकरार नामा नहीं लिखना पड़ता है।" चीन देशीय प्रसिद्ध भ्रमणकारी हुयेनसांने कहा हैः—"सच्चरित्रता वा सरलताके लिये आर्यजाति चिरकालसे प्रसिद्ध है। वे लोग कभी अन्यायसे किसीकी धन सम्पत्ति आत्मसात् नहीं करते और न्यायकी मर्यादा-रक्षार्थ त्याग स्वीकार करनेमें कुछ भी कुण्ठित नहीं होते।" त्रयोदश शताब्दिके भ्रमणकारी मार्कोपोलोने भारतवर्षीय ब्राह्मणोंकी सत्यनिष्ठाको देखकर कहा था कि पृथ्वीमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके लोभसे ब्राह्मण मिथ्या भाषण कर सकता है। विचारपति कर्नल श्लिम्यान् साहबने कहा हैः—मैंने सैकड़ों मुकद्दमोंका विचार करते हुए देखा है कि जहांपर एक शब्द मिथ्या बोलनेसे किसीकी

प्राणरक्षा वा सम्पत्तिरक्षा आदि हो सक्ती है, वहांपर भी वादी या प्रतिवादीके वशवर्त्ती हो आर्य-सन्तानने मिथ्या कहना पसन्द नहीं किया हैं।" और लोगोंकी तो बात ही क्या है, भारतवर्षके प्रथम गवर्नर जनरल वारन हेस्टिङ्गस साहबने भी पार्लियामेंटमें साक्षी प्रदानके समय हिंदुओंको विनयी, परोपकारी, कृतज्ञ, विश्वासी और स्नेहशील कहकर प्रशंसा की है। अध्यापक यूलियमस् साहबने कहा हैः—"यूरोपकी कोई भी जाति भारतवासियोंकी तरह धर्मपरायण नहीं है।" प्रोफेसर मोक्षमूलरने कहा हैः—"आर्यजातिमें सत्यप्रियता ही सबसे उत्कृष्ट जातीय लक्षण है"। किसीने इस जातिको "असत्य" का लाञ्छन नहीं लगाया है। ग्रीस देशके प्रसिद्ध सिकन्दर शाह भारतसे जाते समय मेगास्थिनीज नामक जिस दूतको यहांकी रीति नीतिको जाननेके लिये छोड़ गये थे, उसने आर्यजातिके विषयमें कहा हैः—"आर्यजातिमें दासत्वभाव बिल्कुल नहीं है, इनकी स्त्रियोंमें पातिव्रत्य और पुरुषोंमें वीरता असीम है। साहसिकतामें आर्यजाति पृथ्वीभरकी अन्य जातियोंसे श्रेष्ठ है, परिश्रमी, शिल्पी और नम्रप्रकृति है। यह कदापि अदालतोंमें मुकद्दमे नहीं करती और शान्तिके साथ परस्पर मिलकर वास करती है।" प्रसिद्ध ऐतिहासिक अबुल फजलने कहा हैः—"हिन्दुगण धर्मपरायण, मधुरस्वभाव, अतिथिसेवी, सन्तोषी, ज्ञानप्रिय, न्यायशील, कार्यदक्ष, कृतज्ञ, सत्यपरायण और बहुत ही विश्वस्त होते हैं।" इस प्रकार प्राचीन इतिहासोंकी चर्चा करनेसे प्राचीन आर्यजातिके मधुर और पूर्ण चरित्रका परिचय मिलता है। जिस समय पृथ्वीकी अन्यान्य जातियाँ असभ्यताके घोर अन्धकारमें डूबी हुई थीं, उस समय भारतवर्षमें सभ्यताकी ज्योति सर्वत्र फैली हुई थी और उसी ज्योतिको लेकर ही मनुजीके कथनानुसार पृथ्वीकी अन्यान्य जातियाँ सभ्यता तथा उन्नतिको प्राप्त हुई हैं। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि खृष्ट जन्मके ५५ वर्ष पूर्व जब पराक्रान्त जुलियस सीजर ब्रिटनद्वीपको अधिकृत करनेके लिये आये थे, तब उन्होंने यह देख कर दुःख किया था कि वे जहांपर अधिकार करनेको आये हैं वहांके लोग पशुतुल्य हैं। कच्चामांस खाना, भूगर्त्तमें रहना, वृक्षशाखाओंमें विहार करना, विविध रङ्गोंसे शरीर रञ्जित करना ये सब उनके आचार हैं। उनकी भाषा भी पशुओंकी तरह है। परंतु जब वीर चूड़ामणि सिकन्दर शाह जुलियस सीजरके तीन सौ वर्ष पहिले भारत विजयार्थ पंजाबमें आये थे, तब वे यह देखकर चकित हुए कि अपने देशमें रहते समय जिस आर्य-जातिको वे

हीनवीर्य वा असभ्य समझा करते थे वह जाति ग्राक जातिकी शिक्षागुरु है। उन्होंने राजा पोरसके साथ संग्राममें समझ लिया था कि आर्यजातिके समान वीरजाति संसारमें कोई नहीं है। उनका वीरत्व, वेष, भूषण, स्वाभाविक अपूर्व सौन्दर्य्य, दयाशीलता,, निर्भयता, आतिथ्यवृत्ति, धर्मबुद्धि आदि गुणसमूह मनोमुग्धकर हैं। उनकी भाषा मन्दाकिनीके मृदुमन्द नादकी तरह अतिमधुर है। इस प्रकार हजारों प्रमाण मिलते हैं जिनसे प्राचीन आर्य जातिकी गुणगरिमाका सर्वोच्च पदपर प्रतिष्ठित होना सिद्ध होता है।

जिस जातिका नैतिक जीवन जितना उच्च होता है उसकी राजनीति भी उनकी ही उत्कृष्ट होती है इसमें कोई संदेह नहीं है। प्राचीन आर्यजातिके चरित्रको देखकर ही उसके राजकीय शासनको समझ सकते हैं। हरबर्ट स्पेन्सरने कहा है कि प्रजाकी चरित्र-सम्बन्धीय उन्नतिको देखकर राज्यशासन प्रणालीका पता लगता है। शास्त्रमें भी कहा है:—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥

राजाके धार्मिक होनेसे प्रजा धार्मिक होती है, पापी होनेसे प्रजा पापी होती है और समभावापन्न होनेसे प्रजा समभावापन्न होती है। प्रजा राजाका ही अनुकरण करती है और राजाके तुल्य प्रकृतिवाली हो जाती है। जब पूर्व प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि आर्यजाति मिथ्यावाद, चोरी और अदालतमें जाना तक नहीं जानती थी तो इससे अधिक उत्कृष्ट राजानुशासनका परिचय और क्या मिल सकता है ? आयरलैण्डके प्रसिद्ध पलिटिशियन एड्मण्ड बर्क साहबने कहा है कि प्रजाकी संख्या और धन-सम्पत्तिको देखकर ही राजानुशासनकी परीक्षा होती है। यदि इस बातकी ही परीक्षा ली जाय, तो भी आर्यजाति इसमें श्रेष्ठ निकलेगी; क्योंकि आर्यजातिकी संख्या और संपत्ति प्राचीन कालमें अतुलनीय थी। प्रोफेसर म्याक्स डङ्कार और टेसियसने कहा है कि पृथ्वीकी सब जातियोंकी जितनी जनसंख्या होती है, एकही आर्यजातिकी उतनी जनसंख्या है और सम्पत्तिके विषयमें तो भारत स्वर्णभूमिके नामसे चिरप्रसिद्ध ही है। अतः यदि बर्क साहबकी राय मानी जाय तौभी प्राचीन आर्यजातिमें शासनप्रणालीकी पूर्णता प्रमाणित होती है। वास्तवमें राजाका जो लक्षण है सो प्राचीन आर्यजातिमें ही प्राप्त होता था। जिस जातिमें राजा अपनी प्रजाको पुत्रवत् देखते थे, जिस जातिमें राजा प्रजाकी धन सम्पत्तिको अपने विषय-विलासकी

सामग्री न समझकर अपनेको उनकी सम्पत्तिका रक्षक मात्र समझते थे, जिस जातिमें राजा प्रजारंजनके विना अपने जीवन और राजकार्यको व्यर्थ समझते थे, जिस जातिमें राजा केवल प्रजाको सन्तुष्ट करनेके लिये अपनी निरपराधिनी पतिव्रता स्त्रीको घोर अरण्यमें त्याग कर सकते थे, उस जातिमें राजकीय शासन-प्रणाली किस प्रकारकी पूर्णतासे सुशोभित थी सो विचारवान् पुरुष ही सोच सकते हैं। महाभारतमें जो राजधर्मके विषयमें वर्णन किया गया है, शुक्राचार्यने जो राजनीति बताई है और मनुजीने जो राजशासनके लिये नीति बनाई है, पृथ्वी भरमें इनकी तुलना कहीं नहीं मिलती। प्रोफेसर विलसन साहबने मनुजीके कानूनके विषयमें कहा है:—"इस प्रकारका कानून जिस जातिमें बनाया जा सकता है वह जाति सामाजिक सभ्यता और अनुशासनकी पराकाष्ठा तक पहुंची हुई थी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता"। 'बाइबल इन इण्डिया' में लिखा है कि मनुस्मृति ही मिश्र, ग्रीस तथा रोमके कानूनोंकी भित्तिरूप है और पश्चिमी देशोंमें मनुस्मृतिका प्रभाव सभी लोग अनुभव करते हैं। डाक्टर राबर्टसन साहबने कहा है:—"मनुकी राजनीतिके देखनेसे प्रतीत होता है कि पृथ्वीमें सर्वोत्तम सभ्यजाति ही इस प्रकार कानून बना सकती है। सूक्ष्मविचार, गम्भीर गवेषणा, न्यायपरता, स्वाभाविक धर्मप्रवृत्ति और धर्मानुशासन इत्यादिकी विशेषता रहनेसे मनुजीकी नीति पाश्चात्य राजनीतिसे अनेक अंशोंमें उत्कृष्ट है।" सर चार्लस मेटकाफ साहबने कहा है:—"आर्य्य राज-नीतिका प्रभाव केवल समष्टि राज्यमें ही नहीं पड़ता था; अधिकन्तु उसीके प्रभावसे ग्राम ग्राममें प्रजातन्त्र प्रणालीकी ऐसी अच्छी व्यवस्था बन गई थी कि वे लोग परस्परमें ही सब राजनीतिके निर्णय कर लिया करते थे। जिससे उनको बड़ी अदालतोंमें कभी आना ही नहीं पड़ता था और इस प्रकारकी विराट् राजशक्तिके अधीन होनेपर भी वे व्यष्टिरूपसे स्वतन्त्र और सुखी रहा करते थे। ये ही सब प्राचीन आर्यजातिमें राजशासन-प्रणालीकी पूर्णताके लक्षण हैं।

स्वाधीन जातिमात्र ही वीरताका आदर करती है और देशके कल्याणके-लिये जीवन उत्सर्ग करनेमें परम गौरव समझती है; परन्तु प्राचीन आर्यजातिमें यह पूर्णताका ही लक्षण है कि उसकी वीरताके साथ अपूर्वता और धर्मभाव भरा हुआ था। प्राचीन आर्यजाति आधुनिक पाश्चात्य जातिकी तरह मदोन्मत्त होकर और धर्मको तिलाञ्जलि देकर युद्ध नहीं करती थी; किन्तु धर्मका विजय और अधर्मका पराजय करना प्राकृतिक नियम और भगवदाज्ञा है, इसलिये उसीमें निमित्त मात्र बनकर सहायता करनेके लिये युद्ध करती थी। भीष्म पितामह और द्रोणा-

चार्य दुर्योधनके अन्नसे प्रतिपालित हुए थे, इसलिये उनका उनके पक्षमें होकर युद्ध करना धर्मानुकूल था; परन्तु दुर्योधनके अधार्मिक होनेके कारण उसका नाश भी धर्मानुकूल था इसलिये भीष्म पितामह और आचार्य द्रोणने पाण्डवोंके विरुद्ध लड़ाई करनेपर भी उनको अपनी मृत्यु कैसे हो सकती है सो बताकर धर्मका विजय कराया था। दुर्योधन पाण्डवोंका परम शत्रु था तथापि जिस समय युद्धमें विजयी होनेके लिये क्या युक्ति है इसके जाननेके लिये दुर्योधन युधिष्ठिरके पास आए तो युधिष्ठिरने अपने ही नाशका उपाय दुर्योधनको अकपट चित्तसे बता दिया था। 'अश्वत्थामा मर गये हैं' इसी एक मिथ्या वाक्यके कहनेसे द्रोणाचार्यकी मृत्यु होगी इसलिये जब युधिष्ठिरको मिथ्या कहनेका परामर्श दिया गया तो उन्होंने उत्तर दियाः—"इन्द्रप्रस्थका राज्य तो सामान्य है, यदि स्वर्गका राज्य और ब्रह्मलोक भी मिल जाय तथापि युधिष्ठिर मिथ्या कभी नहीं कहेगा।" ऐसे अनेक आदर्श मिलते हैं, जिनसे प्राचीन आर्यगणमें धर्मानुकूल वीरताका लक्षण प्रमाणित होता है। आर्यजातिमें स्थूल सम्पत्तिको लेकर संग्रामका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तकी उदारता नष्ट नहीं होती थी। धार्मिक पाण्डवोंपर दुष्ट कौरवोंने संसार भरमें ऐसा कोई अत्याचार नहीं है जिसका प्रयोग नहीं किया था; परन्तु ज्येष्ठ, आत्मीय सदा ही पूज्य हैं इसीलिये प्रतिदिन युद्धके अन्तमें पाण्डवगण जन्मान्ध धृतराष्ट्रका प्रणाम करनेको जाया करते थे और दुर्योधनकी स्त्रियां जिस समय तीर्थयात्रामें विपद्ग्रस्ता हा गईं थीं, उस समय समस्त पाण्डवोंने मिलकर उनकी रक्षा की थी। निरस्त्र शत्रुपर प्रहार करना और निर्बल शत्रुपर अत्याचार करना और अन्याय्य रीतिसे युद्ध करना आर्यजाति स्वप्नमें भी नहीं जानती थी एवं जहांपर आर्यजातिमें इस उदाहरण और महत्त्वके विरुद्ध कोई भी कार्य हुआ है, वहां उसकी बड़ी भारी निन्दा की गई है। प्रसङ्गोपात्त आर्य्यजातिके शस्त्रप्रयोगका एक इतिहास कहना उचित समझा गया। अर्जुनने खाण्डव दहन करते समय मय नामक दानवराजका प्राण बचाया था। उस समय कृतज्ञताका परिचय देनेके लिये दानवराज मयने अर्जुनसे कहा कि मेरे पास जो अलौकिक दानवास्त्र हैं, मैं आपको अपने प्राण बचानेके बदलेमें देकर कृतकृत्य होना चाहता हूं। पश्चात् अर्जुन द्वारा उक्त दानवास्त्रोंका फल पूछनेपर मय दानवने उत्तर दिया कि ये अस्त्र ऐसे अलौकिक हैं कि इनके द्वारा आकाशमें उड़कर वा अदृश्य होकर शत्रुका नाश किया जा सकता है, जलमें डूबकर अदृश्य होकर शत्रुओंका क्षय हो सकता है, शत्रुके सन्मुख न

जाकर अतिदूरसे शत्रुका नाश हो सकता है इत्यादि। इन लक्षणोंका सुनकर अर्जुनने अस्त्रोंकी प्रशंसा की; परंतु यह कहा कि हम आर्य्य हैं, ये सब अनार्य्य-सेवित अस्त्र हमारे काममें नहीं आ सकते, इस कारण हम इनके सीखनेके अनिच्छुक हैं इत्यादि। इस इतिहाससे स्पष्ट ही प्रमाणित होगा कि आर्य्यगण किस प्रकारके धर्मलक्ष्ययुक्त युद्धके पक्षपाती थे और अद्भुत और अलौकिक शक्तिविशिष्ट होनेपर भी दावन-सेवित अस्त्रोंके प्रयोग करनेमें भी अधर्म्म समझते थे।

आर्य्योंके दिव्यास्त्र कैसे थे उसका कुछ कुछ वर्णन पुराणोंमें मिलता है। मंत्र विनियोगके भेदसे ब्राह्मणोंके कामके लिये और क्षत्रियोंके कामके लिये वे विभिन्न रूपसे काममें आते थे। मंत्रकी सहायतासे क्षत्रियोंके विभिन्न अस्त्र अलौकिक शक्तियुक्त हो जाते थे। ब्राह्मणगण उन्हीं मंत्रोंके द्वारा साधन शैली और विनियोगके भेदसे अंतर्राज्यकी सहायतासे स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, पीड़ा और ग्रहदोष आदिसे रक्षण इत्यादि अलौकिक कार्य्य किया करते थे। रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थोंमें वर्णित क्षत्रियोंके दिव्यास्त्रोंकी अलौकिक शक्तिका वर्णन कविकल्पना नहीं है। उनकी वर्णन शैलीके मूलमें अलौकिक सत्य निहित है। यद्यपि उन मन्त्रयुक्त अस्त्रोंकी साधन प्रणाली इस समय प्रायः लुप्त हो गई है, तथापि अभीतक दिव्यास्त्रके पद्धति-ग्रन्थ भारतवर्षमें कहीं कहीं मिलते हैं। आर्य जातिके युद्धमें वीरताकी पराकाष्ठा थी, आर्य-जाति केवल क्षुद्र ऐहलौकिक स्वार्थके लिये नहीं लड़ती थी किन्तु धर्म-युद्धमें आत्म-बलिदान करके उत्तरायण गतिके द्वारा अनन्त दिव्यसुख लाभ करनेके लिये लड़ाई करती थी। मनुसंहितामें कहा हैः—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः॥

परिव्राजक योगी और सम्मुख रणमें जीवनोत्सर्ग करनेवाले वीर पुरुष दोनों ही उत्तरायण गतिको प्राप्त करते हैं। गीतामें कहा हैः—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

लड़ाईमें मर जानेपर स्वर्गलाभ होगा और जीत होनेपर स्वराज्य मिलेगा। इस प्रकारके शास्त्रोक्त उपदेशके अनुसार आर्यजाति वीरताके साथ देश और धर्मके लिये लड़ती थी, आर्य और उनकी सहधर्मिणियोंका परलोकपर पूर्ण विश्वास था, वे जानते थे कि संमुख युद्धमें मृत्यु और सहमरणके बाद दोनोंही अक्षय

स्वर्गलाभ तथा आनन्दोपभोग कर सकेंगे। इसलिये आर्य वीरोंको मरनेमें डर नहीं था, वे खटियापर सोके मरना निन्दनीय समझते थे और युद्धमें मरना ही परम पवित्र और आर्य जनोचित समझते थे और उनकी स्त्रियां भी उनके साथ सहमृता होती थीं। स्वदेशहितैषिताका भाव उनके रोम रोममें घुला हुआ था। स्वदेश और स्वधर्म सेवाको भगवत्-पूजा समझकर निष्काम कर्मयोगके द्वारा वे आत्माकी उन्नति साधन करते थे और तभी प्राचीन कालमें भारतकी वह गौरव गरिमा दिग्दिगन्तमें परिव्याप्त थी। केवल प्राचीन आर्यजातिमें ही नहीं, उसकी उस गौरव रविकी प्रज्वलित रश्मिने अतीतके अन्धकारको भेद करके वर्त्तमान आर्यजीवनको भी उज्ज्वल किया है। अभी थोड़े ही दिन हुए मेवाड़के पुण्यश्लोक महाराणा प्रतापप्रमुख राजपूत वीरगण तथा राठोर दुर्गादास और मेवाड़के पृथ्वीराज आदि वीरोंने भारतमाताकी मुखच्छविको अपनी प्रतिभा और वीरतासे जिस प्रकार उज्ज्वल किया है, पृथ्वी भरके इतिहासमें भी ऐसा दृष्टान्त विरल है। यही प्राचीन आर्य्यजातिमें धर्ममूलक वीरताका दृष्टान्त है, जिसका विशेष वर्णन आगेके किसी अध्यायमें किया जायगा।

केवल वीरता ही नहीं अधिकन्तु युद्ध विद्याकी भी पूर्णोन्नति प्राचीन आर्यजातिमें हुई थी। प्राचीन धनुर्वेदमें जिस प्रकार अद्भुत अस्त्रशस्त्रोंका वर्णन देखनेमें आता है उनका प्रयोग करना तो दूरकी बात है, उनके रहस्योंको समझना और उनपर विश्वास करना भी आजकल कठिन हो गया है। नागपाश, शक्तिशेल, सम्मोहन, अग्निवाण, वारुणास्त्र आदिमें वैद्युतिक शक्ति तथा दैवीशक्तिका सञ्चार करके उनके द्वारा मूर्छा आदि किस प्रकार उत्पन्न किया करते थे सो आर्यजाति आजकल भूल गई है और पाश्चात्य जातियोंने भी आजतक उनका रहस्य-भेद नहीं पाया है। विलसन् साहबने कहा है कि बाणनिक्षेप विद्यामें प्राचीन आर्यजाति अद्वितीय थी, एकदम कई बाण निक्षेप करना, निक्षिप्त बाणको लौटा लाना, बाण कई प्रकारकी वैद्युतिक शक्ति द्वारा शत्रुको कभी मूर्छित, कभी मुग्ध, कभी दग्ध आदि कर देना यह सब प्राचीन आर्यजातिमें युद्ध-विद्याकी पूर्णताका लक्षण था। द्रौपदीके स्वयम्वरमें अर्जुनकी बाणविद्या, कुरुक्षेत्रके युद्धमें भीष्म, द्रोण और कर्णकी अद्भुत अस्त्रचालनविद्या, राम रावणके युद्धमें राम, रावण तथा मेघनादकी विचित्र रहस्यमय शक्तिशेल, संमोहन, वारुणास्त्र, पाशुपतास्त्र, गरुड़ास्त्र नागपाशास्त्र आदि अस्त्र विद्याएँ संसारमें अतुलनीय और आधुनिक जगत्में स्वप्नस्मृतिकी तरह हो रही हैं; परंतु प्राचीन आर्यजातिमें येही विद्याएँ पराकाष्ठा तक पहुंच गई थीं।

तलवारके चलानेमें आर्यजाति जिस प्रकार निपुण थी वैसी कोई भी जाति संसारमें निपुण नहीं थी। प्रसिद्ध टेसिया साहबने भारतवर्षीय तलवारको समस्त संसारके शस्त्रोंसे अच्छा कहा है। मुसलमानलोग राजपूत वीरोंकी तलवारसे इतना डरते थे कि उनके ग्रन्थोंके पत्र पत्रमें इसका इतिहास मिलता है। पृथिवी विजयी महावीर अलकजण्डर भारतविजयके लिये यहां आकर पहिले तो महावीर राजा पुरुका वीरताको देख मोहित हो गये और पीछे मगध सम्राट्के सेनाबलको देखकर भारतवर्षसे भाग ही गये। हण्टर साहबने कहा हैः—"सैन्यचालना, सैन्यसन्निवेश, सैन्योंका विविध व्यूहोंके रूपसे युद्धक्षेत्रमें संरक्षण, व्यूहरचना आदि युद्धविद्याका वर्णन महाभारतके अनेक स्थानोंमें पाया जाता है जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्यजातिमें इस विद्याकी कोई भी कमी नहीं थी।" उनके सैन्यसन्निवेशकी प्रक्रिया उरस, कक्षा, पक्ष, प्रतिग्रह, कोटि, मध्य, पृष्ठ आदि रूपसे विभक्त थी। उनकी व्यूहरचनामें जो अद्भुत कौशल था सो आजकलके क्या पाश्चात्य क्या एतद्देशीय कोई भी नहीं जानते हैं। कुछ व्यूहोंके नाम उनके आक्रमणके अनुसार हुआ करते थे। यथा, मध्यभेदी अन्तर्भेदी इत्यादि। कोई २ व्यूह वस्तु सादृश्यके अनुसार हुआ करते थे। यथाः—मकरव्यूह, श्येनव्यूह, शकटव्यूह, अर्द्धचन्द्र, सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका, दण्ड, मण्डल, असंहत इत्यादि। कुरुक्षेत्रके युद्धका महाभारतमें वर्णन है कि युधिष्ठिर अर्जुनको (मेसीडोनियन व्यूहकी तरह) सूचीमुख व्यूह निर्माण करनेको कह रहे हैं और अर्जुन वज्रव्यूह रचना ठीक होगी ऐसी प्रार्थना कर रहे हैं और इसी कारण अपनी रक्षाके लिये दुर्योधन अभेद्यव्यूहकी आज्ञा कर रहे हैं। इन वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें आर्यजातिने युद्ध विद्यामें पूर्ण उन्नति प्राप्त की थी। किसी किसी अर्वाचीन पुरुषका यह संदेह है कि जब आर्यजाति बन्दूक और तोपका व्यवहार नहीं जानती थी, तो उनमें युद्ध विद्याकी उन्नति कैसे हो सकती है; परन्तु आर्यजातिके प्राचीन इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे उनका यह सन्देह मिथ्या प्रमाणित हो जायगा। जब प्राचीन भारतके अनन्त अस्त्र शस्त्रोंमें नालास्त्र तथा शतघ्नी आदिका वर्णन देखते हैं और बड़े बड़े युद्धोंमें उन सब अस्त्रोंका प्रयोग भी देखते हैं, तो प्राचीन आर्यजातिकी युद्धविद्याके विषयमें इस प्रकारका संदेह करना सर्वथा निर्मूल है। आर्यजातिके प्राचीन ग्रथोंके देखनेसे प्रमाणित होता है कि वे तोपको शतघ्नी, बन्दूकको नालास्त्र, बारूदको उर्व्वग्नी और गोलाको गुड़क कहा करते थे। बारूद उर्व्व नामक ऋषि द्वारा आविष्कृत होनेसे उसका

नाम उर्व्वघ्नी था। यद्यपि इन शब्दोंका व्यवहार अन्य प्रकारके अर्थोंमें भी पाया जाता है तथापि अनेक स्थानोंमें इन चारों शब्दोंका व्यवहार तोप, बंदूक, गोला और बारूदके लिये ही हुआ है। इस प्रकारके युद्धयन्त्र आर्य्यजातिके युद्धमें व्यवहृत होते थे इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यधर्ममें बाधा न हो, आर्य्यशास्त्र अनार्य्यशस्त्र न बन जायँ और धर्मयुद्धका ढङ्ग बदलकर वह अधर्मयुद्ध न बन जाय केवल इसी लक्ष्यसे ऐसे यन्त्रोंकी विशेष उन्नतिकी ओर आर्य्यजातिने विशेष लक्ष्य नहीं डाला था ऐसा विज्ञजनोंका सिद्धान्त है।

उर्व्वघ्नीं प्रोथितां कृत्वा शतघ्नीं गुडकैर्युताम्।

बारूद और गोलेसे भरकर युद्धमें तोप चलाई गई। इन सब प्रमाणोंसे प्राचीन कालमें बन्दूक, तोप आदि अस्त्र व्यवहृत होते थे, यह सिद्ध होता है। यह बात यथार्थ है कि मुसलमानोंके आक्रमणसे पूर्व्ववर्ती आर्य्यगण इस प्राचीन युद्ध विद्याको प्रायः भूल गये थे क्योंकि यह तो सर्ववादिसम्मत है कि महाभारतके महायुद्ध और बौद्धगणके महाविप्लव द्वारा भारत श्मशानप्राय हो गया था और इसी कारण परवर्त्ती मनुष्यगण सब क्रियासिद्ध विद्याओंको भूल गये थे; तथापि इधरके इतिहासपर विचार करनेसे भी पता लगता है कि आर्यगणमेंसे यह विद्या सम्पूर्ण नष्ट नहीं हो गई थी। सम्राट् पृथ्वीराजके समयमें तोपोंका व्यवहार था इसका प्रमाण उनके जीवनचरित्रके इतिहासमें पाया जाता है। यथाः—

जंबूर तोप छुटहि झनंकि।
दशकोश जाय गोला भनंकि॥

जम्बूर और तोप झंझनाती हुई छूटी और उनका गोला शब्द करता हुआ दस कोस तक पहुंचा। प्रसिद्ध गंगाकी नहर खोदते समय सर आर्थर कटूलि साहबने उत्तर पश्चिम प्रदेशमें पृथ्वीमध्यस्थित एक वृहत् नगरका ध्वंसावशेष पाया था और उसमें कई एक तोपें भी मिली थीं जिससे उक्त साहबने यह सिद्धान्त निश्चय किया कि प्राचीन भारतवासिगण तोपका व्यवहार जानते थे। प्रोफेसर विल्सन साहबने कहा है कि हिंदुओंके चिकित्साशास्त्रके पाठ करनेसे पता लगता है कि वे बारूद प्रस्तुत करना जानते थे और उनके ग्रंथोंमें भी इसके प्रयोगका वृत्तान्त बहुधा मिलता है। मैफी साहबने कहा है कि भारतवासिगण पर्तुगीज् लोगोंकी अपेक्षा तोप आदि आग्नेय अस्त्रोंका प्रयोग विशेष जानते थे। ग्रीस देशके थेमिसटियसने तथा महावीर अलेक्-

जएडरने एरिस्टटलको पत्र लिखते समय लिखा है कि उनकी सेनाओं के ऊपर हिंदुओंने भीषण तोपोंके गोलोंका अजस्र वर्षण किया। शास्त्रोंमें शतघ्नीका ऐसा वर्णन मिलता है कि यह आग्नेयास्त्र लोहेसे बनता है, उसका आकार बड़े वृक्षके स्कन्धकी तरह होता है। वे दुर्गके ऊपर चढ़ाये जाते हैं और युद्धक्षेत्रमें भी लाये जाते हैं। इनके शब्द वज्रकी तरह होते हैं। इन सब वर्णनोंसे प्राचीन कालमें तोपका व्यवहार होना प्रमाणित होता है। इण्डियन् गवर्नमेण्टके फरेन् सेक्रेटरी ईलियट साहबने भारतीय आग्नेयास्त्रोंके विषयमें चर्चा करते समय कहा है कि साल्टपिटर जो कि बारूदका एक प्रधान मसाला है और गंधक जो कि उसके साथ मिलाया जाता है दोनों ही भारतवर्षमें अजस्र मिलते हैं और मेरा यह सिद्धान्त है कि प्राचीनकालमें भारतवासीगण इस प्रकार बारूद और तोपका व्यवहार जानते थे। उनके मकान तथा फाटकके सामने ऐसी चीजें रक्खी जाती थीं और उनमें दूरसे आग लगाई जाती थी। इसके सिवाय आग लगनेपर फट जानेवाले भी अनेक अस्त्रोंका हिंदूलोग प्रयोग करते थे। इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे प्राचीनकालमें तोपोंका व्यवहार और मुसलमान-राज्यके समय पर्यन्त भी कहीं कहीं तोपोंका व्यवहार सिद्ध होता है। अस्त्र-युद्धके सिवाय जलयुद्ध तथा आकाशयुद्धमें भी प्राचीन आर्यगण विशेष निपुण थे, इसका प्रमाण शास्त्रोंसे मिलता है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ११६ सूक्तमें वर्णन है कि राजर्षि तुग्रने अपने पुत्र भुज्युको ससैन्य समुद्रपथमें दिग्विजय करनेके लिये भेज दिया। इससे प्राचीन कालमें जलयुद्धका भी निश्चय हुआ। कर्नेल टाड् तथा ष्ट्रावो साहबने कई स्थानोंमें कहा है कि प्राचीन कालमें आर्यगण जलयुद्धमें विशेष निपुण थे क्योंकि समस्त संसारव्यापी वाणिज्यश्रीकी रक्षाके लिये उनको सदा ही जलसैन्य, जहाज आदि रखने पड़ते थे। फरिया साउजाने कहा है कि खीष्टीय १५०० शताब्दीमें एक गुजराती जहाजने पुर्तगीजोंके प्रति अनेक तोपें चलाई थीं। १५०२ में हिंदुओंने कलिकटमें युद्धके जहाजसे काम लिया और दूसरे वर्ष जामोरिन् जहाजके द्वारा ३८० तोपें लाई गई थीं। आकाशयुद्धके विषयमें प्राचीन इतिहासमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। रावणका पुष्पक विमानपर चढ़कर दिग्विजय करना, इन्द्रजित्का आकाश-मार्गसे रामचंद्रकी सेनापर अजस्र बाण वर्षण करना इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाणोंके द्वारा विमान-विद्यामें प्राचीन आर्यजातिकी पारदर्शिता सिद्ध होती है। कुछ दिन पहले जब बेलून और एरोप्लेन आदि खेचर यन्त्रोंका आविष्कार नहीं हुआ था, तब लोग हिंदुओंके पुराणादि ग्रन्थोंमें आकाशयानोंका वर्णन

देखकर हँसा करते थे; परंतु भगवान्की कृपासे आज नवीन जेप्लिन और एरोप्लेन आदिकें आविष्कारके द्वारा अर्वाचीन लोगोंका वह भ्रम दूर हो गया है और प्राचीन आर्यजाति किस प्रकार सूक्ष्म युद्ध-विद्यामें निपुण थी इसको सोच कर वे चकित हो रहे हैं। यही सब प्राचीन आर्यजातिमें युद्ध-विद्याकी पूर्णताका परिचायक है।

ऊपर लिखे हुए आर्यगौरवके लक्षणोंके अतिरिक्त प्राचीन आर्य-इतिहास-पाठ करनेसे सिद्धान्त होगा कि पृथिवीमें मनुष्यजातिकी सर्वतोमुखिनी पूर्णता सम्पादन करनेके लिये जितने प्रकारकी विद्याओंमें उन्नति होना चाहिये प्राचीन आर्यजातिने उन सभीमें उन्नति प्राप्त की थी। क्या भाषाकी उन्नति और क्या भावकी उन्नति; क्या शिल्पकी उन्नति और क्या संगीत आदिकी उन्नति; क्या ज्ञानकी उन्नति और क्या विज्ञानकी उन्नति; क्या शारीरिक रोग-विज्ञान-रूपी चिकित्सा-शास्त्रकी उन्नति और क्या भवरोग-विज्ञानरूपी अध्यात्म शास्त्रकी उन्नति; क्या वाणिज्य आदिके द्वारा धनकी उन्नति और क्या सर्वत्र गमनागमनके द्वारा व्यावहारिक ज्ञान और अभिज्ञताकी उन्नति; सभी विषयोंमें प्राचीन आर्यजातिकी उन्नतिकी पराकाष्ठा हो गई थी। इसको ऐतिहासिक पाश्चात्य और एतद्देशीय सभी लोग एक वाक्य होकर स्वीकार करते हैं। अब नीचे इन विषयोंका पृथक् पृथक् वर्णन संक्षेपसे किया जाता है।

पृथिवीकी और सब भाषाओंका नाम भाषा है परन्तु केवल आर्यजातिकी भाषाका नामही संस्कृत है। इसके समान मधुर, उन्नत, पूर्ण और हृदयग्राही भाषा संसारमें कहीं भी नहीं है। और देशोंकी भाषाओंके माधुर्य्यका अनुभव अर्थबोध होनेपर होता है; परंतु केवल संस्कृत भाषामें ही यह अपूर्वता देखनेमें आती है कि समझे या न समझे श्रवणमात्रसे ही कर्ण तथा मन परितृप्त हो जाते हैं। अन्य देशोंकी भाषा और अक्षर कल्पनाके द्वारा बनाये हुए हैं; परंतु संस्कृतभाषा सृष्टिकारिणी प्रकृति शक्तिके प्रतिस्पन्दनमें स्वभावतः विकाशका प्राप्त होती है। भाषा भावकी प्रकाशक है, परंतु अन्य देशोंकी भाषाओंमें मानव प्रकृतिके सकल भावोंके विकाश करनेकी शक्ति नहीं है। केवल संस्कृत भाषा ही मानव-प्रकृतिके सकल भावोंको पूर्णरूपसे विकसित कर सक्ती है। संस्कृभाषाका अलंकार और व्याकरण जगत्में अतुलनीय है। संस्कृतभाषाकी पद्यमयी कविताशक्ति, जो कभी रणरङ्गिणी श्यामाकी तरह असुरदलन करती है और कभी लवकुशके कण्ठोंसे सुधाधाराकाभी वर्षण कराती है; जो कभी रामगिरिमें विरही यक्षके दूतका कार्य करती है और कभी चक्रवाक चक्रवाकीके कण्ठसे विरह-संगीत-

का स्रोत बहाया करती है; जो कभी मन्दाकिनीके अमृतसलिलमें स्नान करके कल्पतरुकी छायामें विश्राम लाभ करती है और कभी ऋषिपत्नियोंके साथ आलवालोंमें जलसिंचन करती है; जो कभी वेदव्यासके चित्तमें जगत्कल्याणचिन्ताकी लहरें उठाती है और कभी वाल्मीकिकी वीणासे भुवनमोहन अनन्तरागप्रवाहोंको प्रवाहित करती है। यही संस्कृत भाषाकी पद्यमयी कविताशक्ति, संस्कृत भाषाकी शब्द महिमा, संस्कृत कोशकी पूर्णता–जिसके सामने और सब भाषाएँ बालकवत् प्रतीत होती हैं–प्राचीन आर्यजातिकी अपार कृपाका ही फल है, जिसकी गौरवगरिमा अभागे भारतवासियोंसे आज विस्मृतप्राय होनेपर भी गुणग्राहिणी पाश्चात्यजाति इसका अनुभव करके शतमुखसे आर्यऋषियोंकी प्रशंसा कर रही है।

संस्कृत भाषामें लिखनेकी प्रणाली भी ऐसी संस्कार-प्राप्त और उन्नत है कि बुद्धिमान्गण थोड़े ही विचारसे जान सकेंगे कि यदि पृथिवी भरमें कोई सम्पूर्ण लेखनप्रणाली हो वह देवनागरी लेखनप्रणाली ही है। सब भाषाओंके शब्द इन अक्षरोंमें लिखे जा सकते हैं, परन्तु जगत्में ऐसी कोई भी भाषा नहीं है जो संस्कृत शब्दको यथावत् लिख सके। संस्कृत भाषाकी पूर्णताके सिवाय इस भाषाकी एक विशेषता यह है कि यही भाषा जगत्की और भाषाओंकी जननी रूप है। विशेष प्रशंसनीय विषय यह है कि संस्कृतके आदि भाषा होनेके विषयमें किसी देशके पण्डित सन्देह नहीं करते। भाषासे और समाजसे घनिष्ठ संबंध है। जिस जातिकी भाषा ऐसी उन्नतिको पहुंची थी, उसका समाज-बंधन अति उत्तम होगा इसमें संदेह ही क्या है। जीवसमाजका प्रथम बंधन स्त्री और पुरुषका पारस्परिक संबन्ध है। उनमें परस्पर कैसा बर्त्ताव होना उचित है सो काम शास्त्रमें विस्तृतरूपेण वर्णित है। इस शास्त्रके वात्स्यायन आदि प्रधान आचार्य्यगणके ग्रन्थ पाठ करनेसे ही भलीभांति जान पड़ेगा कि आर्य्यजातिने इस विद्यामें उन्नतिको किस पराकाष्ठा तक पहुँचाया था। पुरुष और स्त्रीके कितने भेद हैं, उन भेदोंके क्या क्या लक्षण हैं कैसे पुरुषसे कैसी स्त्रीका सम्बन्ध होना उचित है, स्त्री और पुरुषके पारस्परिक सम्बन्ध कैसे निभाने पर इहलोक और परलोकका सुख हो सकता है, कैसे उत्तम संतति उत्पन्न हो सकती है, कैसे एकाधारमें धर्म और कामकी प्राप्ति हुआ करती है इत्यादि नाना गंभीर विचारोंका ज्ञान इस शास्त्रसे होता है। यदि नवीन यूरोप आज दिन बहिर्जत्की उन्नतिको धारण कर रहा है और अपने बराबर किसीको भी नहीं समझता है, तथापि जर्मनी, अमेरिका, इङ्गलैंड और फ्रांस आदि देशोंके

विद्वान्‌गण महर्षि वात्स्यायन आदिके ग्रन्थोंको देखकर मोहित हो रहे हैं। समाजगठन सम्बन्धमें आर्य्यजातिने जितनी उन्नति की थी आज दिन तक पृथिवीकी किसी जातिने वैसी नहीं की। नदी-स्रोतके अनुकूल यदि वायु प्रवाहित हो तो नौका जितनी शीघ्र गन्तव्यस्थानपर पहुंच सकती है, उतनी शीघ्र और किसी उपायसे नहीं पहुँच सकती। भारतको दिव्य और पूर्ण प्रकृतिसे एक तो भारतवासियोंकी प्रकृति ही पूर्ण थी और दूसरे आर्य्यगणके तप और योगयुक्तबुद्धिकी सहायता थी। दोनों अनुकूलताएं एक साथ मिलकर उन्होंने भारतवासियोंकी सामाजिकता और भारतवासियोंके मनुष्यत्वको पूर्ण अवस्थामें पहुंचा दिया था; और इसी कारण आर्य्यजातिकी समाजपद्धति मानवजातिको पूर्णताको पहुँचा देनेके उपयोगी बनी थी। आर्य्यजातिका सदाचार, आर्य्यजातिकी चातुर्वर्ण्यविधि, आर्य्यजातिकी आश्रमचतुष्टयकी व्यवस्था, आर्य्यजातिकी शिक्षा और दीक्षाकौशल, आर्य्यजातिकी पितृमातृभक्ति, भ्रातृप्रेम, स्त्रीप्रीति, वात्सल्यस्नेह, अतिथिसेवा और जीवरक्षा आदि सद्‌गुण और आर्य्यनारियोंका त्रिलोक पवित्रकारी सतीत्व और पतिपूजन तथा आर्य्यजातिका अपूर्व धर्मसाधन-विज्ञान, इत्यादिसे ही आर्य्यजातिके समाजकौशलकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन हो रहा है। यह प्राचीन भारतके समाजविज्ञानका ही फल था कि यहांके ब्राह्मणगण ज्ञानकी इतनी उन्नत अवस्थामें पहुंचे थे कि जिनकी शिष्यताको स्वीकार करके आज दिन जगत्‌की और और जातियां ज्ञानराज्यमें विचरण कर रही हैं। यह प्राचीन भारतके समाजविज्ञानका ही फल था कि भारतमें श्रीरामचन्द्र, भीम और अर्जुन आदिके समान योद्धागणने उत्पन्न होकर लक्षों वर्षोंतक समस्त पृथिवीपर अपना अधिकार फैला रक्खा था। प्राचीन भारतके समाजविज्ञानका ही फल था कि जिससे भारतके वैश्योंके व्यापार और शूद्रोंके शिल्पकी उन्नति द्वारा पृथिवीमें भारत सर्वश्रेष्ठ और सबसे समृद्धिशाली राज्य समझा जाता था। आजकलके नवीन वैज्ञानिकगण मुक्तकण्ठ होकर इस विषयको स्वीकार कर रहे हैं कि यह भारतका समाज बन्धन, वर्णविभाग और विवाहपद्धति (यथा-सगोत्रा कन्याके साथ विवाह न करना, पात्रका वयःक्रम पात्रीके वयःक्रमसे न्यून न होना, असवर्ण विवाह न करना, धर्म-रीतिसे ही स्त्रीगमन करना इत्यादि) का ही फल है कि बहुकालकी भी आर्य्यजाति अभीतक ठहर रही है। प्राचीन ग्रीसजाति, इजिप्सियनजाति, ब्यबिलोनियनजाति और रोमनजाति आदि अनेक प्रतापशाली जातियोंका नाम इतिहासमें पाया जाता है, परन्तु आज दिन उनका नाम ही नाम है, अन्य चिन्ह

तकका लोप हो गया है। थोड़े थोड़े विप्लवसे ही इस संसारसे इन जातियोंका लोप हो गया है; परन्तु यह आदि आर्य्यजातिके समाज बन्धनका ही फल है कि अगणित महाविप्लवोंको सहकर भी यह जाति अमर हो रही है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारा वेदोक्त "धर्म्म" शब्द जिस प्रकार सार्व्वभौम भावमें व्यवहृत होता है उसके अनुसार हमारे "धर्म्म" शब्दके साथ पश्चिमी "रिलिजन" शब्दकी एकार्थता नहीं हो सकती; उसी प्रकार हमारे "आर्य्य" शब्दके साथ पश्चिमी" "एरियन" शब्दका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों शब्द अलग अलग भावसे व्यवहृत हुए हैं। यह आर्य्यजातिके समाज विज्ञानका ही फल है कि जिससे इस भूमिमें श्रीरामचन्द्रसे राजा, श्रीमान् जनकसे सद्गृहस्थ, सीतादेवी और सावित्रीसी कुलकामिनियां, ध्रुवसे बालक, महर्षि वेदव्याससे ग्रन्थरचयिता, राजर्षि मनुसे वक्ता, श्रीकृष्णसे उपदेष्टा, सिद्धवर कपिलसे साधक, और परमहंस शुकदेवसे ज्ञानी हुए थे।

ऋषिका तमें तड़ित् विज्ञान और योग विज्ञानकी जितनी उन्नति हुई थी उसका आजकलके लोग यदि विचार करने लगें तो उन्हें तन्द्रावस्थामें स्वप्नकी तरह अनुभव होने लगेगा। उन्नतिशील पश्चिमी विद्वान्गण उसको यदिच स्वीकार करते जाते हैं, तथापि कारण अन्वेषण करते समय वे अब भी मोहित हुआ करते हैं। प्राचीन आर्य्यजातिके भोजनमें, शयनमें, बैठनेमें, चलनेमें जलमें, स्थलमें और धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्षकारक सब कर्म्मोंमें ही तड़ित् विज्ञानका अद्भुत सम्बन्ध देख पड़ता है। महाबली रावणने जो दुर्जय शक्तिशेलद्वारा सुमित्रानन्दनको जड़की भांति स्पन्दनरहित कर दिया था, सो तड़ित्-विज्ञानकी उन्नतिका ही प्रमाण है। बाणोंमें विद्युत् शक्ति डालनेकी क्रियाका अभी तक यूरोपके विद्वान्गण आविष्कार नहीं कर सके हैं। नागपाश, शक्तिशेल, सम्मोहन अस्त्र आदि जितने चमत्कारशक्तियुक्त अस्त्र आर्य्यगण युद्धार्थ बनाया करते थे वे सब तड़ित् विज्ञानकी सहायतासे ही निर्माण करते थे। देवमन्दिरके ऊपर अष्टधातु-चक्र अथवा त्रिशूल आदि जो लगानेकी विधि है वह विद्युत्विज्ञानकी उन्नतिका ही चिन्ह है। उत्तरकी ओर सिर करके न सोना, नवीन अपक्व फलकी ओर उङ्गली न उठाना, नीच जातिका स्पर्शित अन्न भोजन न करना, चैल, अजिन, कुश और कम्बलके आसनपर बैठकर उपासना करना, सौभाग्यवती स्त्रियोंको स्वर्णमय अलङ्कार आदि धारण करनेकी आज्ञा देना और विधवाओंको न देना आदि सब नियम ही इस तड़ित्विज्ञानकी उन्नतिके प्रमाण हैं। आजकलकी विज्ञानदृष्टिसे यह प्रमाणित ही हो चुका है कि अष्टधातु वज्रपातको निवा-

रण करती है इस कारण मन्दिरोंपर वह स्थापन किया जाता है। उसी प्रकार शारीरिक तड़ित् द्वारा अपक्व फल तब ही दूषित हो जायगा जब उसकी ओर उंगली उठाई जायगी। इसी तरह शूद्रमें तमोगुण अधिक होनेके कारण उसका छुआ हुआ अन्न उसकी दूषित तड़ित्द्वारा दोषयुक्त हो जानेसे श्रेष्ठ तड़ित् युक्त ब्राह्मणदेहके लिये अहितकारी ही है। पृथ्वी सदा जीवशरीरके अन्तर्गत तड़ित्को खैंचा करती है। उपासना करते समय मनुष्यके शरीरमें सात्त्विक तड़ित्का बढ़ना सम्भव है; परन्तु पृथिवीपर बैठकर उपासना करते समय वह तड़ित्संग्रह पृथ्वीद्वारा नाशको प्राप्त हो सकता है, किन्तु चैल अजिन कुश और कम्बलमें तडित् ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है। (वे Nonconductor हैं) इस कारण उनपर बैठकर साधन करनेसे वह क्षति नहीं होती। सुवर्ण आदि धातु तडित्शक्तिके वृद्धिकारक हैं, तडित्शक्तिवृद्धिसे शारीरिक इन्द्रियोंकी विशेष स्फूर्ति होती है। इन्द्रियोंकी विशेष स्फूर्ति होनेसे स्त्रियां सुसन्तान उत्पन्न कर सकती हैं। इस कारण आर्य्य-सदाचारमें सधवास्त्रियोंको अलंकार धारण करनेकी और विधवा स्त्रियोंको अलंकार धारण नहीं करनेकी आज्ञा दी है। तडित्विज्ञानपूर्ण इन आचारोंको सुनकर साधारण बुद्धियुक्त मनुष्य भी समझ सकते हैं कि प्राचीन आर्य्यगणने इस सूक्ष्म विज्ञानको किस उन्नत अवस्थामें पहुंचा दिया था। योगविज्ञानकी मुक्ति-सहायकारी जो शक्ति है सो तो विलक्षण ही है। उस विज्ञानकी अन्यान्य भौतिक शक्तियोंकी अद्भुतता अब जगत्में प्रसिद्ध हो रही है। योगशक्तिके द्वारा मेघ, वायु आदिका स्तम्भन करना, शून्यमार्गमें विचरण करना, शरीरको लघु अथवा भारी करलेना, प्रस्तर अथवा मृत्तिका आदि पदार्थमें प्रवेश करना, दूरस्थित विषयको सुनना अथवा देखना, दीर्घ आयु और इच्छामृत्यु होना, क्षुधा पिपासा जय करना और नाना ग्रह उपग्रहोंमें संयम करके अथवा भविष्यत् प्रारब्धमें संयम करके उनके विषयोंको जान लेना आदि नाना भगवद्विभूतियोंकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रका की शक्ति जीवको कैसे प्राप्त हो जाती है, इसका उल्लेख वेद और नाना योगसम्बन्धीय शास्त्रोंमें है। डाक्टर पाल (Dr-Paul) साहबने अपने योग-विज्ञान नामक पुस्तकमें वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा पूर्णरूपसे प्रमाणित कर दिखाया है कि प्राणायाम साधन द्वारा किस प्रकारसे योगिगण दीर्घायु तथा पञ्चभूत जय कर सकते हैं। इस प्रकारसे उक्त पश्चिमि पण्डित महाशयने अष्टांग योगकी बहुत ही प्रशंसा करके योगके आठो अंगोंकी योग्यता और अद्भुत अलौकिक शक्तियोंका वर्णन अपनी पुस्तकमें किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाणमें सन्देह हो ही नहीं सकता। जब यूरोपवासी विद्वान्‌गणने प्रत्यक्षरूपसे पंजाबकेशरी महाराजा रणजीतसिंहकी सभामें योगिवर हरिदास स्वामीको छःमासतक पृथिवीके अन्तर्गत जड़ समाधि अवस्थामें रहते हुए देखा, जब उन्होंने देखा कि एक जीवित मनुष्यको पृथिवी खनन करके गाड़ दिया गया और उसके ऊपरकी मृत्तिकापर जौ बोकर पहरे बिठा दिये गये, पुनः जब उनको छः महीने पूरे होनेपर निकाला गया तो वे जीवित ही मिले, तब उन विद्वानोंके हृदयमें और कहांसे सन्देह रहेगा? वे विद्वान्‌गण उसी प्रकार मद्रासके योगीको कुम्भकद्वारा आकाशमें स्थित देखकर और कलकत्तेके भूकैलाशस्थित योगीको श्वासरहित समाधि अवस्थामें देखकर अतीव मोहित हुए। इन तीनों उदाहरणोंको प्रमाणरूपेण उन्होंने अपनी अपनी पुस्तकोंमें भी लिखा है। यद्दिच उन्होंने प्रत्यक्ष भी कर लिया है तथापि योगशक्तिका कारण अभीतक वे अन्वेषण नहीं कर सके हैं। योगक्रियामें जो बालक हैं, ऐसे पुरुषोंकी वस्ति, नलक्रिया और शंखप्रचाल आदि क्षुद्र क्रियायें जो आजकल प्रायः देखनेमें आती हैं, पश्चिमी विद्वान्‌गण वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा अभीतक उनका भी कारण नहीं जान सके हैं।

गणितज्योतिष और फलितज्योतिष इन दोनों शास्त्रोंका आविष्कार आदि-कालमें इस भारत-भूमिमें ही हुआ है। केवल विद्याओंका आविष्कार ही नहीं हुआ किन्तु उनके प्रत्येक विभाग इतनी उन्नतिको पहुंचे थे कि जिन सब विभागोंको अभीतक पश्चिमी वैज्ञानिकगण समझ ही नहीं सके हैं। यद्यपि उन्होंने आजकल यन्त्रोंकी सहायतासे गणित ज्योतिषकी कुछ उन्नति की है, तथापि फलितकी सूक्ष्मताको वे अभीतक पा ही नहीं सके हैं। प्राचीनकालमें ज्योतिःशास्त्रकी पूर्ण उन्नति नहीं हुई थी, ऐसा कोई कोई एकदेशदर्शि पण्डित कह दिया करते हैं, परन्तु आर्य्यशास्त्रके न देखनेसे ही वे ऐसा कहा करते हैं, ग्रह, नक्षत्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, अंश, विषुवरेखा, गोलकार्ध, उदीचीनराशि आदि राशिभेद, क्रान्ति, केन्द्रव्यासनिरूपण, सुमेरु,कुमेरु, छीयापथ, ग्रह, उपग्रह, कक्ष, धूमकेतु, उल्कापिण्ड, निर्घात, माध्याकर्षणशक्ति, सूर्य, महासूर्य आदि भेद, पृथिवी आदिकी आकृति, ग्रहणनिर्णय आदि सकल गम्भीर विषयोंके सिद्धान्त जब प्राचीन आर्य्योंके ग्रंथोंमें देखे जाते हैं, तब कैसे कहा जा सकता है कि आर्य्योंने इस शास्त्रकी पूर्ण उन्नति नहीं की थी। विष्णुपुराणमें लिखा हैः—

स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा।
तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तमाः।

न न्यूना नाऽतिरिक्ताश्च वर्द्धन्त्यापो ह्रसन्ति च।
उदयास्तमनेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः॥
दशोत्तराणि पञ्चैव अंगुलानां शतानि वै।
अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने॥

जवारभाटासे यथार्थमें समुद्रका जल ह्रास और वृद्धिको प्राप्त नहीं होता; किन्तु स्थालीमें जल रखकर उसे अग्निपर चढ़ानेसे जैसे अग्निउत्ताप-द्वारा उफान आकर वह वृद्धिको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही शुक्ल और कृष्ण पक्षकी चन्द्रकला द्वारा आकृष्ट होकर समुद्रजल ह्रास वृद्धिको प्राप्त हुआ करता है। आर्य्यग्रन्थोंमें ऐसे प्रमाण देखनेसे किसको विश्वास न होगा कि आर्यगणको ग्रह-आकर्षण शक्ति और जवार भाटाका कारण ज्ञात था। वार और तिथि आदिका आर्य्य महर्षिगणने ही प्रथम आविष्कार करके समयकी शृंखला की थी। सालभरमें जिस दिन दिवा रात्रि समान होते हैं वह दिन, यूरोपीय पण्डित टोलेमी (Tolemny) जिसको यूरोपकी जाति इस नियमके आविष्कर्त्ता मानती है—उसके जन्म लेनेसे बहुत काल पूर्व ही प्राचीन आर्य्य आचार्य्यगण द्वारा निरूपित हो चुका था। सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थमें लेख है:—

सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः।
कदम्बकेशरग्रन्थिकेशरः प्रसवैरिव॥

कदम्ब जिस प्रकार केसरसमूह द्वारा वेष्टित होता है, उसी प्रकार पृथिवी भी ग्राम, वृक्ष, पर्वत आदि द्वारा वेष्टित है। नक्षत्र कल्पमें लेख है:—

कपित्थफलवद्विश्वं दक्षिणोत्तरयोः समम्।

कपित्थ फलकी तरह पृथिवी गोलाकार है, परन्तु केवल उत्तर और दक्षिणमें कुछ समान अर्थात् दबी हुई है। जब पश्चिमी विद्वान्‌गण पृथिवीकी नारङ्गीके साथ उपमा देते हैं, तब आर्यगणको कदम्ब और कपित्थके साथ उपमा देते देख क्या विद्वान्‌गण नहीं समझ सकेंगे कि प्राचीन आर्यगण पृथिवीके स्वरूपको पश्चिमी वैज्ञानिकगणसे पूर्व ही भलीभांति जानते थे। आजकल विद्यार्थियोंकी शिक्षाके अर्थ गोलक (Globe) प्रस्तुत किया जाता है; परन्तु जब प्राचीन आर्य्य ग्रन्थोंमें देखते हैं कि वे भी शिष्योंको दारुमय खगोल और भूगोल रचना द्वारा शिक्षा दिया करते थे, तब कौन बुद्धिमान नहीं विश्वास करेंगे कि वे भी इस नवीन रीतिको भलीभांति जानते थे। आज कलकी शिक्षामें प्रधान दोष यह है कि भारतवासी पूर्ण शिक्षा प्राप्त नहीं करते।

पश्चिमी अंग्रेजी भाषा या संस्कृत विद्या, चाहे किसीमें व परिश्रम क्यो न करते हों; उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं करते। द्वितीयतः अपने वर्त्तमान भ्रमोंके दूर करनेके अर्थ दोनों शास्त्रोंका भलीभाँति संग्रह करके तत्पश्चात् दोनोंके गुणोंका विचार कर सत्यका अन्वेषण करें, तो उसका अनुसंधान पा सकेंगे; नहीं तो एक विद्याको ही असम्पूर्ण जानकर सत्य अनुसंधान करना वृथाश्रम मात्र है इसमें सन्देह नहीं। आर्य्यभट्टजीने लिखा हैः—

चला पृथ्वी स्थिरा भाति।

पृथिवी चलती है परन्तु ठहरी हुई जान पड़ती है। पुनः आर्ष ग्रन्थोंमें लेख हैः—

भपंजरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रातिदिवसिकौ।
उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम्॥

नक्षत्रमण्डल और राशिचक्र स्थिर हो रहे हैं परन्तु पृथिवी बारम्बार घूमती हुई ग्रह नक्षत्रोंका दैनिक उदय अस्त सम्पादन किया करती है। इन लेखोंको देखनेसे कौन नहीं विश्वास करेगा कि प्राचीन आर्य्यगण पृथिवीकी गतिको जानते थे। जब आचार्य्योंके ग्रन्थोंमें देखते हैंः—

भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।

पृथिवी शून्यमें ही स्थित है; पुनः जब भास्कराचार्य्यको कहते हुए देखते हैंः—

नान्याधारं स्वशक्त्या वियति च नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे।
निष्ठं विश्वं च शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समंतात्॥

पृथिवी विना आधारके ही अपनी शक्तिद्वारा आकाश मण्डलमें स्थित है और उसके पृष्ठपर चारों ओर देव दानव मानव आदि निवास कर रहे हैं; तब कैसे विश्वास नहीं करेंगे कि आर्य्यगण पृथिवीकी स्थितिको भलीभाँति नहीं जानते थे। जब ब्रह्मपुराणमें देखते हैंः—

पर्वकाले तु सम्प्राप्ते चन्द्रार्कौ छादयिष्यसि।
भूमिच्छायागतश्चन्द्रं चन्द्रगोऽर्कं कदाचन॥

पूर्णिमा आदि पर्व्व दिनोंमें तुम चन्द्र सूर्य्यको आच्छादन करोगे; कभी पृथिवीकी छायारूपसे चन्द्रको और कभी चन्द्रकी छायारूपसे सूर्यको आच्छादन करोगे; पुनः जब ज्योतिष आचार्य्योंके ग्रन्थोंमें देखते हैंः—

छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत् ।
भूच्छायां प्रमुखश्चन्द्रो विशत्यर्थो भवेदसौ ॥

मेघके समान चन्द्र, सूर्य्यके अधस्थित होकर सूर्य्यका आच्छादित करता है और चन्द्र पृथिवीमें भी प्रवेश करता है; तब कौन बुद्धिमान्‌गण नहीं जान सकते हैं कि प्राचीन भारतवासिगण ग्रहण-विज्ञानको भलीभांति जानते थे। इस प्रकारसे ज्योतिःशास्त्रकी उन्नतिके विषयमें जितना विचार करेंगे उतना ही सिद्धान्त दृढ़ होता जायगा कि इस गम्भीर विज्ञान शास्त्रमें प्राचीन भारतने बहुत ही उन्नति की थी। विना गणित ज्योतिषके फलित ज्योतिष कार्य्यकारी नहीं होता, इस कारण भारतका फलितशास्त्र ही गणितशास्त्रकी उन्नतिका प्रमाण है। आजकलके यूरोपीय सम्वादोंका पाठ करनेसे बुद्धिमान् मात्र ही जान सकेंगे कि आज दिन यूरोपवासी किस प्रकारसे मेटीओरोलोजी (Meteorology) विद्यापरसे अपनी दृष्टि हटाकर फलित ज्योतिषकी सत्यताकी ओर झुकते जाते हैं। आज दिन यूरोपका यह फलित ज्योतिषका पक्षपात ही हमारे इस गणित एवम् फलित ज्योतिष विषयक सिद्धान्तको पूर्णरूपसे दृढ़ कर रहा है।

पश्चिमी विद्वान्‌गण यह कहते हैं कि माध्याकर्षण शक्तिका आविष्कार करनेवाले न्यूटन (Newton) साहब हैं, परन्तु जब देखते हैं कि श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके उपदेशमें पृथिवीकी माध्याकर्षण-शक्तिका विस्तृत विवरण आया है; जब देखते हैं कि भास्कराचार्य्यजीने लिखा है:—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थो गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत् पततीति भाति समे समंतात् क्व पतत्वियं खे ॥

पृथिवी आकर्षणशक्तिसे युक्त है, क्योंकि कोई भारी पदार्थ आकाशकी ओर निक्षिप्त करनेपर पृथिवी अपनी शक्ति द्वारा उसको आकर्षण कर लेती है, आकाश चारों ओर ही है, परन्तु वह पदार्थ पृथिवीके ऊपर ही गिरता है; पुनः जब देखते हैं कि आर्य्यभट्ट कह रहे हैं:—

आकृष्टशक्तिश्च मही यत्तया प्रक्षिप्यते तत्तया धार्य्यते ।

पृथिवी आकर्षणशक्तिविशिष्ट है, क्योंकि जो वस्तु फेंकी जाती है, आकर्षण शक्तिद्वारा पृथिवी उसको धारण कर लेती है; तब कैसे कहेंगे कि न्यूटन साहब इस वैज्ञानिक नियमके आविष्कार करनेवाले हैं। जब न्यूटन साहबके

जन्म ग्रहण करनेसे सहस्र २ वत्सर पूर्व्वके ग्रंथोंमें उस विज्ञानका प्रमाण मिल रहा है, तब कैसे मानेंगे कि वह नियम भारतसे नहीं निकला, यूरोपसे निकला है। यूरोपके प्रसिद्ध विद्वान् बेली (Builly) साहब, प्लेफेयर (Playfair) साहब और केशेनी (Casseni) साहब आदि बड़े बड़े पण्डितगण मुक्तकण्ठ होकर स्वीकार करते हैं कि पांच सहस्र वर्षोंके पूर्व्व भारतवर्षमें जो ज्योतिष ग्रन्थ लिखे गये थे वे अब भी मिला करते हैं; भारतवर्ष ही ज्योतिष शास्त्रका आविष्कारकर्ता है। वर्त्तमान कालके प्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्रके अध्यापक कोलब्रूक (Coledrooke) साहब प्रमाणके सहित लिखते हैं कि अति प्राचीन कालमें ज्योतिष-गणनाकी प्रधान सहायक पृथिवीकी अयनांशगति अथवा क्रांतिपातकी वक्रगतिका भारतवर्षके विद्वान्‌गणने ही आविष्कार किया था। अभी थोड़े दिन हुए, यूरोपवासियोंने नाना यन्त्रोंकी सहायतासे सूर्य्य कलंकका (Solar spot) अनुमान किया है और वे कहते हैं कि यह उनका नूतन आविष्कार है; परन्तु आर्यशास्त्रोंके देखनेसे अति सुगमता द्वारा ही यह भ्रम दूर हो सकता है। विष्णु और मार्कण्डेय आदि पुराणों और वराहमिहिर आदिकी ज्योतिष-संहिताओंमें इसका विशेष विवरण पाया जाता है। पुराणोंमें लेख है कि विश्वकर्माने जब अपने भ्रमी नामक यंत्रका सूर्यमण्डलपर प्रयोग किया था तब उस अस्त्रका सूर्य्यमण्डलके जिस जिस अंशमें स्पर्श हुआ, वही वही अंश श्यामवर्ण हो गया और उसी उसी अंशको सूर्य-कलंक कहते हैं। प्राचीन आर्यजाति ही इस शास्त्रकी प्रधान गुरु है, ऐसा एक-देश-दर्शी मुसलमान भी स्वीकार करते हैं। आरबीय "त्वारिकल हुक्मा" और "खुलाश तुल हिसाब" आदि ग्रन्थोंमें इस विचारका भलीभांति प्रमाण मिलता है। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें आर्य्य भट्टका नाम "आज्यभर" और भास्कराचार्यका नाम "बाखर" करके लिखा है। इन विचारोंसे यह सिद्ध ही होता है कि इस प्रकारके गंभीर वैज्ञानिक तत्त्व तथा वैज्ञानिक शास्त्रोंका आदि गुरु भारतवर्ष ही है। भारतकी इस श्रेष्ठताको ईसाई तथा मुसलमान आदि सभी स्वीकार करते हैं और इसीसे यह मत सर्व्ववादिसम्मत है। ग्रीक भाषाके ग्रन्थ, रौमन भाषाके ग्रंथ, अरबी भाषाके ग्रन्थ तथा नाना यूरोपीय भाषाओंके ग्रन्थोंसे जब यही सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजाति ही सकल मनुष्य जातियोंसे पहिले अपनी भारतभूमिमें शिल्प नैपुण्य तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी प्रकाश करनेवाली थी, जब प्राचीन महर्षिगणके नाना ग्रन्थोंमें ज्योतिष विज्ञान, रसायन विज्ञान, भूतत्त्व विज्ञान, चिकित्साविज्ञान और अतुलनीय योग आदि

धर्मविज्ञानका वर्णन देखते हैं; तब निरपेक्ष विद्वान्‌गण मात्र ही स्वीकार करेंगे कि प्राचीन भारत ही विज्ञान आदि उन्नतिका आदि गुरु है ।

प्राचीनकालमें सामुद्रिक केरल स्वरोदय और जीवस्वरविज्ञान आदि शास्त्रोंका उन्नति भारतमें विशेषरूपसे हुई थी। अब इतने दिनों बाद यूरोप-वासिगण भारतके इन शास्त्रोंको देखकर चकित होकर उसकी महिमाका प्रचार कर रहे हैं। यद्यपि अब सामुद्रिकशास्त्रकी उन्नति यूरोपमें कुछ कुछ देख पड़ती है, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि जितनी उन्नति यहां भूतकालमें हुई थी उतनी वहांपर होनेमें अभी बहुत विलम्ब है। आजकल यूरोपीय वैज्ञानिकगण नूतन रीतिसे मस्तिष्क परीक्षा द्वारा—अर्थात् मृतविद्वान्‌गणके मस्तकोंको चीर चीर कर परीक्षा द्वारा -इस शास्त्रकी उन्नति कर रहे हैं, किंतु त्रिकालदर्शी महर्षिगणने स्वतः ही रेखागणना, मुखचिन्हगणना आदि जो अति सुगम रीतियां सामुद्रिक शास्त्रमें निकाली थीं, वह बात अभीतक यूरोप समझ नहीं सका है। केरल आदि शास्त्रों द्वारा नाना प्रकारके प्रकृति-इङ्गित और जीव-स्वर-विज्ञानकी उन्नतिका प्रमाण भलीभाँति मिलता है।

यद्यपि प्रकृतिमें गुणभेद होनेके कारण उसके स्वरूप अनेक हैं, तथापि सर्वव्यापक चैतन्य एक होनेके कारण सब वस्तुओंका सम्बन्ध सब वस्तुओंके साथ है। जिसप्रकार निद्राके समय कभी २ मन एकाग्र होनेसे भूत, भविष्यआदि अद्भुत विषय स्वप्नगोचर हो जाते हैं, बिना किसी कारण आप ही आप भविष्यत्‌की घटनाओंका हाल निद्रितावस्थाकी साम्यावस्थामें दिखलाई दिया करता है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्थामें जीवोंका मन प्रकृति-इंगित (छींक, बाधा और शकुन आदि) द्वारा भविष्यत् घटनाओंका अनुमान कर सकता है। मन सर्वव्यापक है, इस कारण वह जब साम्यावस्थामें हो जाता है, चाहे निद्रितावस्थामें और चाहे जाग्रत् अवस्थामें; तब उसका सम्बन्ध दूसरे जीवसे होकर अथवा दूसरे पदार्थपर जाते ही उसे वहीं भविष्यत् भावकी स्फूर्ति हो जाती है। इन्हीं प्रकृतिके भावोंको समझनेमें यह शास्त्र सहायता देता है। योगिराज महर्षि पतञ्जलिजीने अपने योगसूत्रमें सिद्ध किया है कि शब्दसे अर्थका ज्ञान, अर्थसे भावका ज्ञान और भावसे बोध अर्थात् यथार्थ ज्ञानका उदय होता है। इस कारण वाच्यपदार्थ और वाचक शब्द इन दोनोंका ही परस्पर सम्बन्ध है और शब्दसे ही शब्द-उत्पत्ति-कारण भावका पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसी कारणसे इस वैज्ञानिक भित्तिपर महर्षिगणने जीव-स्वर-विज्ञानकी सृष्टि की थी जिसके द्वारा नाना जीवोंकी साम्यावस्थाकी बोलीके द्वारा वे भविष्यत्

गणना कर सकते थे। यद्यपि अब यूरोप सामुद्रिक और स्वरोदयशास्त्रको कुछ कुछ समझने लगा है, तथापि जीव-स्वर-विज्ञान अभी वह समझ नहीं सका है, किन्तु इसके निकटवर्ती "थाटरीडिंग" नामसे एक नया विज्ञान आविष्कार कर रहा है, जिसके देखनेसे बुद्धिमान् जन समझ सकते हैं कि इस शास्त्रकी उन्नतिकी पराकाष्ठा अपने आचार्य्यगणप्रणीत जीव-स्वर-विज्ञानमें हुई है। मन और वायु एक ही पदार्थ है; अर्थात् वायुरूपी प्राणके जाननेसे मनका ज्ञान हो सकता है। इस वायुज्ञान द्वारा मनके ज्ञानकी रीतिको ही स्वरोदय कहते हैं। स्वरोदयशास्त्र प्रत्यक्ष फलप्रद है। इसके पाठ करनेसे ही बुद्धिमान्गण जान सकते हैं कि इस विज्ञानकी कितनी उन्नति ऋषिकालमें हुई थी। अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओंमें स्वरोदय विज्ञानकी कई एक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके पाठ करनेसे ही अनुमान हो सकता है कि आजदिन यूरोपवासी स्वरोदय विज्ञानके कितने पक्षपाती हैं। आजकलके बहुतसे यूरोपीय विद्वान्गणने इस शास्त्रको देखना आरम्भ कर दिया है और इस शास्त्रकी वैज्ञानिक भित्तिको देखकर वे इसकी प्रशंसा कर रहे हैं।

प्राचीन आर्य्यजातिमें संगीतविद्या पूर्णताको प्राप्त हुई थी। उनका तीसरा उपवेद गंधर्ववेद सङ्गीतशास्त्र है। आधुनिक यूरोपवासियोंने इस शास्त्रको केवल शिल्प करके जाना है और इसके द्वारा वे केवल वैषयिक आनन्द भोग किया करते हैं; परन्तु प्राचीन भारतवासियोंकी यह विद्या वैसी नहीं थी। इसकी उस कालमें इतनी उन्नति थी कि सङ्गीतशास्त्र एक प्रधान विज्ञानशास्त्र समझा जाता था और इसका विशेष सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत्से रक्खा गया था। जहां कुछ क्रिया है वहां अवश्य शब्द होगा। क्रिया शक्तिके न्यून होनेसे चाहे उसका शब्द अपने कर्णगोचर न होता हो; क्योंकि सूक्ष्मतर विषयोंको अपनी इन्द्रियां ग्रहण नहीं करतीं; परन्तु जहां क्रिया है, वहां कम्पन है और जहां कम्पन है वहां किसी न किसी प्रकारका शब्द अवश्य ही होगा। ब्रह्माण्डकी सृष्टि-क्रिया भी एक प्रकारका कार्य्य है और समष्टिरूपसे उस क्रियाकी ध्वनिका नाम प्रणव अर्थात् ओंकार है। शास्त्रोंमें ओंकारके लक्षण लिखे गये हैं। यथाः—

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।

यह ध्वनि योगिगणका भलीभांति स्वतः ही सुनाई देती है। जैसी समष्टिरूप प्रकृतिकी ध्वनि ओंकार है, वैसे ही व्यष्टिरूप नाना प्रकृतिके नाना स्वर हैं। नाना स्वररूपी नीतिके नाना आविर्भाव करनेके अर्थ ही सङ्गीत शास्त्र बना है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि ।

इन वाक्यों द्वारा सामवेदकी महिमा शास्त्रोंने गाई है। यह वेद सङ्गीत शास्त्रको सहायतासे ही पढ़ा जाता है। यह सङ्गीतकी माधुरीका ही प्रभाव है कि सामवेद और वेदोंसे मनुष्योंके हृदयको शीघ्र ग्रहण करता है। यूरोपीय सङ्गीत विद्याके पक्षपाती होनेपर भी जब प्रोफेसर बोयलर (Professor Boiler) आदि पश्चिमी संगीत आचार्यगणको भारतवर्षीय राग रागिणी-कौशलकी प्रशंसा करते देखते हैं, तब यह कहना ही पड़ेगा कि यूरोपके विद्वान्-गण हमारी संगीत विद्याकी उन्नतिको देखकर मोहित हो रहे हैं। आर्य्य ऋषि-कालमें इस संगीतशास्त्र द्वारा षोड़श सहस्र राग रागिणियां गाई जाती थी और उनके साथ तीन सौ छत्तीस ताल बजते थे। इसके देखनेसे ही बुद्धिमान् गण जान सकते हैं कि प्राचीन भारतवर्षकी संगीत विद्याने जितनी उन्नति की थी, यूरोपवासी अभीतक उसको समझ भी नहीं सके हैं। नाना राग रागिणियां नाना प्रकृतिके आविर्भाव करनेके अर्थ ही बनाई गई थीं। मनुष्य-हृदयमें जिस प्रकृतिके आविर्भाव करनेकी आवश्यकता हुआ करती थी, उसी प्रकारकी राग रागिणियों द्वारा (यथा भैरव रागका रूप वैराग्यमय है, हिण्डोल रागका रूप विलासमय है इत्यादि) कोई मन्त्र अथवा गान विशेष गानेसे उनके हृदयमें वैसी ही प्रकृतिकी स्फूर्ति होने लगती थी। जिस प्रकार युद्धशास्त्र आदि क्रिया-सिद्ध विद्याएँ क्रियासिद्ध आचार्य्योंके अभावसे लोप हो गयी हैं, उसी प्रकार प्राचीन मार्ग संगीत (वेद गानेकी रीति) और देशी सङ्गीत (ईश्वर सम्बन्धीय ध्रुवपद गानेकी रीति) विद्या भी क्रियासिद्ध उपदेशके अभावसे लोप हो गई है। अब जो भारतवर्षमें सङ्गीत विद्या सुननेमें आती है, वह यथार्थमें प्राचीन सङ्गीतविद्या नहीं है। वह प्राचीन सङ्गीत शास्त्रका जीर्ण कङ्काल मात्र है। अर्थात् यह वर्त्तमान हिन्दु विद्या वह नवीन विद्या है, जो मुसलमान सम्राटोंके समय प्राचीन सङ्गीतके अनुकरणसे उत्पन्न हुई थी। इन थोड़े ही विचारोंसे बुद्धिमान्गण समझ सकते हैं कि पूज्यपाद ऋषिगणप्रणीत सङ्गीतशास्त्रकी कैसी गम्भीरता थी और वे कैसे वैज्ञानिक भित्तिपर स्थित थे। इसका विशेष वर्णन एक स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा।

ज्ञान विज्ञान-उन्नतिके विषयमें प्राचीन आर्यजाति किस प्रकार अलौकिक शक्तिसम्पन्न थी सो प्राचीन इतिहास पाठ करनेसे विदित होता है। मृत पुरुषका पुनर्जीवन लाभ,-जो कि आजकल कल्पनामें भी नहीं आ सकता-प्राचीन भारतके इतिहासमें बहुधा देखनेमें आता है। दैत्यगुरु शुक्राचार्यने मृतसंजीवनी

विद्याके प्रभावसे रणाहत मृत दैत्योंको पुनर्जीवित किया था। अतिवृद्ध कङ्कालसार च्यवनऋषिका नवयौवन लाभ इत्यादि सभी बातें प्राचीन अलौकिक ज्ञान-विज्ञानोन्नतिकी अपूर्व परिचायक हैं जिसको निष्पक्ष विचारशील पुरुष अवश्य ही स्वीकार करेंगे। जिस प्रकार पहाड़पर रहनेवाले किसी मनुष्यसे, जिसने कभी रेलगाड़ी नहीं देखी है, पृथ्वीपर एक घण्टेमें ६० मील जानेवाली भी वस्तु हो सकती है ऐसा कहा जाय, तो वह उसे हँसकर उड़ा देगा। परन्तु उसका ऐसा उड़ाना केवल अपना ही अज्ञान और मूर्खताका प्रकाश करना है! ठीक उसी प्रकार आज हमारी शक्ति नष्ट हो गई है इसको न स्वीकार करके जो कुछ प्राचीन बातें हमारी समझमें नहीं आतीं, उन्हें गपोड़ा समझकर उड़ा देना, वृथा अहङ्कार, उन्माद और मूर्खताका परिचायक मात्र है। धीर और निष्पक्ष विचारशील पुरुष ऐसा कभी नहीं करते। ज्ञानसमुद्र अनन्त है, उसका पूरा पता कौन लगा सकता है? आज पाश्चात्य जगत्में कितने ही नये सायन्सोंका आविष्कार हो रहा है। जिन बातोंको लोग पूर्ण असम्भव जानते थे वे ही आज सत्य हो रही हैं। इससे क्या यह सिद्धान्त नहीं निकलता कि जो लोग उन सब सायन्सोंके आविष्कारके पहले उन्हें असम्भव कहा करते थे वे सब भ्रान्त थे और यदि आज से ४०० वर्षोंके बाद ये ही सब सायन्सोंके आविष्कार करनेवाले लोग मर जांय, कोई भी ऐसे पुरुष जीते न रहें जिससे ये सायन्स ही नष्ट हो जाँय तो इन ४०० वर्षोंके बाद जो लोग उत्पन्न होंगे वे भी क्या इन सब सायन्सकी बातोंको किसी पुस्तकमें देखकर गपोड़ा पुराण और पोपलीला नहीं समझेंगे? कालकी रहस्यमयी गतिको कौन समझ सकता है? इसमें साहङ्कार स्पर्धाकी अपेक्षा धीर होकर ऐसे विषयोंको मानना और मनुष्य बुद्धिको परिच्छिन्न समझनाही सत्य और युक्तियुक्त है। प्राचीन आर्यजातिमें अपने कर्म्मको दूसरेमें सञ्चालित करनेकी अद्भुत शक्ति थी। ययाति राजाने अपने वार्द्धक्यको अपने युवक पुत्रपर समर्पित कर उसके यौवनको ग्रहण किया था। भगवान् शङ्करकी आयु षोड़स वर्षकी थी, परन्तु महर्षि वेदव्यासने अपनी आयुसे १६ वर्ष देकर उनकी आयु ३२ वर्षकी कर दी थी। इसी तरह परीक्षितकी कितनेही वर्षोंकी आयु एक ऋषिपुत्रने घटाकर सात दिनकी सीमापर डाल दी थी। ऐसे ऐसे कितने ही दृष्टान्त प्राचीन आर्यजातिके इतिहासमें मिलते हैं।

चिकित्सा शास्त्रमें प्राचीन आर्यजातिने बहुत उन्नति की थी। चिकित्सा विद्यामें जो जो विषय रहनेसे उसकी पूर्ण उन्नति समझी जा सकती है, वे सभी

आयुर्वेदमें थे शस्त्रविद्या, रसायन विद्या, धातुप्रयोगविद्या और काष्ठादि भेषज-प्रयोगविद्या सभी आयुर्वेदमें पाई जाती हैं। आयुर्वेद आठ तन्त्रोंमें विभक्त है। यथाः-शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद, रसायन और वाजीकरण। इन आठ प्रकारके चिकित्सातन्त्रोंमें शरीरविज्ञान, देहविज्ञान, शस्त्रविज्ञान, धात्रीविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, भेषज़विज्ञान और रोगनिदान सभी विषय वर्णित किये गये हैं। केवल मनुष्यकी चिकित्सा ही नहीं पशु आदिकी चिकित्सा-प्रणाली भी आयुर्वेदमें वर्णित है। चरक, सुश्रुत वाग्भट्ट आदि आयुर्वेदीय ग्रन्थोंके अनुशीलन करनेसे सर्वव्याधिविनाशनोपाय निर्द्धारित हो सकता है। कक्षीवानकी कन्या घोषा कुष्ठरोगसे आक्रान्त हो गई थी। अश्विनीकुमारोंने जब उसको रोगमुक्त किया तब उसका विवाह हुआ था। कण्वऋषि अन्धे हो गये थे, निषध पुत्र वधिर हो गये थे, बध्रिमतीके पति नपुंसक हो गये थे, परन्तु प्राचीन आर्यजातिके आयुर्वेदशास्त्रकीही महिमा है, जिससे ऐसे ऐसे कठिन रोग भी आराम हो जाया करते थे। आर्यचिकित्साविद्यामें विशेषता यह है कि उसने स्वतन्त्र रूपसे काष्ठादिक और धातुज औषधियोंकी उन्नति की है। कोई आचार्य केवल कष्ठादि औषधियोंकी ही व्यवस्था कर गये हैं और कोई केवल धातुज औषधियोंको ही प्रसिद्ध कर गये हैं। आयुर्वेदोक्त चिकित्साशास्त्र कितनी उन्नतिपर पहुंचा था सो इसके नाड़ीज्ञानशास्त्रके पाठ करनेसे ज्ञात हो सकता है जिसकी सहायतासे नाड़ीपरीक्षा द्वारा सकल प्रकारके रोगोंका भलीभाँति निदान हो सकता है और जिसमें विलक्षणता यह है कि एकमात्र नाड़ीज्ञानसे ही तीन मास, छःमास अथवा उससे अधिक काल पूर्वमें भी भविष्यत् रोगका ज्ञान हो सकता है। यह नाड़ीज्ञानशास्त्र इतना गंभीर और सूक्ष्म है कि आजतक पश्चिमी विद्वान्‌गण उसको समझ नहीं सके हैं। इसके सिवाय शस्त्रचिकित्सामें भी प्राचीन आर्यगणने बहुत उन्नति की थी। डाक्टर रेली साहबने बड़ो प्रशंसाके साथ मुक्तकण्ठ होकर कहा हैः—"प्राचीन भारतवासियोंके ग्रन्थ देखनेसे प्रकट होता है कि वे शस्त्रचिकित्सामें विशेष निपुण थे। प्रायः १२७ प्रकारके शस्त्रोंका वे शरीरपर प्रयोग किया करते थे और शस्त्रव्यवहारके साथ नाना प्रकारकी औषधियोंका भी प्रयोग किया करते थे।" वेबर साहबने कहा है कि शस्त्रचिकित्सामें (Surgery) प्राचीन आर्यगण पूर्णता प्राप्त कर चुके थे और इस विद्यामें पश्चिमी लोग अभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जैसा कि विकृत कान या नाकको सुधारकर नया बना देनेकी किकित्सा पश्चिमी चिकित्सकोंने प्राचीन हिन्दुओंसे ही प्राप्त की है। डाकर हन्टर साहबने भी ऐसी ही आर्य शस्त्रचिकित्साकी बड़ी प्रशंसा की

है। मिस् म्यानिङ्गने कहा है कि प्राचीन हिन्दुओंके शस्त्रचिकित्सायन्त्र ऐसे उत्तम और सूक्ष्म हुआ करते थे कि उनसे केश तक सीधे लम्बे फाड़े जा सकते थे। इस प्रकार पश्चिमी विद्वान् और एतद्देशीय सभी पुरुषोंने प्राचीन आर्यजातिके चिकित्साशास्त्रकी महिमा प्रकट की है।

बुद्धि-विकाशका प्रथम लक्षण शिल्पनिपुणता है। जब बुद्धि सूक्ष्म अवस्थाको धारण करती जाती है तब यद्यपि वह पूर्ण सूक्ष्मताको धारण करके आध्यात्मिक जगत्में पहुंच जाती है, तथापि प्रथम अवस्थामें वह स्थूल जगत्में ही विचरण करती हुई नाना स्थूलजगत् सम्बन्धीय विचित्रताको प्रकाशित करने लगती है। यही बहिर्जगत् सम्बन्धीय विचित्रता शिल्पनैपुण्य है। प्राचीन भारतमें इस विद्याकी पूर्णोन्नति हुई थी। आर्यगणका चतुर्थ उपवेद स्थापत्यवेद ही इसका साक्षी है। यदिच आजकलकी तरह कपड़े बुननेकी कल, मैदा पीसनेकी कल, सिलाई करनेकी कल, सूत कातनेकी कल आदि कलें प्राचीन कालमें नहीं थी, तथापि प्राचीन भारतमें देशोन्नति और धनोन्नतिकारिणी शिल्पविद्या और विज्ञानविद्यामें कितनी उन्नति हुई थी इसकी धारणा भी आजकलके लोग नहीं कर सकते। आर्यशिल्पकी उन्नतिके चमत्कारोंका वेदमें भी वर्णन किया हुआ है। सहस्र द्वार और सहस्रस्तम्भयुक्त अट्टालिका, लोहनिर्मित नगर और प्रस्तर निर्मित पुरीका वर्णन ऋग्वेदमें किया गया है। यह भारतवर्षकी अपूर्व शिल्पनिपुणताका ही कारण है कि विदेशीय जातियोंने उसके लोभसे यहां आकर क्रमशः भारतपर अधिकार जमा लिया है। मय-दानव-निर्मित युधिष्ठिर-की राजसभाका वर्णन महाभारतमें पढ़कर किसके चित्तमें लोभ और उसके देखनेकी इच्छा न होगी? राजसूय यज्ञके समय मयदानवने जो सभागृह बनाया था उसकी तुलना संसारमें नहीं हो सकती। उस सभामें उन्होंने एक अनुपम सरोवर निर्माण किया था। उसमें मणिमय मृणाल (कमलदण्ड) तथा पत्रयुक्त शतदलकमल और काञ्चनमय कुमुदपुष्प सुशोभित थे। अनेक चित्रविचित्र पक्षी केलि करते थे। प्रफुल्ल पङ्कज और सुवर्णनिर्म्मित मत्स्य कूर्मादिकी विचित्रता और चतुर्दिशाओंमें चित्रस्फटिकके सोपानसे युक्त उस निर्मल सरोवर-के चित्रको वास्तविक सरोवर समझकर अनेक राजपुरुष मुग्ध और भ्रान्त होकर उसमें गिर पड़े थे। इस प्रकारका शिल्पवैचित्र्य समस्त पृथिवीमें दुर्लभ है।

आजकल रेलगाड़ीको देख सब लोग आश्चर्य होते हैं परन्तु भारत-वर्षके प्राचीन विमान, अस्त्र, शस्त्र और नाना यान आदिके वर्णनका पाठ करनेसे यह स्वतः ही सिद्ध हो जायगा कि यद्यपि यूरोपने शिल्पविद्यामें बहुत ही

उन्नति की है, तथापि उसकी बुद्धिमें अभीतक यह बात नहीं आती कि किस प्रकारसे प्राचीन आर्योंने उन पदार्थोंकी सृष्टि की थी और किस प्रकारसे भारतने शिल्पविद्यामें इतनी उन्नति कर डाली थी। थोड़े ही दिन पहिले अधःपतित भारतकी जो शिल्पविद्या थी, दीन हीन भारतवासी भी जो काश्मीरी शाल, ढाकाके वस्त्र, काशी आदि स्थानोंके पट्टवस्त्र और नाना सुवर्ण, रौप्य, रत्न आदिसे जड़ित आभूषण आदि बनाया करते थे उसकी समानता अभीतक शिल्पनिपुण यूरोपसे नहीं की गयी है। मिस मैनिङ्गने कहा है कि प्राचीन आर्य्यजातिकी शिल्पकला ऐसी अपूर्व थी कि यूरोपके दर्शक लोगोंको उनकी प्रशंसा करनेके लिये योग्य शब्द ही नहीं मिलते थे। वे लोग उनकी सुन्दरता और कारीगरीको देखकर विस्मयसमुद्रमें एकदम डूब जाते थे। प्राचीन ग्रीक और मिश्र देशकी शिल्पविद्याके साथ तुलना करके प्रोफेसर हीरेन साहबने कहा है कि मूर्तियोंका निर्माण और बाहरकी सजावटमें आर्यशिल्प ग्रीस और मिश्रदेशके शिल्पसे बहुत उन्नत था। कर्नल टाड साहबने कहा है कि भारतीय प्राचीन स्तम्भ और मूर्त्ति आदिके देखनेसे मालूम होता है कि मानों कलासुन्दरीने अपनी समस्त सुन्दरताको प्राण खोलकर भारतवर्षमें प्रकट कर दिया है। यहांपर सभी शिल्पकौशल पूर्णताके पदपर प्रतिष्ठित हो गया है। वैरन डालवर्ग साहबने द्वारकापुरीकी शिल्पकलाको देखकर उसे "चमत्कार पुरी" कह दिया था और कहा था कि प्राचीन आर्य्यजातिने यहांपर शिल्पविद्याको पृथिवी भरकी अन्य सब जातियोंकी अपेक्षा पूर्णतापर पहुंचाया है। इलोरा आदि स्थानोंके गुफामन्दिर, श्रीजगन्नाथ आदि देवताओंके देवालय, चित्तौड़ आदिके दुर्ग, कटक आदि स्थानोंके नदीबन्ध, आगरेका ताजमहल आदि प्राचीन स्थानोंके देखनेसे प्राचीन भारतकी शिल्प-उन्नतिका दृढ़प्रमाण मिल सकता है। इलोराके गुफामन्दिरको देखकर तो पश्चिमी लोग स्तब्ध हो गये हैं। उनकी बुद्धिमें ही यह बात नहीं आती कि पहाड़ खोदकर इतनी मूर्तियां और इस प्रकारके गृह कैसे बन सकते हैं। प्रोफेसर हीरेनने इसके विषयमें कहा है कि इलोराके गुफाद्वारमें प्रवेश करते समय हृत्कम्प होता है कि ऐसे ऐसे हल्के स्तम्भोंके ऊपर इतना विशाल छत्र कैसे रक्खा गया है और दोनोंके वजन और शक्तिके अनुपातका हिसाब किस तरहसे किया गया है। इसको सोचकर प्राचीन आर्यशिल्पकी अपूर्वताके विषयमें अनुमान होता है। पहाड़के गात्रपर खोदा हुआ इस प्रकारका शिल्पकलायुक्त सुन्दर मन्दिर पृथिवीमें और कहीं भी नहीं है। प्राचीन आर्यजातिकी शिल्पविद्याका यह अद्वितीय प्रमाण है। इसी प्रकार पूनेके पास कारोलिका गिरि-

गुफा, सालसती गुफा, अयन्ता गिरिगुफा आदि सभी प्राचीन आर्यशिल्पकी पराकाष्ठाकेपरिचायक हैं। उदयगिरि तथा खंडगिरिमें जो शिला मन्दिर प्रतिष्ठित हैं, भुवनेश्वरमें जो अपूर्व मन्दिर विराजमान है, इन सभोंकी तुलना संसारमें कमही मिलती है। फर्गुसन साहबने कहा है कि डाट बनानेका कौशल प्राचीन आर्यजाति ही जानती थी और यह कौशल भारतवर्षसे ही अन्य देशोंमें प्रचारित हुआ है। अध्यापक वेबर साहबने कहा है कि पश्चिमी देशोंमें धर्मालयोंका शिखर भारतवर्षके बौद्धमन्दिरोंके शिखरोंके अनुकरणपर निर्माण किया गया है। हण्टर साहबने कहा है कि वर्त्तमान समयमें अंग्रेज शिल्पिगण जो कुछ शिल्पनैपुण्यका परिचय दे रहे हैं इनमेंसे अधिकांश शिल्प आर्यशिल्पके अनुकरणपर ही बना हुआ है। किसी किसीका यह कहना है कि सारासेन जातिने ही प्रथम डाटनिर्म्माणका आविष्कार किया था; परन्तु कर्नल टाड साहबने स्वप्रणीत राजस्थान नामक ग्रन्थमें प्रतिपादन किया है कि सारासेन जातिने प्राचीन आर्यजातिसे ही उस प्रकारके डाट बनानेकी पद्धति सीखी थी। इस प्रकारसे अनुसन्धान द्वारा सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजातिने स्थापत्य विद्या तथा शिल्पकलाकी विशेष उन्नति की थी, जिसका कङ्काल आज भी सर्वत्र देखनेमें आ रहा है।

इस प्रकार सर्वतोमुखिनी उन्नतिके साथ सर्वतोगामिनी व्यापकताके भी भूरि भूरि प्रमाण आर्यजातिमें देखनेमें आते हैं। प्राचीन कालमें आर्यजाति देशविजय, राज्यविस्तार, देशभ्रमण, उपनिवेशस्थापन, वाणिज्यवृद्धि आदिके लिये पृथिवीके सब देशोंमें ही गमन करती थी; इसका प्रमाण पाश्चात्य और एतद्देशीय सभी प्राचीनतत्त्वके वेत्ता पण्डितोंने दिया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें राजा सुदासके विषयमें लिखा है उन्होंने ससागरा पृथिवीको जय करके सर्वत्र ही अपना अधिकार विस्तार किया था। एल्फिन्स्टन और ष्टोन साहबने कहा है कि पारस्यदेशका एक तो तिहाई अंश प्राचीनकालमें हिन्दुओंके अधीन था। कर्नल टाड साहबने कहा है मुसलमानी राज्यके पहले हिन्दुओंका अधिकार मध्यएशियाके अनेक स्थानोंमें था। वेबर साहब अपने प्रणीत Indian Literature नामक ग्रन्थमें अनेक प्रमाणोंके द्वारा बताया है कि प्राचीनकालमें ग्रीस और रोमके साथ आर्यजातिका बहुत ही सम्बन्ध था। हिन्दू राजाओंके प्रासादोंमें ग्रीक स्त्रियां दासीरूपसे रहा करती थीं और वहांके दूत यहां और यहाँके दूत वहाँ प्रायः जाया आया करते थे। भारतवर्षकी प्रकृति पूर्ण होनेसे आदिसृष्टि यहाँ ही हुई थी इसका विज्ञान पहले ही कहा गया है। पृथिवीकी आदि जाति आर्यगण 'पृथिवी पाल' थे इसका भी प्रमाण पहले ही

दिया गया है। यही पृथिवीपालक आर्यजाति प्राचीन कालमें पृथ्वी भरमें विस्तृत होकर राज्यविस्तार और उपनिवेश-स्थापन करती थी, जिसका चिन्ह आज भी सर्वत्र विद्यमान है। दृष्टान्तरूपसे थोड़ासा वर्णन किया जाता है।

पञ्चदश शताब्दिके बीचमें कोलम्बसके द्वारा अमेरिकाका आविष्कार हुआ था, इस बातको पढ़कर अर्वाचीन हिन्दु बहुत ही आश्चर्यान्वित होते हैं; परन्तु उनके पितापितामह आदिने पञ्चदश शताब्दिसे कितने सहस्राब्द पहले अमेरिकाका आविष्कार किया था उसकी खबर दुर्भाग्य, अन्धी, अर्वाचीन हिन्दुजातिको नहीं है। यह खबर अनुसन्धानप्रिय पाश्चात्य पण्डितोंको है। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें लिखा है कि जिस समय यूरोपीय जातिने अमेरिकामें प्रथम उपनिवेशस्थापन किया था उक्त समयतक वहांपर प्राचीन हिन्दुओंका आचार व्यवहार विद्यमान था। यद्यपि भारतके साथ सम्बन्ध विच्छिन्न होनेसे वहांके भारतवासियोंके आचारादिमें अनेक फेर हो गये थे, तथापि आर्य आचारादिका चिन्ह एकबार ही लुप्त नहीं हो गया था। जर्मनीके प्रसिद्ध दार्शनिक और परिभ्रमण करनेवाले बैरन हाम्बोल्ट साहबने कहा है कि अमेरिकामें अब भी हिन्दुओंका परिचयचिन्ह विद्यमान है। पेरु देशके लोगोंके आचारोंके विषयमें चर्चा करते समय मि० पोकक्ने कहा है कि पेरुवासियोंके पितृपुरुषगण किसी समय भारतवासियोंके साथ सम्बन्धयुक्त थे। मि० हार्डिने कहा है कि अमेरिकामें जो प्राचीन प्रासाद-समूह देखनेमें आते हैं वे सब भारतवर्षके मन्दिर-शिखरोंकी तरह हैं। मि० स्कयाटने कहा है कि दक्षिण भारत और भारतीय द्वीपोंमें जो बौद्धमन्दिर देखनेमें आते हैं, मध्यअमेरिकाकी अनेक अट्टालिकाएँ उसीके अनुकरणपर बनी हुई हैं। प्रेस्कट् और हेल्प् साहबने अपने अनेक ग्रंथोंमें अनेक स्थानोंपर लिखा है कि भारतीय देवदेवियोंके अनुकरणपर ही अमेरिकामें देवदेवियोंकी मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं और उसी प्रकारसे पूजादि हुआ करती थी। भारतवर्षकी तरह पृथ्वीपूजा वहांपर प्रचलित थी। भारतवर्षमें श्रीकृष्णपदचिन्ह, श्रीबुद्धपदचिन्ह और श्रीदत्तात्रेय आदिके पदचिन्होंका पूजाकी तरह मेक्सिकोमें भी 'कोयेट्ज़ाल सूर्यकोटल्'नामक देवताके पदचिन्हकी पूजा होती थी। भारतवर्षकी तरह वहांपर भी सूर्य्य और चन्द्रग्रहणके समय उत्सव होता था। यहांपर जिस प्रकार राहु द्वारा चन्द्रसूर्य ग्रासकी कथा प्रचलित है, वहांपर भी ऐसी ही 'माल्य' नामक दैत्य द्वारा सूर्यचन्द्रग्रासकी कथा प्रचलित थी। मेक्सिको देशमें हाथीके शिरसे युक्त एक नरदेवताकी पूजा होती थी। बैरन हम्बोल्ट साहबकी सम्मति है कि उस देवताके साथ हिन्दूदेवता गणेशका सम्पूर्ण सादृश्य मिलता है। भारतवर्षमें 'दशहरा'

उत्सवकी तरह मेक्सिकोमें भी प्रतिवर्ष राम-सीताके नामसे उत्सव होता था। सर विलियम जोन्सने कहा है कि यह एक प्रख्यात विषय है कि पेरुदेशके इनूसेस् लोग अपनेको सूर्यवंशीय कहते हुए गौरव समझते थे और उनका प्रधान पर्वोत्सव रामसीताका ही उत्सव था। इसीसे सिद्ध होता है कि जिस हिन्दु-जातिने एशियाके देशदेशान्तरमें जाकर रामसीताका इतिहास तथा आर्य-आचारोंका प्रचार किया था, उसीने दक्षिण अमेरिकामें जाकर उपनिवेशस्थापन भी किया था। इसके सिवाय युगान्तर, खण्डप्रलय, कूर्मपृष्ठपर पृथिवीधारण, सूर्यपूजा आदि कई एक विषयोंमें भारतवर्षके साथ अमेरिकाका सादृश्य था इसका परिचय मिलता है, जिससे प्राचीन आर्यजातिकी व्यापकता सिद्ध होती है। कितने ही पश्चिमी पण्डितोंने तो यह कहा है कि पृथिवीकी सभी जातियोंकी उत्पत्ति आर्यजातिसे हुई है। आर्यजाति ही सब देशोंमें भिन्न भिन्न समयपर जा बसी है जिससे देश काल तथा आचार-भेदानुसार उनमें अनेक भेद पड़ गये हैं। आचार आदिकी भ्रष्टताके कारण आर्यपदवीसे च्युत होकर वे सब अन्य-जाति कहलाने लग गये हैं। मि० पोकक साहबने कहा है कि पंजाबके रास्तेसे असंख्य हिन्दु यूरोप और एशियाके कई स्थानोंमें गये थे और वे उन्हीं देशोंके अधिवासी बन गये हैं। प्रोफेसर हीरेनने कहा है कि अन्तर्विवाद अर्थात् अपने ही समाजमें लड़ाई झगड़ेके कारण आर्यगण अन्य देशोंमें जा बसे हैं। ऐसा न माननेपर भी ऐसा तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि भारतवर्षमें हिन्दुओंकी अगणित विशाल जातियोंके बसनेके लिये यथेष्ट स्थान नहीं था, इसलिये अन्यान्य अनेक देशोंमें प्राचीन हिन्दुगणने उपनिवेश स्थापन किया था, जिससे संसार-भरका विस्तार आर्यजातिसे ही हुआ है। मनुसंहितामें क्रियालोप और वेद-पाठके अभावसे अनेक क्षत्रियजाति किस प्रकार पतित होकर काम्बोज, शक, यवन, खश, पारद आदि नीचजाति बन गई थी, इसका वर्णन किया गया है, जिसका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। महाभारतके अनुशासनपर्व और शान्तिपर्वमें भी ऐसी अनेक जातियोंका वर्णन देखनेमें आता है, जो आर्य-जातिसे ही क्रियालोपके द्वारा बन गई हैं। यथाः—

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥
द्राविडाश्च कलिन्दाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः।
कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः॥

मेकला द्रविडा लाटा पौण्ड्राः कोन्वशिरास्तथा।
शौण्डिका दरदा दर्वाश्चौराः शर्वरबर्बराः॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥

(अनुशासन पर्व)

वेदाचारके खण्डित होनेसे शक, यवन आदि जातियाँ क्षत्रिय जातिसे बन गई थीं। इस प्रकार शान्तिपर्वमें:—

यवनाः किराता गांधाराश्चीनाः शर्वरबर्बराः।
शकास्तुशारा कंकाश्च पन्हवाश्चान्ध्रमद्रकाः॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः॥

यवन, किरात. गान्धार आदि जो अनेक जातियां चतुर्वर्णसे बन गई हैं उनका धर्म क्या होगा और उनपर शासन भी किस प्रकारसे होगा ऐसा प्रश्न हो रहा है। इसके द्वारा प्राचीन कालमें आर्यजाति पृथिवीकी अन्य सब जातियों-पर आधिपत्य करती थी यह भी सिद्ध होता है। मनसियर डेलबो साहबने कहा है कि हजारों वर्ष पहले जो सभ्यता गङ्गाके तटपर विस्तारको प्राप्त हुई थी उसीका प्रभाव आजतक यूरोप और अमेरिका भोग कर रही है और समस्त सभ्यजगत्की दशदिशाओंमें वही प्राचीन आर्यजातीय सभ्यता विस्तृत हो गई है। प्राचीन आर्यगण इस प्रकार भिन्न भिन्न देशोंमें उपनिवेश स्थापन करनेके लिये स्थलपथ और जलपथ दोनोंके द्वारा ही सर्वत्र गमनागमन करते थे। यवद्वीप, बोर्णियो आदि अतिक्रम करके प्राचीन हिन्दुगण अमेरिका जाते थे, ऐसे प्रमाण अनेक स्थानोंमें पाये जाते हैं। पाश्चात्य पण्डितोंकी आलोचना द्वारा सिद्ध हुआ है कि वेरिङ्ग प्रणाली (Strait) का अस्तित्व पहिले नहीं था। उस समय रूस देशके उत्तरपूर्व प्रान्तीय स्थानोंके साथ उत्तर अमेरिकाके आलास्का देशका संयोग था जिससे भारतवासिगण चीन, मंगोलिया और साइबेरिया होकर अमेरिका जाया करते थे। बौद्धधर्मके प्रादुर्भावके समय बौद्ध मिशनरीगण अमेरिकामें जाया आया करते थे। चीन देशके इतिहासमें इसका प्रमाण मिलता है। प्राचीन मिश्र या वर्तमान अफ्रिका देशमें प्राचीन आर्यगणने जो उपनिवेश

स्थापन किया था उसका वृत्तान्त पहले ही कहा गया है। कई एक आचार-भ्रष्ट क्षत्रियोंको राजा सगरने समाजच्युत किया था। वे ही शक, यवन और पारद कहे जाते हैं। भारतवर्षको छोड़कर इन लोगोंने नानादेशोंमें जाकर उपनिवेश स्थापन किये थे। किसी किसीकी सम्मति है कि इन भ्रष्ट क्षत्रियोंमेंसे 'पारद' लोगोंके द्वारा ही 'पारस्य' देशका नामकरण हुआ है और किसी किसीके मतमें परशुरामके अनुचरगणके द्वारा ही पारस्य देशका नामकरण हुआ है। श्रीरामचन्द्रके किसी वंशजके द्वारा रोमराज्यकी प्रतिष्ठा और मगध राजगणके द्वारा ग्रीसराज्यकी प्रतिष्ठा अनेक पाश्चात्य पण्डितोंकी गवेषणाके द्वारा सिद्ध हुई है। प्राचीन ग्रीसका नाम यवनराज्य था। जर्मन देशमें मनुके वंशजोंने उपनिवेश स्थापन किया था। तुरस्क तथा उत्तर एशियामें हिन्दुओंका ही आधिपत्य था। इन बातोंके अनेक प्रमाण मिलते हैं। चीन देशमें आर्य्यगणका आधिपत्य जमा था, इसका वृत्तान्त चीन देशीय धर्म और जातितत्त्वके देखनेसे निश्चित होता है। अब भी चीन देशके लोग अपनेको आर्य्यवंशीय कहकर परिचय देते हैं। प्राचीन ब्रिटेन द्वीप भी किसी समय आर्य्यगणका अधिकारभुक्त था। आजकल अनेक पाश्चात्य पण्डितोंको गवेषणाके फलसे ऐसाही स्वीकार करना पड़ता है। वे कहते हैं कि प्राचीन ब्रिटेनके 'ड्रूइद' पुरोहितगणकी उत्पत्तिके मूलमें आर्य्यब्राह्मणगण अथवा बौद्धधर्मीय याजकगणका प्राधान्य अवश्यही विद्यमान था। जम्बू, प्लक्ष, पुष्कर, क्रौञ्च, शक, शाल्मली तथा कुश इन सात द्वीपोंकी प्रसङ्गपर चर्चा करके कर्नल विलफोर्ड आदि प्रमुख पाश्चात्य पण्डितोंने जो सिद्धान्त किया है उससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन कालमें समस्त पृथिवी ही आर्य्यजातिकी अधिकारभुक्त थी। कालकी कुटिल गतिसे प्राचीन आर्योंके अधिकारभुक्त अनेक स्थानोंका नाम परिवर्तन होनेसे आर्य्यजातिकी अधिकार-सीमाका पता ठीक ठीक नहीं चलता; परन्तु थोड़ा ही ध्यान देकर विचार करनेसे आर्य्यजातिके 'पृथिवीपाल' लक्षण-की चरितार्थका पूर्णतया प्रतीत हो जायगी। आर्य्यजातिका अधिकारभुक्त प्राचीन गान्धार वर्तमान कान्दाहार है। प्राचीन काम्बोज वर्तमान काम्बोडिया है। प्राचीन पन्हव तथा पारद वर्तमान पारस्य है। प्राचीन यवन आधुनिक ग्रीस है। प्राचीन दरद वर्तमान चीन है। प्राचीन खस वर्तमान पूर्व युरोप है। इस तरह प्राचीन देशोंकी नामावलीका पता लग सकता है, जिससे आर्य्यजातिका समस्त पृथिवीपर अधिकार सिद्ध होता है। अब भी यव और बाली द्वीपके लाखों हिन्दु अधिवासी, काम्बोडियाके अपूर्व मन्दिरोंके ध्वंसावशेष और पृथिवीके

प्रधान अंशोंमें बौद्धधर्म्मका विस्तार, आर्य्यजातिकी सर्वत्र व्यापकताको सिद्ध कर रहे हैं।

प्राचीनकालमें इस प्रकार पृथिवीके सर्वत्र जाने आनेके लिये आर्यगणके पास यान आदिका भी अभाव नहीं था। प्राचीन इतिहास पुराणादिमें जो द्रुतगामी रथ, पोत आदिका प्रमाण मिलता है—जिनके द्वारा थोड़े समयमें ही स्थल, जल तथा आकाशमार्गमें बहुत दूर तक जानेकी बात बताई गई है—उनके द्वारा आधुनिक जहाज, बेलून यारोप्लेन आदिका अस्तित्व सिद्ध होता है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें ३७ सूक्तकी प्रथम ऋक् यह है:—

क्रीलं वः शर्द्धोमारुतमनर्वाणं रथे शुभम् ।
कण्वा अभिप्रगायत ।

इसमें 'अनर्वाणं' शब्दका अर्थ 'अश्वरहित' है और 'मारुत' शब्दका तात्पर्य्य मरुत्दत्त या बाष्पदत्त बलसे है। अतः पूरे ऋक्का यह अर्थ निकलता है कि हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षिगण! जिस प्रकारसे बाष्पके प्रभावसे अश्वरहित रथ चल सकता है, उसकी शिक्षा हमें दीजिये। अतः इस ऋक्के द्वारा अश्व-रहित बाष्पीय रथ प्राचीन कालमें था ऐसा सिद्ध हुआ। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ९७ सूक्तमें लिखा है:—

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षाः स्वस्तये ॥

हे विश्वतोमुख देव! तुम हमारे शत्रुओंको जहाजसे पार करनेकी तरह दूर भेज दो और हमारे कल्याणके लिये हमें जहाजके द्वारा समुद्र पार ले चलो। इस प्रकार और भी अनेक मन्त्रोंके द्वारा प्राचीन कालमें समुद्रगामी पोत आदिके भी अस्तित्वका प्रमाण मिलता है। केवल समस्त पृथिवीपर अधिकार-विस्तारके लिये ही नहीं, अधिकन्तु वाणिज्य आदिके लिये भी प्राचीन आर्यगण पृथिवीके सर्वत्र जाया आया करते थे। ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके ५५ सूक्तमें धनलाभेच्छु वणिक्गणके समुद्रयात्राका वृत्तान्त लिखा हुआ है। प्रोफेसर म्याक्स डंकारने कहा है कि खृष्टजन्मके २००० वर्ष पहले आर्य्यजाति जहाज़ प्रस्तुत करना जानती थी और समस्त पृथिवीके साथ उसका वाणिज्यकार्य चलता था। प्रोफेसर हीरेन साहबने कहा है कि प्राचीन हिन्दुगण एक प्रकारका जलयान प्रस्तुत करना जानते थे, जिसपर चढ़कर करमण्डल तट,

गङ्गातटस्थ अनेक देश और ग्रीस तथा मछलिपट्टनके अनेक प्रदेशोंके साथ वे वाणिज्य करते थे। हिंदुशास्त्रमें भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यगण काष्ठ विज्ञानको भली प्रकारसे जानते थे और उसी विद्याकी सहायतासे उत्तम और दृढ़ जहाज प्रस्तुत करके देश-विदेशमें जाया करते थे। वृत्त-आयुर्वेदके मतानुसार काष्ठ भी चार वर्णोंके होते थे। यथाः—

लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत् ।
दृढांगं लघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत् ॥
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते ।
दृढांगं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते ।
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिकाष्ठसंग्रहः ॥

जो काष्ठ हलका, नरम और दूसरे काष्ठसे अच्छी तरह मिल सकता है वही ब्राह्मणजातिका काष्ठ है। जो काष्ठ हलका तथा दृढ़ है और अन्य काष्ठसे मिल नहीं सकता, वह क्षत्रियजातिका काष्ठ है। नरम और भारी काष्ठ वैश्यजातिका है और दृढ़ तथा भारी काष्ठ शूद्रजातिका है। दो जातिके काष्ठोंके गुणयुक्त काष्ठ द्विजातीय वर्णसंकर काष्ठ कहलाते हैं। पूर्वोक्त लक्षणानुसार चार वर्णोंके काष्ठ जलयान बनानेके काममें आते थे। उपयुक्त श्लोकोंके द्वारा इस ग्रंथके द्वितीय खण्डमें वर्णधर्म नामक अध्यायमें जो वृक्षमें भी चार वर्णोंकी व्यवस्था बताई गई है, उसका प्रमाणित होना सिद्ध होता है। भोजराजने उल्लिखित चतुर्वर्णके काष्ठोंमेंसे जहाज प्रस्तुत करनेके लिये कौन कौन काष्ठ किस प्रकारसे उपयुक्त हो सकते हैं और काष्ठ द्वारा जहाज किस प्रकारसे बनाया जाना चाहिये सो वर्णन किया है। यथाः—

क्षत्रियकाष्ठैर्घटिता भोजमते सुखसम्पदं नौका ।
अन्ये लघुभिः सुदृढैर्दधति जलदुष्पदे नौकाम् ॥
विभिन्नजातिद्वयकाष्ठजाता न श्रेयसे नापि सुखाय नौका ।
नैषा चिरंतिष्ठति पच्यते च विभिद्यते सरिति मज्जते च ॥

भोजराजके मतानुसार क्षत्रिय-काष्ठ-निर्मित जलयान ही सुख तथा धनका देनेवाला होता है। अधिक जलमें तैरनेके लिये भी इस प्रकारलघु और दृढ़ काष्ठ-युक्त-यान ठीक होता है। वर्णसंकर काष्ठ अर्थात् विभिन्न दो

जातियोंके काष्ठ द्वारा निर्म्मित जलयान कदापि मङ्गल तथा सुख देनेवाला नहीं होता, क्योंकि ऐसा यान बहुत दिनों तक काम नहीं दे सकता; शीघ्र ही सड़ जाता है, थोड़ा आघात पानेसे ही फट जाता है और समुद्रमें डूब जाता है।

युक्ति-कल्पतरुमें आकारके भेदके अनुसार जहाजोंके दश भेद बताये गये हैं। यथाः—

क्षुद्राथ मध्यमा भीमा चपला पटला भया।
दीर्घा पत्रपुटा चैव गर्भरा मन्थरा तथा॥

आकारभेदानुसार जलयानके दश भेद होते हैं। यथाः—क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला,पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा तथा मन्थरा। ये सब भेद सामान्य जलयान अर्थात् नदीमें जानेवाले जलयानके हैं। इनके अतिरिक्त समुद्रमें जानेवाले अर्थात् विशेष दीर्घ जलयानके भी दश भेद हैं। यथाः—

दीर्घिका तरणिर्लोला गत्वरा गामिनी तरिः।
जंघाला प्लाविनी चैव धारिणी वेगिनी तथा॥

दीर्घिका, तरणि, लोला, गत्वरा, गामिनी, तरि, जंघाला, प्लाविनी, धारिणी और वेगिनी। महाभारतके आदिपर्वमें लिखा हैः—

ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम्॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विश्रम्भिभिः कृताम्॥

महात्मा विदुरजीने पाण्डवोंकी रक्षाके लिये गंगातटपर ऐसे एक विश्वासी पुरुषोंसे अधिष्ठित जहाजको भेज दिया, जिस जहाजमें सभी प्रकारके यन्त्र थे, ध्वजा थी और पवनवेगको सहन करनेकी भी शक्ति थी। रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा हैः—

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्त्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनान्तिष्ठन्त्वत्यभ्यचोदयत्॥

शत्रुओंके पथरोध करनेके लिये शत शत कैवर्त युवक ५०० जलयानोंमें इधर उधर छिपे रहे। ऐसे अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें आर्यगण जहाज आदि जलयान बनानेके कौशलको पूर्णतया जानते

थे और इस प्रकार अर्णवपोत आदिमें चढ़कर दिग्विजय और वाणिज्य आदिके लिये समुद्रपथसे दूर दूर देशोंमें यातायात करते थे।

वाणिज्यके विषय प्राचीन आर्य-इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे पता लगता है कि आज कलकी तरह प्राचीन हिन्दुजाति विदेशीय लोगोंके हाथमें समस्त वाणिज्य धनको सौंप कर दीन हीन भिखारी और परमुखापेक्षी नहीं हो गई थी, किन्तु अपनी अनुपम वाणिज्य समृद्धिके द्वारा समस्त संसारकी अधिपति थी। प्राचीन कालमें भारत अतुल ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण स्वर्णभूमि कहलाता था, आर्यजातिका वाणिज्य ही इसका प्रधान कारण था। मिस म्यानिङ्गने कहा है कि भारतवर्षकी अनेक वस्तुएँ देशान्तरमें देखनेसे तथा संस्कृत ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्यजाति वाणिज्यपरायण जाती थी। मि० एलफिन्ष्टोनने कहा है कि मनुजीके समयमें भी आर्यगण समुद्रपथसे वाणिज्य करते थे क्योंकि उनके ग्रन्थ पढ़नेसे ऐसा ही निश्चय होता है। मैक्स डनकर साहबने कहा कि खृष्ट जन्मसे दश शताब्दि पहले फिनिशियन् जातिके साथ आर्यजातिका हस्तिदन्त चन्दन-काष्ठ स्वर्ण, रौप्य, मणि तथा मयूर आदिका वाणिज्य चलता था। यह एक प्रसिद्ध बात है कि ग्रीकजातिने भारतवासियोंसे ही चीनीका व्यवहार पहले सीखा है। अंग्रेजी सुगर शब्द संस्कृत 'शर्करा' से ही बना हुआ है। पश्चात् अरब, पारस्य और यूरोपके अनेक देशोंमें इसका प्रचार हुआ है। मि० मण्डारने कहा है कि सेलूसिडिके राज्यकालमें भी सिरीयाके साथ आर्यजातिका वाणिज्य चलता था। भारतवर्षके लोह, अलंकार और बहुमूल्य वस्त्र जहाजोंके द्वारा यहांसे ब्याविलोन और टायर देशमें जाया करते थे। मिश्र देशके साथ वाणिज्य सम्बन्धके विषयमें तो पहले ही कहा गया है। रेशम, प्रवाल, मुक्ता, हीरा आदिका व्यापार सदा ही मिश्र और तदन्तगत अलगज़ेण्ड्रियासे था। हस्तिदन्त और नीलका वाणिज्य ग्रीसके साथ प्राचीन आर्यजातिका था। रोमके साथ भारतवासियोंका नाना प्रकारके सुगन्धी द्रव्य और मसालोंका व्यापार था, ऐसा प्रो० हीरेन साहबने कहा है। प्राचीन रोम देशकी स्त्रियां भारतीय रेशम और सुगन्ध द्रव्यको इतना पसन्द करती थीं कि सोनेके दामसे उसे खरीदती थीं। प्लैनी साहबने दुःख प्रकाश किया है कि इस प्रकारसे रोमके सकल प्रान्तोंसे भारतवर्षमें प्रतिवर्ष ४० लाख रुपया चला जाता था। इस प्रकार वाणिज्यके विषयमें पाश्चात्य पण्डितोंके प्रमाणोंके अतिरिक्त हिन्दूशास्त्रीय प्राचीन और आधुनिक ग्रन्थोंमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वे-

दके चतुर्थ मण्डलमें इस प्रकार आर्यवणिक्गणकी समुद्रयात्रामें जो वर्णन है, सो पहले ही कहा गया है। याज्ञवल्क्य संहितामें एक स्थानपर लिखा है:—

ये समुद्रगा वृद्धया धनं गृहीत्वा अधिकलाभार्थं प्राणधनविनाशशंका-स्थानं समुद्रं गच्छन्तिते विंशं शतकं मासि मासि दद्युः।

इसमें अधिक लाभके लिये रुपया लेकर आर्य वणिक्गण समुद्र यात्रा करते थे ऐसी सूचना की गई है। बृहत् संहितामें लिखा है—

स्वातौ प्रभूतवृष्टिर्दूतवणिङ् नाविकान् स्पृशत्यनयः।
ऐन्द्राग्नेऽपि सुवृष्टिर्वणिजां च भयं विजानीयात्॥
अथवा समुद्रतीरे कुशलागतरत्नपोतसम्बन्धे।
धननिचुललीनजलचरसितखगशवलीकृतोपान्ते॥

इसमें पहले श्लोकमें स्वाति नक्षत्रके साथ वृष्टिका सम्बन्ध बताकर समुद्र-यात्रा करनेवाले आर्यवणिक्जनोंको सावधान किया गया है और दूसरे श्लोकमें समुद्रतीरपर जहां कि धनरत्नसे भरे हुए जलयानके समूह विदेशसे वाणिज्य करते हुए आते हैं, वहां स्नान करनेका माहात्म्य लिखा गया है। वायु-पुराण मार्कण्डेयपुराण और भागवतपुराणमें आर्यवणिक्गणके जलपथसे वाणिज्य करनेके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। वाराहपुराणमें गोकर्ण नामक एक वणिक्के विषयमें लिखा है कि उसने वाणिज्य करनेके लिये समुद्रमें जाकर आंधीके द्वारा बड़ा ही कष्ट पाया था और वह डूबता हुआ बच गया था। उसी पुराणमें और एक स्थानपर लिखा है:—

पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता।
समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभिः॥
रत्नपरीक्षकैः सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च।
एवं निश्चित्य मनसा महासार्थपुरःसरः॥
समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं सूच्य निर्गतः।
शुकेन सह संप्राप्तो महान्तं लवणार्णवम्॥
पोतारूढास्ततः सर्वे पोतवाहैरुपोषिता।

इन श्लोकोंमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि भारतीय वणिक्लोग प्राचीन कालमें मुक्ता आदि रत्नोंके प्राप्त करनेके लिये रत्नपरीक्षक लोगोंके साथ

समुद्रयानमें दूर दूर जाते थे। केवल जलथलमें ही नहीं-अधिकन्तु स्थलपथमें भी—प्राचीन आर्य्य जातिने समस्त पृथिवीके साथ वाणिज्य सम्बन्ध स्थापन किया था। चीन, तुर्किस्तान, पारस्यदेश, बैबिलोन, मिशर, ग्रीस, रोम आदि देशोंके साथ आर्य्यजातिके स्थलवाणिज्यका भी सम्बन्ध था। प्रो० हीरेनने कहा है कि पश्चिम एशियाके पामीरियान् लोगोंके साथ हिन्दुओंका स्थलपथमें वाणिज्य था। इस पामीराके पथसे हिन्दुगण रोममें यातायात करते थे। वहांसे सिरियाके बन्दरमें होकर अनेक पश्चिमी देशोंके मार्ग बने हुए थे। स्थलपथसे वाणिज्यका दूसरा भी एक मार्ग बना हुआ था। यथाः—हिमालयको पारकर अक्सस्, वहांसे कसयन् सागर और वहांसे क्रमशः यूरोपके बाजारोंमें। इस प्रकार कई मार्गोंसे हिन्दुजातिका स्थलपथसे वाणिज्य चलता था।

यद्यपि आर्य्यजातिके प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थोंका बड़ा भारी हिस्सा लुप्त हो गया है और उसका केवल एक सहस्रांश इस समय मिलता है ऐसा कहनेसे अत्युक्ति नहीं होगी; तौ भी जितने ग्रन्थ इस समय मिलते हैं उनकी ही आलोचनासे यह सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत्के विस्तारित ज्ञान लाभ करनेमें प्राचीन आर्य्यजातिने ऐसी बड़ी योग्यता दिखाई है, जिसकी आजतक पृथिवीकी और कोई जाति कल्पना भी नहीं कर सकी है। आर्य्यजातिके सप्तदर्शन विज्ञान, आर्य्यजातिकी मन वाणीसे अगोचर ईश्वरज्ञानकी विलक्षणता, आर्य्यजातिका भगवत्सम्बन्धीय ब्रह्म, ईश और विराट्रूपोंका अनुभव, आर्य्यजातिकी सगुण और निर्गुण उपासना पद्धति, आर्य्यजातिकी अलौकिक योगसाधन-पद्धति, आर्य्यजातिके कर्म्मविज्ञानका महत्त्व और आर्य्यजातिके मुक्तितत्त्व आदिकी बराबरी पृथिवीकी और कोई शिक्षित जाति न कर सकी है और न कर सकेगी। अतीन्द्रिय अधिदैव सूक्ष्म राज्यके विषयमें आर्य्यजातिने जो कुछ बड़ा भारी आविष्कार किया है उसको विश्वास करने तककी शक्ति अभीतक पृथिवीकी और किसी जातिमें उत्पन्न नहीं हुई है आर्य्यजातिके ऋषि देवता और पितरोंके अस्तित्व और उनकी शक्तिका विज्ञान, आर्य्यजाति द्वारा आविष्कृत सप्त ऊर्द्ध्वलोक, सप्त अधोलोक, स्वर्गलोक, नरकलोक, पितृलोक, प्रेतलोक आदि विविध लोकोंकी विचित्रता, आर्य्यजातिका अवतारतत्त्व, आर्य्यजातिके गंभीर गवेषणापूर्ण तीर्थ और भगवत् शक्तिमय पीठ आदिकी महिमाके समझनेकी शक्ति और आर्य्यजातिकी देवता आदिसे साक्षात्कार करनेकी शैली इत्यादि अनेक बातें विज्ञानशास्त्र (सायन्स) की ऐसी उन्नतिके समयमें भी पृथिवीके नीचे दबे हुए खजानेकी सी प्रतीत होती हैं।

अतः पूर्वापर समस्त इतिहासकी पर्यालोचना तथा विचारके द्वारा निश्चय हुआ कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सकल विषयोंमें ही पूर्णप्रकृतिमयी भारतमाताके पवित्र अङ्कमें शोभायमान प्राचीन आर्यजाति सर्वतोमुखिनी उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुंच गई थी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

ऊपर जितने पश्चिमीय पण्डितोंके प्रमाण आर्यजातिकी सर्वाङ्गीण पूर्णताके विषयमें दिये गये हैं पाठकगणके पढ़नेके सुविधार्थ उनके ग्रन्थोंके नाम लिखे जाते हैं, यथा—

मोक्षमूलर—India what it can teach us, हीरेन—Historical Researches. मरे—History of India, टाड—Rajasthan. जोर्नस् जार्ना—Theogony of the Hindus. एरियन—Indica. यूलियम्स्—Modern India and the Indians, वैरन हाम्बल्ट्—Hindu Mythology पोकक—India in Greece. हार्डि—Eastern Monarchism, स्कयार—Serpent Symbol. विलियम जोन्स—Asiatic Researches, मिस मैनिङ्ग—Ancient and Mediæval India. एलफिनस्टोन—History of India, मैक्स डङ्कार—History of Antiquity. मण्डार—Treasury of History. वैरन डालवर्ग—Geographical Ephemerides. फर्गुसन—History of Indian and Eastern Architecture. वेवर—Indian Literature. विल्सन—Wilson's Works. विलियम हन्टार—Imperial Indian Gazetteer. मैफी—Hist, Indica. कौलमेन—Hindu Mythology. ए.सी. विल्सन—Hindu System of Music. मैकडोनेल—History of Sanskrit Literature. मनियर विलियम—Indian Wisdom, वालेस—Edinburgh Review. मोक्षमूलर—Science of Language. वोप—Edinburgh Review. श्लेजेल—History of Literature. टेलर—Journal of the Royal Asiatic Society, डूवो—Bible in India, विल्सन—Mill's History of India. हार्बर्ट स्पेन्सर—Autoliography. रावर्टसन—Disquisition Concerning India. मेटकाफ—Report of the select committee of the House of Commons.

आर्यजातिके लक्षण आदि निवासस्थान तथा गौरवके विषयमें वर्णन किया गया। अब नीचे इस जगत्पूज्य आर्यजातिके साथ अनार्यजातिकी विशेषता बताई जाती है। पहले ही कहा गया है कि यास्क मुनिने आर्यजातिका लक्षण

वर्णन करते समय उसको 'ईश्वरपुत्र' कहा है। अनार्यजातिके साथ विशेषताके विषयमें आर्यजातिका यही एक प्रधान लक्षण है। जिस जातिकी जीवन-धारा पुण्यवाहिनी होकर अमृतसिन्धुकी ओर नित्यगतिसे धावमाना होती है, जिस जातिकी समस्त चेष्टा, आचार, नित्य-नैमित्ति-काम्य आदि समस्त कार्योंके मूलमें अध्यात्मलक्ष्य ही रहता है, जो जाति खान पानसे लेकर जीवन-संग्रामका सकल पुरुषार्थ ही पारलौकिक कल्याण और मुक्तिलाभके लिये किया करती है, गीताविज्ञानके अनुसार अग्निमें धुएंकी तरह समस्त कार्य दोष-युक्त होनेपर भी अमृतकी मधुर धारासे सिंचित होकर जिस जातिका समस्त कार्य निर्दोष और निःश्रेयसप्रद हो जाता है वही जाति आर्यजाति है और जिस जातिके किसी कार्यके मूलमें अध्यात्मलक्ष्य नहीं है, जो जाति मुक्तिको लक्ष्य करके कार्य नहीं करती किंतु स्थूलशरीरके वैषयिक विलासके लिये ही कार्य करती है, स्थूलसंसारकी उन्नतिमें ही जिस जातिका पुरुषार्थ प्रारम्भ और समाप्त होता है, वही जाति हिंदु शास्त्रोंके अनुसार अनार्यजाति है। हिंदुशास्त्रोंमें आर्य्यजाति और अनार्यजातिका जो भेद वर्णन किया गया है सो मनुष्यजातिके किसी शारीरिक लक्षणके विचारसे नहीं किया गया है। वेदसम्मत शास्त्रोंमें आर्य्यजाति और अनार्यजातिका भेद मनुष्यजातिके धार्मिक विचार और जीवनके लक्ष्यके अनुसार किया गया है। इस कारण हिंदूशास्त्रके "आर्य्य" शब्द और पाश्चात्यसाहित्यके "एरियन" शब्दमें आकाश पातालकासा अन्तर है।

संसारमें जीवनधारण कौन नहीं करता है। एक पशु भी प्रकृतिदत्त अन्नसे परिपुष्ट होकर अपनी निर्दिष्ट आयुको बिताया करता है; परंतु यथार्थ आर्य-का जीवनधारण वही है जिसमें आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त होकर अपना और जगत्का परम कल्याण साधन हो। अन्यथा प्रकृतिमाताका अन्न ध्वंस करके विषयके मलिन प्रवाहमें अपने आत्माको डालकर जीवन बिताना अनार्यवत् जीवनधारण है। बाल्यजीवन सार्थक तभी है, जब बाल्यजीवनके सदाचरण और शिक्षा द्वारा यौवनजीवन धर्ममय और आत्मोन्नतिमय हो। यौवनजीवन सार्थक तभी है, जब यौवनजीवनके यथार्थ बितानेके फलरूपसे वृद्धावस्थामें आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो। वृद्धावस्थाकी सार्थकता तभी है, जब वार्द्धक्यकी मुनि-वृत्तिके द्वारा पुनर्जन्म मधुरिमामय हो जाय। इहलोककी सार्थकता तभी है, जब इहलोकके धर्मपुरुषार्थके द्वारा परलोक सुधरजाय। जन्म वही यथार्थ है, जिसके द्वारा पुनर्जन्मका निरोध होकर दुःखमय संसारमें जन्ममरणका चक्र शान्त हो जाय। मृत्यु वही यथार्थ है, जिसके कारण अमृतके अतलसिंधुमें स्नान करके

पुनर्मृत्युका निरोध हो। जीवनका एक मुहूर्त्त या एक अवस्था यदि दूसरे मुहूर्त्त या दूसरी अवस्थाकी उन्नतिका कारण हो; तो वह मुहूर्त्त या वह अवस्था सार्थक है। अन्यथा सुखदुःखमय अनित्य संसारमें कौन नहीं जीता मरता है? यही आर्यजातीय भावके अनुसार जीवनयात्राका विचार है। इससे विरुद्ध जो कुछ विचार हैं सो अनार्य विचार हैं। हम आर्य इसलिये हैं कि हम आध्यात्मिक धर्मयुक्त (spiritual) हैं। हमारी जीवनगति स्थूल (material) में प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक (spiritual) में जा समाप्त होती है। हमारे लिये स्थूल लक्ष्य (material end) नहीं है परन्तु आध्यात्मिक लक्ष्य (spiritual end) है और स्थूल (meterial) उसी लक्ष्यका साधक (means to that end) है। हमारे पास स्थूल (material) का कोई मूल्य नहीं है, यदि वह आध्यात्मिकता (spiritual) को बाधा देवे और उसका सहायक न होवे। तात्पर्य्य यह है कि आर्य्यजातिकी सब शारीरिक और मानसिक चेष्टा उसकी आत्माकी उन्नतिके लिये है। यदि ऐहलौकिक उन्नतिकी उसमें कुछ इच्छा भी हो तो सो भी आत्माकी उन्नतिकी सहायक होनी चाहिये। हमारा ब्रह्मचर्य-आश्रम तभी यथार्थमें ब्रह्मचर्याश्रम होगा, जब उसके द्वारा गृहस्थाश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्ति करनेकी शिक्षा लाभ हो। हमारे गृहस्थाश्रमकी प्रवृत्ति तभी धर्ममूलक यथार्थ प्रवृत्ति होगी, जब उसके द्वारा वानप्रस्थ और संन्यास आश्रममें पूर्ण निवृत्तिकी सहायता हो। हमारा वानप्रस्थाश्रम तभी सार्थक होगा, जब उसके द्वारा संन्यासकी सिद्धि हो। हमारा संन्यास आश्रम तभी सत्य संन्यास होगा, जब उसके द्वारा निःश्रेयस पदवीपर प्रतिष्ठा लाभ हो। अन्यथा ब्रह्मचारी बनकर कपटाचारी होना; गृहस्थ बनकर घोर विषयी होना; वानप्रस्थ होकर ऊपरका आडंबर मात्र बताना और संन्यासी होकर असंयमी और प्रच्छन्नविषयी होना अनार्य भाव है। हमारा होम यदि केवल स्थूल प्रकृतिपर प्रभाव डालकर वायुशुद्धि मात्र करके शक्तिहीन हो जाय, तो इस प्रकारका होम आर्योंका होम नहीं कहा जा सक्ता। आर्यलक्षणयुक्त होम तभी होगा जब अग्निसमर्पित होम अग्निमुख देवताओंके साथ अधिदैवसम्बन्ध स्थापन करके अधिदैवशक्तिकी प्रसन्नता तथा सम्वर्द्धनाके द्वारा संसारमें धन, धान्य, पशु, प्रजा, शक्ति, सुख और समृद्धिकी वृद्धि करेगा। जैसा कि मनुजीने कहा हैः—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें समर्पित आहुति सूर्यात्माको प्राप्त होती है और इस प्रकार समस्त दैवीशक्तिके मूलरूप सूर्यात्माकी तृप्ति होनेसे प्रसादके फलरूपसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। यही यथार्थमें आर्यहोम है। संसारमें पेट भरनेके लिये भोजन कौन नहीं करता है; परंतु आर्यभोजन केवल उदर-पूर्तिके लिये नहीं है, अधिकन्तु वैश्वानरको आहुति प्रदान द्वारा उनकी तृप्तिसाधन करनेके लिये है। यदि आर्यजाति केवल जिह्वाकी तृप्तिके लिये भोजन करे तो इस प्रकारका भोजन अनार्य भोजन होगा। आर्यजातिका भोजन स्थूल शरीरकी रक्षाके लिये है और स्थूलशरीरकी भी रक्षा केवल सूक्ष्मशरीरकी रक्षाके द्वारा आत्मोद्धार करनेके लिये है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है:—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

यज्ञद्वारा परितुष्ट होकर देवतागण धनादि भोग्यवस्तु प्रदान करेंगे; परंतु उनके द्वारा प्रदत्त वस्तुओंको उन्हें निवेदन न करके जो भोजन करता है वह चोर है। यज्ञावशिष्ट अन्न प्रसादरूपसे भोजन करनेपर समस्त पापसे जीव निर्मुक्त होता है। केवल अपनी उदरपूर्त्तिके लिये भोजन करना पाप भोजन मात्र है। इस प्रकार सकल अन्नको भगवान्‌को समर्पण करके प्रसाद भोजन करना ही आर्यजातीय भोजन है; क्योंकि भोजनमें प्रसादबुद्धि उत्पन्न होनेसे भोगबुद्धि नष्ट होती है और इस प्रकार भोजनके प्रति लोभ उत्पन्न न होनेसे भोग्यवस्तुके द्वारा बन्धन प्राप्त नहीं होता है और प्रसाद बुद्धिके फलसे पापनाश, शान्ति और आत्मोन्नति होती है। आर्य्यजातिका भोजन इष्टदेवकी सेवाके अर्थ निवेदित हो कर—अतिथि सेवा पोष्यवर्गकी सेवा आदि द्वारा पवित्र होकर—केवल शरीर रक्षाके लिये ग्रहण करने योग्य है। यही आर्य्यजातिका भोजन है। जिस भोजनमें ये सब लक्षण न पाये जायँ वह अनार्य्य भोजन है। संसारमें अर्थ-लालसा-परायण होकर समस्त पुरुषार्थशक्तिको धनसम्पत्तिवृद्धिके लिये प्रयोग करके उसीको जीवनका लक्ष्य बनाना, आर्यभावसुलभ लक्ष्य नहीं है; क्योंकि जहांपर स्थूल शरीरकी रक्षा आत्मोन्नतिसाधन मात्रके लिये है, स्थूल वैषयिक तृप्तिके लिये नहीं है, वहांपर धनसम्पत्ति संग्रह जीवनका लक्ष्य नहीं हो सकता। जिस जातिमें पूज्यतम तथा श्रेष्ठतम पुरुष वे माने जाते हैं जिन्होंने गीतोक्त 'समलोष्टा

श्मकाञ्चन' (पत्थर और सोनेमें समबुद्धि) भावको प्राप्त किया है और जिनके सामने समस्त संसारकी सम्पत्ति तुच्छ है। इस प्रकार त्यागकी महिमा जिस जातिमें सर्वोपरि गाई गई है उस जातिमें अर्थप्रियता कब जातीय आदर्श हो सकती है? इसलिये आर्यजातिका अर्थोपार्ज्जन विषयविलासके लिये नहीं है किंतु शरीरयात्रानिर्वाह तथा परोपकार साधनके लिये है। इससे विपरीत आदर्श अनार्यजातीय है।

भावकी कैसी अपूर्व महिमा आर्यजातीय जीवनमें प्राप्त होती है। आर्य-जाति नीचसे नीच कार्यको भी भाव शुद्धि द्वारा धर्ममय और अमृतमय बना सकती है। भावजगत्की यह अपूर्वता पुण्यश्लोक आर्यजातिमें ही प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र कहीं नहीं। काम जैसा प्रबल शत्रु, कामक्रिया जैसी पाशविक क्रिया, संसारमें और क्या हो सकती है? परंतु जिस कार्यके साथ सृष्टि विस्तार और प्राकृतिक प्रेरणाका सम्बन्ध है उसे एकाएक त्याग करना जीवके लिये असम्भव है; इसलिये जिस पाशविक कार्यको त्याग नहीं कर सकते हैं, उसमेंसे भावशुद्धि द्वारा पशुभावका अंश नष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। यही आर्यजातीय भावशुद्धिका लक्षण है। आर्य्यजातिका विवाह कामके तरंगमें इन्द्रिय तथा चित्तवृत्तिको डालकर पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं है, किन्तु स्वाभाविक विषयस्पृहाको नियमबद्ध करके धीरे धीरे उसे नष्ट करके निवृत्तिसेवी बननेके लिये है। आर्यजातिका गृहस्थाश्रम अनर्गल भोगविलासमें लिप्त होनेके लिये नहीं है, किन्तु प्रारब्धकर्मजनित भोग-संस्कारको निर्बीज करके संन्यासाश्रमकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये है। आर्य्यजातिमें पतिपत्नीसम्बन्ध कामका दास बननेके लिये नहीं है, किंतु गर्भाधान संस्कारके अनुसार धर्मा-नुकूल कामके द्वारा संसारमें धार्मिक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये है। यही आर्य्यजातिकी अनार्यजातिसे विशेषता है। इस प्रकार सकल कार्योंमें आध्यात्मिक भावका पोषण करके आर्य्यजाति अपने जीवनको उपासनामय और ज्ञानमय बनाती है। उसकी सकल इंद्रियोंकी गति अध्यात्मसिंधुकी ओर और बुद्धिवृत्ति-की गति ज्ञानार्णवकी ओर हो जाती है। आर्य्यनेत्र गंगा यमुनाकी धाराओंमें भगवान्‌की प्रेमधाराको निरीक्षण करते हैं; हिमालयके विराट् शरीरमें भगवान्‌की विराट् मूर्तिका दर्शन करते हैं, समुद्रके अनंत विस्तार तथा गंभीरतामें भगवान्‌की अपार उदारता और अनादि अनंतशक्तिका परिदर्शन करते हैं। पुष्पोंके अविश्रांत विकाशमें आनन्दकन्द भगवान्‌की आनन्द सत्ता देखना, वसन्तविलास तथा वर्षाके प्राकृतिक सौन्दर्यमें चिदानन्दकी लहरें निरीक्षण करना, तारागण-

शोभित गम्भीर अमानिशाके गगनमें दिव्यज्योतिर्मय अक्षर-संग्रथित भगवद् भजनावलीका निरीक्षण करना, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त जगत्‌की नित्यगतिको शान्तिमय सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर उपासनाकी अनन्त नदियोंकी गतिके रूपसे देखना और देखते देखते भावसिन्धुके उमड़ आनेसे भावमय विराट् भगवान्‌के अनन्तस्वरूपमें स्रान्त देह, मन और प्राणको विलीन करके निःश्रेयस पद प्राप्त करना, आर्य्यनेत्रोंका यथार्थ दर्शन और चरम परिणाम है। आर्य्यजातिके कर्ण कोलाहलमय संसारके अनन्तनादमें व्याकुल नहीं हो जाते हैं, किन्तु सकल नादोंके मूलमें ओंकारके अविच्छिन्न मधुर गम्भीर निनादको सुनते हैं, जान्हवी तथा यमुनाके तरङ्गभङ्गमें श्रुतिमोहनकल कलगीतका आस्वादन करते हैं, प्रभातके विहङ्गगानमें और भ्रमरोंके गुन गुन गुञ्जनमें भगवान्‌का स्तुतिगान सुनते हैं, यही आर्य्यकर्णोंकी विशेषता है। आँखोंमें दूरवीक्षण या अणुवीक्षण (दूरबीन या क्षुद्रबीन) यन्त्रका संयोग हो जाय, कर्णेन्द्रियकी शक्ति वैज्ञानिक यन्त्रके योगसे वृद्धिगत हो जाय, परन्तु यदि आर्य्यनेत्र संसारके समस्त दृश्यकी विलासकलामें भगवल्लीला माधुरीका निरीक्षण न कर सकें या आर्यकर्ण दशदिशाओंमें श्रीकृष्ण परमात्माकी मधुर वंशिध्वनिको न सुन सकें; तो भारत-माताके अङ्कमें इस प्रकार आर्यगुणहीन सन्तानकी उत्पत्ति ही वृथा भारमात्र है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। संसारके सकल भावोंके मूलमें भगवद्भावका अनुभव करना ही आर्य मनकी आर्यता है। संसारकी सकल सत्ताओंमें ब्रह्म-सत्ताकी उपलब्धि करना ही आर्यबुद्धिकी चरितार्थता है। जब आर्यजाति अपनी जीवनगतिको इसप्रकार आदर्शके अनुकूल बना सकती है, तभी वह स्पर्द्धाके साथ भगवान् शङ्करकी वाणीसे कह सकती है:—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः॥
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद्द यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्॥

हे भगवन्! आप आत्मा हैं, जगदम्बा मति हैं, पंचप्राण सहचर हैं और शरीर गृह है। समस्त विषयभोग भोगके लिये नहीं किन्तु आपकी पूजाके लिये हैं। निद्रा तमोगुणकी परिणामरूप नहीं है किन्तु समाधिरूप शान्तिमें विश्राम और आनन्द भोगरूप है। इतस्ततः भ्रमण आपकी अनन्त मूर्तिकी प्रदक्षिणारूप है। समस्तवाणी आपकी स्तुतिरूप है और समस्त कर्म विषय

विलासमय संसारमें भोग प्रवृत्तिके लिये नहीं हैं किंतु आपकी आराधनारूप है। इस प्रकार समस्त कार्य, समस्त चेष्टाएं और समस्त चित्तवृत्तियां जब भगवत्कार्य तथा भगवद्भावमें ही भावित हो जाती हैं, तभी आर्यजीवन उपासनामय होकर आध्यात्मिक उन्नतिकी चरमसीमामें पहुंच सकता है। यही कल्याणवाहिनी आर्यजीवनतरंगिणीकी सच्चिदानन्द समुद्रकी ओर अविराम गति है और यही अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका एक प्रधान लक्षण है।

अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषताका द्वितीय लक्षण आर्यजातिका सदाचार है। श्रुति, स्मृति और पुराणोंमें जितने प्रकारके सदाचार वर्णन किये गये हैं उनके मूल स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरके उन्नतिकर किस प्रकार वैज्ञानिक तत्त्व भरे हुए हैं और उनके पूर्णप्रतिपालनसे शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति किस प्रकारसे हो सकती है इसका पूरा वर्णन अगले किसी अध्यायमें किया जायगा। आर्य्यजातीय जीवनके प्रत्येक कार्य्यके साथ धर्मका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रहनेसे प्रथम धर्मरूप आचारका प्रतिपालन करनेमें ही आर्य्यका आर्य्यत्व है इसमें सन्देह नहीं। बहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिकी धात्री है। बहिःप्रकृतिमें आर्य्यभाव न रहनेसे अन्तःप्रकृतिमें आर्य्यभाव नहीं रह सकता। बहिःप्रकृतिको आर्य्यभावयुक्त रखनेके लिये जो कुछ प्रक्रिया और अनुष्ठान हैं वही सदाचार कहलाता है। स्थूल दृश्यजगत्में सर्वत्र ही देखा जाता है कि एक जातिके साथ अन्यजातिकी प्रत्यक्ष विशेषता आचारकी विशेषताके द्वारा ही निर्णीत हुआ करती है। आचारकी स्थितिके द्वारा ही एक जाति अन्य सब जातियोंके बीचमें अपनी पृथक् सत्ताको स्थिर रखनेमें समर्थ होती है। जो जाति अपने परम्परागत आचारका त्याग कर देती है अथवा अन्यजातीय आचारोंको मानकर अपने जातीय आचारोंके प्रति उपेक्षा करती है, वह जाति, धीरे धीरे अपनी स्वतन्त्रसत्ताको खोकर अन्य जाति, जिसका कि वह अनुकरण करती है, उसीमें लय हो जाती है। पृथिवीके इतिहासके पाठ करनेसे विदित होगा कि इसी प्रकार अनेक विजित जातियां अपने आचारोंको छोड़ विजेता जातिके आचारोंका पालन करती हुई अन्तमें उसीमें लय हो गई हैं; परन्तु आर्य्यजातिपर इतनी वार विदेशीय जातियोंका आक्रमण होनेपर भी आजतक जो यह जाति अपनी स्थितिके रखनेमें समर्थ हुई है इसमें आर्य्यजातिका सदाचार पालन ही मुख्य कारण है। आर्य्यजातिमें आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णता होनेसे स्थूल आचारकी भी पूर्णता होना स्वाभाविक है और इसलिये सदाचार पालन अनार्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषताका एक लक्षण है।

अनार्यजातिकी विशेषताका तृतीय लक्षण आर्यजातिका वर्ण और आश्रम-धर्म है। आर्यजातिमें वर्णधर्म और आश्रमधर्मका बन्धन नहीं रहे तो वह आर्यभावापन्न नहीं रह सकती। यह बात वर्णधर्मके अध्यायमें पहले ही सिद्ध हो चुकी है कि आर्यजातिमें प्रकृतिक पूर्णता होनेसे त्रिगुणानुसार चातुर्वर्ण्यकी यथावत् स्थिति रहना इसमें स्वाभाविक है। इसी स्वभावसिद्ध नियमके अनुसार अनादिकालसे यह जाति अपनी आर्यभाव-मूलक जातीयताके अटल रखनेमें समर्थ हुई है और आज भी इतने दुर्दिनके समय चातुर्वर्ण्यकी बीजरक्षा द्वारा सनातन आर्यत्वकी बीजरक्षा कर रही है। जातितत्त्वके विज्ञानों पर संयम और धीर विचार करनेवाले लोग अवश्य ही कहेंगे कि प्राकृतिक वर्ण-व्यवस्थाके विना कोई भी जाति बहुत वर्ष पर्यन्त पृथिवीपर अपनी स्वतन्त्र सत्ताके रखनेमें समर्थ नहीं हो सकती और दिन दिन अधोगतिको प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है या अन्य किसी जातिमें लय हो जाती है। इसी प्राकृतिक नियमके अनुसार आर्यजाति भी यदि वर्णधर्मका पालन करना छोड़ दे तो वह भी आर्यभावसे च्युत होकर अनार्यभावापन्न हो जायगी, जिससे और भी अधःपतित होकर अन्तमें नष्ट हो जायगी। यद्यपि त्रिगुणमयी प्रकृतिकी विलास-स्थली भारतभूमिमें पूर्णप्रकृतियुक्त आर्यजातिका पूर्ण नाश होना असम्भव तथा विज्ञानविरुद्ध है, क्योंकि यहांपर त्रिगुणका विकाश स्वतः ही रहनेसे वर्णधर्मकी बीजरक्षा प्रबल तमोगुणके कालमें भी अवश्य ही होगी, तथापि वर्णव्यवस्थाके बिगड़ जानेसे आर्यजाति बहुत ही हीन दशाको प्राप्त हो जायगी और उसमेंसे अनेक मनुष्य अनार्य हो जायँगे इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बात पहले ही मनुसंहिता और महाभारतके प्रमाणके साथ कही गई है कि क्रियालोपके कारण कितने ही आर्य्यसन्तान अनार्य्य बनकर पृथिवीके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें बस गये हैं। अब नीचे वर्णव्यवस्थाके साथ आर्य्यजातिकी सत्ताका क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है। समष्टि सृष्टि और व्यष्टि सृष्टिका विचार करते हुए वर्णधर्मके अध्यायमें पहले ही कहा गया है कि दोनों सृष्टिकी प्रवृत्ति निम्न-गामिनी है। समष्टि सृष्टिकी प्रवृत्ति निम्नगामिनी होनेसे प्रथम सत्ययुग और तदनन्तर त्रेता, द्वापर तथा कलियुग होते हैं और उसीके अनुसार समष्टिसृष्टिमें पहले सनकादि पूर्ण पुरुष और केवल ब्राह्मण उत्पन्न होकर पश्चात् अन्यान्य जातियां उत्पन्न होती हैं। सृष्टिकी धारा अधोमुखिनी होनेसे नीच प्रारब्धयुक्त जीव क्रमशः उत्पन्न होते रहते हैं। इसी तरह व्यष्टि-सृष्टिमें भी प्रकृतिके अधीन होनेके कारण उद्भिज्जसे लेकर पशुयोनि पर्य्यन्त जीव क्रमोन्नति प्राप्त करता है

और मनुष्य योनिमें स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही उसकी वह उन्नति रुक जाती है और उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियकी तरफ होनेसे पुनः नीचेको ओर होने लगती है। वर्णधर्म समष्टि सृष्टि और व्यष्टिसृष्टिकी इन्हीं दोनों निम्नगामिनी प्रवृत्तियोंको रोकता है। इसीलिये—

"प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः"

वर्णधर्म प्रवृत्तिका रोधक है ऐसा कर्ममीमांसामें सिद्धान्त किया गया है। वर्णव्यवस्थाके द्वारा सृष्टिका अधोमुखिनी दोनों प्रवृत्तियां रुककर उनकी ऊर्द्ध्वगति बनी रहती है। जिस प्रकार कौशलके साथ बाँध बांधकर फैलनेवाली नदीका प्रवाह रोका जाता है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्यरूपी बांधके द्वारा जीवकी पाशविक प्रवृत्ति रोकी जाती है। पहले ही कहा गया है कि सृष्टिके प्रारम्भमें यद्यपि सभी ब्राह्मण थे और सत्त्वगुणका भी पूर्ण विकाश था, तथापि कालान्तरमें सृष्टिकी धारा नीचेकी ओर चलनेके कारण जब रजोगुण और तमोगुणके प्रभावसे जीवकी गति पापकी ओर होने लगी, तब उस पापगतिको रोकना भी परम कर्त्तव्य हो गया। यदि सृष्टिकी वह पापमयी नीचेकी ओर चलनेवाली धारा न रोकी जाती तो सभी जीव पापी बनकर अपने आर्य्यगुणसे भ्रष्ट हो अनार्य्य बन जाते और भारतवर्षकी यह सनातन मर्यादा नष्ट हो जाती। इसलिये सृष्टिकी उस विषम धाराको रोककर जीवकी क्रमोन्नतिको बाधारहित करनेके लिये ही श्रीभगवान् मनुजीने चार वर्ण रूप बन्ध बांध दिये। मनुजीने किस प्रकार मनुष्योंकी स्थूल, सूक्ष्म कारण प्रकृतिको देखकर चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था उस समयकी थी यह वर्णव्यवस्थाके अध्यायमें स्पष्टरूपसे बताया गया है। अब इन सब विचारोंसे यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि जब समष्टि सृष्टिकी धारा स्वभावतः ही नीचेकी ओर है और वर्णव्यवस्थाके द्वारा उसमें रुकावट हो जाती है, तो जिस जातिमें वर्णव्यवस्था न होगी वह जाति क्रमशः प्रकृतिकी निम्नगामिनी धारामें पड़कर अधोगतिको प्राप्त हो जायगी और अन्तमें अधोगतिकी पराकाष्ठा होनेसे वह जाति नाशको प्राप्त हो जायगी अथवा और किसी उन्नत जातिमें लय हो जायगी। पृथिवीका इतिहास पाठ करनेपर वर्णधर्म विहीन कई एक जातियोंका इसी प्रकार परिणाम दृष्टिगोचर होता है। जिस समय प्राचीन रोमके नाशका समय आया था, उस समय रोममें भी भीषण पापका प्रवाह बहने लग गया था; जिससे रोम अधोगतिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होकर नष्ट हो गया। इसी प्रकार ग्रीस, मिश्र और ब्रिटेनकी कई एक जातियोंका परिणाम

पृथिवीके इतिहासमें स्पष्ट है। ऐतिहासिक विद्वान्‌गण पृथिवीका इतिहास पाठ करनेसे एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं कि सिवाय वर्णाश्रमधर्म युक्त आर्य्यजातिके और कोई भी प्राचीन जाति इस समय अपने स्वरूपमें जीवित नहीं है। रोम, ग्रीस, मिशर आदि अनेक प्राचीन जातियोंके नाम इतिहासमें मिलते हैं, परन्तु उन जातियोंके अस्तित्वका साक्षी देनेवाला एक भी व्यक्ति इस समय विद्यमान नहीं है। दूसरी ओर वर्णधर्म माननेवाली आर्यजाति अब भी अपने स्वरूपमें विद्यमान है। अतः ऊपर कथित सिद्धान्तसे निश्चय होता है कि वर्णव्य-वस्थाके प्रवृत्ति रोधक बन्धके बिना संसारमें कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती, किन्तु प्रवृत्तिके प्रवाहमें बहकर अपनी जातीयताको कालसमुद्रमें डुबा देती है। व्यष्टि सृष्टिमें उद्भिज्जसे लेकर पशुयोनि पर्यन्त जीवकी क्रमोन्नति बाधा-रहित होनेपर भी, जब मनुष्य योनिमें आकर जीवकी गति इन्द्रियासक्ति बढ़ जानेके कारण पुनः नीचेकी ओर होने लगती है, तब वर्णव्यवस्थाका बन्धन ही जीवकी इस अवनतिकी सम्भावनाको रोककर उसे प्राकृतिक उन्नतिशील प्रवाहमें डालकर धीरे धीरे शूद्रयोनिसे ब्राह्मणयोनि तक पहुंचाता है और अन्तमें सत्वगुणकी पूर्णताके द्वारा निःश्रेयस (मुक्ति) पदवीपर उसको प्रति-ष्ठित करता है। यदि वर्णव्यवस्थाका प्रवृत्तिरोधक बन्ध न होता तो मनुष्य-योनिमें आकर जीव पुनः नीचेकी ओर जाने लगता। उसकी उन्नति न होकर उसे पुनः पश्वादि योनियोंकी प्राप्ति होती, जीव मनुष्यत्व पदसे गिरकर पशु आदि मूढ़ योनिको प्राप्त करता। अतः सिद्धान्त हुआ कि समष्टिसृष्टिकी तरह व्यष्टिसृष्टिमें भी वर्णव्यवस्थाके न होनेसे कोई मनुष्यजाति चिरस्थायी नहीं हो सकती और निवृत्तिकी तो बात ही क्या? जिस जातिमें वर्णव्यवस्था नहीं है, उस जातिमें प्रवृत्तिके रोकनेका कोई भी उपाय न होनेसे जीवन प्रवृत्तिमय हो जाता है। उस जातिका आध्यात्मिक उन्नति और मुक्ति ही नहीं किन्तु स्थूल शरीरका भोगमात्र ही लक्ष्य हो जाता है जिससे वह जाति आर्य्यत्वके लक्षणसे च्युत होकर अनार्य हो जाती है। इसलिये अनार्य्यसे आर्यकी विशेषताके जितने लक्षण हैं उनमेंसे वर्णव्यवस्था भी एक लक्षण है। वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे प्रत्येक जाति आध्यात्मिक अवनतिको प्राप्त करके पशुकी तरह बन तो जायगी ही अधिकन्तु और भी गम्भीर विचार करनेपर यही सिद्धान्त निकलेगा कि वर्णव्यवस्थाके न रहनेसे कोई भी जाति संसारमें बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहेगी। अब नीचे इस सिद्धान्तका कारण बताया जाता है।

प्रकृतिके राज्यमें प्रत्येक वस्तुकी स्थिति तभी तक रह सकती है

जब तक व्यापक प्रकृतिके साथ उस वस्तुका सम सम्बन्ध हो। जिस वस्तुके साथ व्यापक प्रकृतिका समसम्बन्ध नहीं, उल्टा विषम सम्बन्ध है, वह वस्तु बहुत दिनोंतक प्रकृतिके राज्यमें रह नहीं सकती। उसका या तो समूल नाश हो जाता है या किसी सम प्रकृतियुक्त वस्तुमें लय हो जाती है। व्यापक प्रकृतिकी यह एक अकाट्य और नित्य स्थिर नीति है। उसी नीतिके अनुसार विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि उद्भिजसे लेकर मनुष्य पर्यन्त समस्त जातियोंमें समप्रकृतिक जाति ही जीवित रहेगी, विषमप्रकृतिक जाति कुछ दिनोंके बाद नष्ट हो जायगी या किसी समप्रकृतिक जातिमें मिल जायगी। दृष्टान्तरूपमें समझ सकते हैं कि घोड़े और गधेके सम्बन्धसे जो एक अश्वतर (खच्चर) की जाति बनती है, उसकी प्रकृतिका मेल न तो घोड़ेसे और न गधेसे होनेके कारण वह एक विषम प्रकृतिकी पशु जाति है। उसके साथ प्रकृतिकी समधाराका मेल नहीं है और इसलिये ऊपर कथित विज्ञानके अनुसार अश्वतर-की जाति जीवित नहीं रह सकती। इस बातको सभी लोग जानते हैं कि अश्व-तरी (खच्चरी) का वंश नहीं चलता। एक ही जन्मके बाद वह वंश लुप्त हो जाता है यह सब प्राकृतिक विज्ञानके अनुसार विषम प्रकृति होनेका ही परिणाम है। पशु जातिकी तरह उद्भिज तथा अण्डज जातिमें भी यही प्राकृतिक नियम दृष्टिगोचर होता है। दो विभिन्न जातिके उद्भिजके सम्बन्धसे जो वृक्ष बनाया जाता है या दो विभिन्न जातिके पक्षियोंके मेलसे जो पक्षीजाति बनायी जाती है, उसका वंश आगे नहीं चलता। यह प्रकृतिकी विषम धारामें उत्पन्न होनेका प्राकृतिक परिणाम है। इस दृष्टान्त और विज्ञानको मनुष्य जातिमें घटाकर विचार करनेसे यही सिद्धान्त निकलेगा कि दो विभिन्न वर्णोंके मेलसे जो वर्णसंकर जाति उत्पन्न होगी वह प्रकृतिकी समधारामें स्थित न होनेके कारण बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकेगी किन्तु कुछ दिनोंके बाद ही नष्ट या अन्य समधारावाली जातिमें लय हो जायगी। आर्य्यजातिमें वर्णव्यवस्थाके टूट जानेसे एक वर्णके साथ वर्णान्तरके सम्बन्ध अवश्य ही होंगे, जिसके फलसे अनेक वर्णसंकर जातियां उत्पन्न होंगी; परन्तु इस प्रकार वर्णसंकर जातियां प्रकृतिकी समधाराके विरुद्ध होनेके कारण कुछ दिनोंमें ही नाशको प्राप्त हो जायंगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। भारतवर्षमें जबसे वर्णव्यवस्था शिथिल हो गयी है, तबसे कितनी ही वर्णसङ्कर-जातियां इस प्रकार उत्पन्न होकर कुछ दिनोंके बाद नष्ट हो गई हैं या अन्य किसी जातिमें लय हो गयी हैं। साधारण तौरपर देखा जाता है कि प्रायः

उच्च जातिमें वर्णसङ्कर पुरुष या स्त्रीकी सन्तान नहीं होती और ऐसे मनुष्य प्रायः निर्वंश हो जाते हैं। प्रकृतिकी विषमधाराका ही यह सब परिणाम है। अतः आर्य जातिमें वर्णव्यवस्थाके टूट जानेसे केवल आर्यजाति अनार्य ही नहीं हो जायगी, अधिकन्तु व्यापक प्रकृतिमें अनेक विषमधाराओंकी सृष्टि करके कुछ दिनोंके बाद उसके अतलगर्भमें डूब जायगी। अतः सिद्धान्त हुआ कि आर्य-जातिमें वर्णव्यवस्थाका रहना इस जातिके जीवित तथा आर्यभावयुक्त रहनेके लिये परम हितकर है। इसी विचारको अन्यान्य जातिमें घटानेसे सिद्धान्त होगा कि वर्णव्यवस्थाके विना कोई भी जाति चिरस्थायो नहीं हो सकती। अगष्ट कौमृटिने गभीर अनुसंधानके द्वारा इसी सिद्धांतको पहले प्रकट कर दिया है। मनुष्यके नीचेके जीवोंमें देखिये। वे जीव प्रकृतिके तमःप्रधान राज्यमें होनेके कारण यद्यपि उनमें वर्णव्यवस्थाकी स्थिति स्पष्ट नहीं दिखाई देती, तथापि उनमें चातुर्वर्ण्य है; क्योंकि प्रकृतिका कोई भी राज्य त्रिगुणसे बाहर न होनेके कारण त्रिगुणके अनुसार चारवर्णोंकी स्थिति सर्वत्र ही स्वाभाविक है। जब मनुष्येतर प्राणियोंमें भी चार वर्ण विद्यमान हैं, तो चाहे अनार्य ही क्यों न हो, सभी मनुष्योंमें चार वर्ण अवश्य रहेंगे। केवल विशेषता इतनी ही है कि आर्य्यजातिमें त्रिगुणका पूर्ण विकाश होनेके कारण यहांपर कालप्रभावसे वर्णसंकर प्रजा उत्पन्न होनेपर भी चातुर्वर्ण्यका बीजनाश कदापि नहीं होगा; परन्तु अन्यान्य जातियोंमें त्रिगुणका पूर्ण विकाश न होनेके कारण वहांपर वर्णव्यवस्थाकी पूर्ण स्थिति असम्भव होनेसे स्वतः ही वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न हो कर कुछ दिनोंमें वह जाति अवश्य ही समूल नाशको प्राप्त हो जायगी। यही वर्णव्यवस्थाके साथ प्रत्येक जातिके अस्तित्वका सम्बन्ध है और अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेषतामें यही वर्णव्यवस्थाकी आवश्यकताका प्रमाण है।

मीमांसा शास्त्रके आचार्य्योंने किसी मनुष्यजातिके चिरस्थायी होनेके विषयमें असवर्ण विवाह, स्वगोत्र विवाह और अयोग्यवयस्क विवाह इन तीनोंका प्रधान बाधा करके वर्णन किया है। अपने अपने वर्णमें विवाह न करके यदि असवर्ण विवाहका प्रचार किया जाय तो मनुष्य जाति किस प्रकारसे लयको प्राप्त हो जाती है उसका प्रमाण हम ऊपर दे चुके हैं। स्वगोत्र विवाहसे भी मनुष्य जाति नष्ट हो जाती है। इसके विषयमें मीमांसा दर्शनशास्त्रकी सम्मति यह है कि पुरुषसे वीर्य्यकी धारा और स्त्रीसे रजकी धारा ये दोनों अलग अलग तथा परस्परमें बेमेल जब तक रहती हैं तब तक दोनोंकी शक्ति यथावत् बनी रहती है। स्त्री यदि पुरुषका काम और पुरुष यदि स्त्रीका कार्य्य

करने लगे; स्त्री यदि पुरुषकी प्रकृति और पुरुष यदि स्त्रीकी प्रकृतिका अनुकरण करने लगे तो दोनों ही जैसे अपने स्वरूपसे भ्रष्ट हो जाया करते हैं, ठीक उसी प्रकार किसी मनुष्य जातिमें यदि वीर्य्यकी धारा और रजकी धारा एक दूसरेसे वेमेल न रक्खी जायगी, तो दोनों धाराएँ दुर्वल होकर अन्तमें उस मनुष्य जातिका नाश कर देती हैं। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तपर स्थित होकर आर्य्य महर्षियोंने स्वगोत्र कन्याके साथ विवाह करनेका प्रवल निषेध किया है और स्वगोत्रा कन्यामें गमन करनेको मातृगमनके तुल्य वर्णन किया है। आर्य्यजातिमें इसी कारण यह साधारण नियम है कि जिस गोत्रका पुरुष हो उसी गोत्रकी कन्याके साथ उसका विवाह नहीं हो सकता; अर्थात् वीर्य्यकी धाराको रजकी धारामें मिलने देना उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अधर्म्म है। उसी शैलीपर पुरुषसे कन्याका वयः कम न होना भी आर्य्यजातिमें धर्म्म विरुद्ध माना गया है। सृष्टिप्रवाहमें पुरुष प्रधान और स्त्री अप्रधान है। यह विज्ञान नारीधर्म्मके अध्यायमें भलीभाँति दिखाया गया है जब तक प्रकृतिके स्वाभाविक नियमकी रक्षा होगी तब तक जीव जीवित रह सकते हैं। प्राकृतिक नियमोंके साथ बलात्कार करनेसे और प्राकृतिक धर्म्मके विरुद्ध चलनेसे मनुष्य अल्पायु होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं; इसीसे विवाह पद्धतिमें भी वयसके विचारसे पुरुषका प्राधान्य और स्त्रीका गौणत्व रक्खा गया है। जिस मनुष्यजातिकी विवाहरीतिमें पुरुषका अधिक वय होने और स्त्रीके कम वय होनेकी आज्ञा रहेगी वही मनुष्यजाति प्रकृतिके साधारण नियमोंके पालन करनेसे अधिक काल जीवित रह सकेगी। इस प्रकार वैज्ञानिक रहस्यपूर्ण एवं जातिको दीर्घायु बनानेके उपयोगी सदाचारयुक्त नियम आर्य्यजातिमें होनेसे आर्य्यजाति इतने कालसे जीवित है और यही सब सिद्धान्त अनार्य्योंसे आर्य्यजातिकी विशेषताको सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार आश्रमधर्म भी अनार्यसे आर्यकी विशेषताका अन्यतम लक्षण है। कर्ममीमांसादर्शनमें लिखा है:—

प्रवृत्ति रोधको वर्णधर्मः।

निवृत्तिपोषकश्चाऽपरः।

उभयोपेताऽऽर्यजातिः।

तद्विपरीताऽनार्याः।

वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक है और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है। जो जाति वर्ण तथा आश्रम दोनों धर्मोंसे युक्त हो वही आर्यजाति है। इससे विपरीत अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म विहीन जाति अनार्यजाति है। जिस प्रकार प्रवृत्तिका निरोध करके मनुष्यको वर्णधर्म नीचे जानेसे रोकता है, उसी प्रकार आश्रमधर्म भी निवृत्तिभावको बढ़ाकर जीवको आध्यात्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुँचाकर मुक्तिपद प्रदान करता है। पहिले ही आश्रमधर्मके अध्यायमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्याश्रममें संयमके साथ धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षाके अनन्तर गृहस्थाश्रममें भावशुद्धि-पूर्वक प्रवृत्तिके पालनसे जब निवृत्तिका उदय होने लगता है, तब वानप्रस्थाश्रममें तपस्याके द्वारा शरीर और मनको शुद्ध करके निवृत्तिके अभ्यासकी पूर्णतामें निवृत्तिके चरम आश्रम संन्यासको मनुष्य प्राप्त करते हैं। इसी प्रकारसे पूर्ण निवृत्तिकी प्राप्ति होनेसे जीवको निःश्रेयस लाभ होता है। जैसा कि उपनिषद्में लिखा है:—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।

सकाम कर्म, सन्तान या धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। जिस जातिमें आश्रमधर्मका ठीक ठीक प्रतिपालन होता है, वह जाति स्वाभाविक प्रवृत्तिबाधाको दूर करके अवश्य ही निवृत्तिकी पूर्णतामें मुक्तिपदको प्राप्त कर सकती है; परन्तु जिस जातिमें आश्रमधर्मका प्रचार नहीं है, वह जाति निवृत्तिभावके पोषण न होनेसे दिन बदिन प्रवृत्तिके अन्धकूपमें डूबती जाती है जिससे उसकी जातीयताका नाश, अधःपतन और अन्तमें अस्तित्व तकका नाश हो जाता है। जिस जातिमें आश्रमधर्म्म नहीं है वह जाति कभी आध्यात्मिक मार्गमें उन्नति नहीं कर सकती और न निवृत्ति-मूलक आर्यभावको ही कायम रखनेमें समर्थ हो सकती है। आश्रमधर्मके दुर्बल होनेसे आर्यजाति आज हीन दशाको प्राप्त हो रही है और इसमेंसे निवृत्तिका भाव दूर होकर इसमें दिन प्रतिदिन विलासबुद्धि और पाशविक भाव बढ़ रहा है। आश्रमधर्मके नष्ट होनेसे यह जाति अपनी आर्यतासे गिरकर अनार्य बन जायगी। अतः आर्यजातिकी जातीयताको रक्षाके लिये आश्रमधर्मका प्रतिपालन करना आवश्यक है और यही अनार्यजातिसे आर्यजातिकी विशेष-ताका अन्यतम लक्षण है।

इसी प्रकार जिस जातिमें पातिव्रत्यधर्मका पालन नहीं होता, वह जाति कभी अपने आर्यभावको कायम रखनेमें समर्थ नहीं हो सकती और

उसकी स्थिति भी संसारमें बहुत काल तक नहीं होती। नारीधर्मके अध्यायमें पहिले ही कहा गया है कि जो जाति स्थूल शरीरके भोगविलासको ही मुख्य मानती है और सूक्ष्म शरीर तथा आत्माके आनन्दको गौण समझती है, उस जातिकी स्त्रियोंमें एक पतिव्रतका पालन कभी नहीं हो सकता। उन्हें एक पतिकी मृत्यु होनेपर पुरुषान्तर ग्रहण करना स्थूलशरीरके भोग विलासके लिये अवश्य ही प्रयोजनीय होता है। जहांपर जीवनका आदर्श इस प्रकार इन्द्रियपरायणता ही हो, वहां अन्तःकरणकी हीनता और उन्नत चरित्रका अभाव होना स्वतःसिद्ध है इसलिये इस प्रकारकी जातिमें पूर्ण पुरुष तथा आर्य-गुण-सम्पन्न पुरुष कदापि नहीं उत्पन्न हो सकते। जिस जातिके मातापिताओंमें तथा पूर्वपुरुषोंमें जिस संस्कारका अभाव है उस जातिमें उस संस्कारसे सम्पन्न सन्तान कदापि नहीं उत्पन्न हो सकती। आर्य स्त्री ही जानती है कि पतिके स्थूलशरीरके नाश होनेपर उसकी आत्माके साथ आध्यात्मिक आनन्दका भोग तथा सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है। आर्यमाता ही जानती है कि स्त्रीका शरीर जब अपने भोगविलासके लिये नहीं किन्तु पतिदेवताकी पूजाके लिये नैवेद्य रूप है, तो जिस प्रकार देवताके अन्तर्धान होनेसे नैवेद्यका कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार पतिदेवताके परलोकवास होनेसे इहलोकमें स्त्री-शरीर रखनेका कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता। इस लिये सहमृता होना और जीवित रहे तो केवल पतिके कल्याणार्थ ही निवृत्तिधर्मका पालन करते हुए जीवित रहना पतिप्राणा सतीके लिये परम धर्म है। जिस जातिमें इस प्रकारका आदर्श उज्ज्वल है, वही जाति आत्माके सुखके लिये स्थूलशरीरके सुखको त्याग कर सकती है और आत्मानन्दको ही सुख मानकर शरीरका व्यवहार संसारमें उसी परमानन्दके लक्ष्यसे कर सकती है। यही यथार्थ आर्यभाव है जैसा कि पहिले वर्णन किया गया है। जिस जातिमें दाम्पत्यप्रेम ऐसे उच्च आदर्शपर प्रतिष्ठित है उसी जातिमें आर्यगुणसम्पन्न सन्तान उत्पन्न हो सकती है, अन्य जातिमें कदापि नहीं हो सकती इसलिये यदि आर्यजातिमेंसे पातिव्रत्यधर्म्मका सर्वोन्नत आदर्श नष्ट हो जायगा तो आर्यजाति अधःपतनको प्राप्त हो कर अनार्य हो जायगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। यही अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी विशेषताका एक प्रधानतम लक्षण है। पातिव्रत्यधर्म्मके नष्ट होनेसे न केवल अनार्य्यत्वप्राप्ति ही होगी अधिकन्तु जिस जातिमें पातिव्रत्यधर्म नहीं है वह जाति संसारमें कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकेगी। संसारमें

भोग द्वारा वासनाका क्षय कदापि नहीं होता। घृतपुष्ट अग्निकी तरह बढ़ती हुई वासना मनुष्यको प्रवृत्तिके अन्धकूपमें ले जाती है। सतीधर्म त्याग तथा तपस्यामूलक है। उसके पालनसे जातिमें प्रवृत्तिकी अनर्गलता रुक जाती है और आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर वह जाति बढ़ सकती है। जहांपर प्रवृत्तिको नियमबद्ध करनेका नियम नहीं है, वहांपर प्रवृत्ति भोगद्वारा क्रमशः बलवती होकर जातिको अधोगति प्राप्त करावेगी और इस प्रकार अधोगतिकी पराकाष्ठा अर्थात् प्रवृत्तिकी पराकाष्ठामें प्राप्त होनेसे वह जाति नष्ट हो जायगी इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। अन्ततः पातिव्रत्यधर्मका नाश होनेसे कोई भी जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। इसके सिवाय और भी एक कारण है जिससे सतीधर्महीन जाति जगत्में चिरस्थायी नहीं हो सकती। नारीधर्मके अध्यायमें पहिले ही कहा गया है कि स्त्री-जाति प्रकृतिकी रूप होनेसे उसमें विद्या और अविद्या दोनों भावोंका सन्निवेश रहता है। विद्याभावके द्वारा स्त्रीपातिव्रत्यकी पूर्णतासे जगदम्बा बन सकती है और अपनी स्त्री-योनिसे मुक्त हो सकती है; परन्तु तामसिक अविद्या भावकी वृद्धि होनेसे पातिव्रत्यधर्मका नाश होकर स्त्री पिशाचिनी बन जाती है और अविद्याके कराल ग्रासमें पतित होकर अनेक पुरुषोंके संसर्गसे इन्द्रियवृत्तिकी चरितार्थता और वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति करती है। पहिले ही कहा गया है कि पुरुषसे स्त्रीकी विषयप्रवृत्ति अधिक बलवती होती है और उसमें भोगशक्ति भी असीम होती है। ऐसा होनेसे ही स्त्रीके लिये त्यागमूलक तथा तपोमूलक पातिव्रत्यधर्मका उपदेश किया गया है जिससे स्त्री अपनी प्रवृत्तिको नियमित करके दैवीभागको प्राप्त करे और सुसन्तानको उत्पन्न करके संसारको पवित्र करे। पातिव्रत्यधर्मके नष्ट होनेसे स्त्रीकी प्रवृत्ति नियमबद्ध न होकर अनर्गल हो जायगी। पुरुषकी अपेक्षा उसकी भोगपरायणता अनन्तगुण बढ़ जायगी जिससे एक पति उसके लिये यथेष्ट नहीं होगा और वह अवश्य ही उपपतिके सङ्गसे वर्णसङ्कर प्रजा उत्पन्न करेगी। जिस जातिमें पातिव्रत्यधर्मका पूर्ण आदर्श है ही नहीं, वहां तो इस प्रकार वर्णसङ्करता फैलना स्वाभाविक ही है। वर्णसङ्करता फैलनेपर—जैसा कि पहले कहा गया है—सृष्टिकी समधाराके बीचमें अनेक विषमधाराएं उत्पन्न हो जायंगी, जिनका रहना प्राकृतिक नियमके सम्पूर्ण विपरीत होगा। अन्ततः इस प्रकार वर्णसङ्कर प्रजाकी सृष्टि प्राकृतिक नियमानुसार शीघ्र ही नाश हो जायगी या अन्य किसी जातिमें लय हो जायगी। अतः सिद्धान्त हुआ कि जिस जातिकी

स्त्रियोंमें सतीधर्मका आदर्श विद्यमान नहीं है, जिस जातिकी स्त्रियाँ इस लोक और परलोक दोनोंमें ही पतिके अस्तित्वको स्वीकार करके आजीवन एक पतिव्रतको धारण करना नहीं जानतीं, जिस जातिकी विधवा स्त्रियां स्वभावसे ही संन्यासव्रतको धारण करके तपस्विनी बनना नहीं जानतीं और जिस जातिमें यथार्थ पातिव्रत्यधर्मका पालन नहीं होता वह जाति चिरस्थायी नहीं हो सकती। आर्यजाति पातिव्रत्यधर्मके पालन द्वारा ही अपने अस्तित्वको और आर्यभावको चिरस्थायी बना सकती है और यही अनार्यजातिसे इसकी एक प्रधान विशेषता है।

पूर्वोक्त सब विचार समूहोंका सारांश क्या है यदि यह सोचा जाय तो यही सिद्धान्त होगा कि जिस जातिमें ज्ञानकी पूर्णताका विकाश होकर आत्मतत्त्वज्ञानकी स्फूर्ति हुई है; अर्थात् जो मनुष्यजाति अपनी अध्यात्मशुद्धि द्वारा जगत्में तत्त्वज्ञानके विचारसे जगद्गुरु है वही आर्य्यजाति है। जिस मनुष्यजातिमें उस जातिकी आधिभौतिक शुद्धि सृष्टिके अनादिकालसे बनी हुई है; अर्थात् जिस मनुष्यजातिमें उसके रज और वीर्यकी शुद्धि सृष्टिके आदिकालसे ठीक ठीक बनी हुई है वही जाति हिन्दूशास्त्रके अनुसार आर्य्यजाति है और जिस मनुष्यजातिमें दैवराज्यके ज्ञान और कर्मविज्ञानकी पूर्णता होनेसे उसकी अधिदैव शुद्धि चिरस्थायी रहती है वही जाति वेदानुसार आर्य्यजाति कहावेगी। आर्य्यजातिमें इसी कारण धर्म्मका पूर्ण विकाश हुआ है। धर्म्मका सार्व्वभौम और सर्व्वशक्तिमय पूर्ण स्वरूप इसी कारण इस आर्य्यजातिने देखा है। इसी कारण आर्य्यजाति आचारको प्रथम और प्रधान धर्म्म करके मानती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञानसे भरे हुए अद्वैत वादके धर्म्मसे लेकर स्थूलसे अतिस्थूल आचार धर्म्म तक यह जाति मानती है इसी कारण यह आर्य्यजाति कहाती है। छोटे छोटे विषयको भी पूर्ण रीतिसे देखनेसे ही दृष्टि-शक्तिकी पूर्णता होगी। शरीरकी स्थूलसे स्थूल चेष्टाके साथ धर्म्मका सम्बन्ध माननेको ही आचार कहते हैं। आचारधर्म्मको यह जाति मानती है, यही अनार्य्यजातिसे आर्य्यजातिकी एक प्रधान विशेषता है।

यह बात पहिले ही कही गई है कि कोई भी जाति केवल संख्यावृद्धिके द्वारा उन्नति नहीं कर सकती किन्तु अपनी जातीयताके विशेष विशेष भावोंको पुष्ट करनेसे ही उन्नति कर सकती है। जातिकी उन्नति जातीयतासे होती है केवल संख्या बढ़ानेसे नहीं। आर्य्यजातिमें ऊपर लिखित जिन विशेष बातोंके रहनेसे यह जाति संसारकी अन्यान्य जातियोंकी अपेक्षा अपना अस्तित्व

अटल रखनेमें समर्थ हो रही है, उन विशेष बातोंके उड़ा देनेसे आर्यजाति उन्नति नहीं कर सकेगी, उन बातोंके स्थायी रखनेसे ही उन्नति कर सकेगी। विशेषता ही जातिके अस्तित्वकी रक्षक है। विशेषताके नष्ट होनेसे जातिका पृथक् अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और वह अन्यजातिमें लय हो जाती है। अतः अनार्यजातिके साथ आर्यजातिकी विशेषताके विषयमें जितने लक्षण ऊपर बताये गये हैं उन लक्षणोंके साथ आर्यजाति जबतक युक्त रहेगी, तभी तक संसारमें इसका अस्तित्व स्थायी रहेगा और यह जाति दिन बदिन उन्नतिके उच्च शिखरपर आरोहण करेगी। चाहे किसी जातिपर कितनी ही आपत्ति आवे, यदि जातीयताके विशेष विशेष लक्षण स्थिर रहें तो वह जाति कदापि नष्ट नहीं हो सकती; अधिकन्तु समस्त बाधाओं तथा विपत्तियोंको झेलकर पुनः उन्नति कर सकती है; परन्तु यदि जातीयताके विशेष विशेष भाव ही नष्ट हो जायं, तो किसी जातिकी व्यावहारिक उन्नति और संख्या-वृद्धि चाहे जितनी क्यों न हो, वह जाति विशेषतासे भ्रष्ट होनेके कारण अपने अस्तित्वको खोकर अन्य जाति बन जाती है और इस दशामें उसकी उन्नति किसी कामकी नहीं होती। जातीयता ही जातिका प्राणरूप है। उसी प्राणशक्तिके नष्ट होनेसे जाति निर्जीव तथा मृत हो जाती है और इस मृत अवस्थामें उसकी कोई भी उन्नति यथार्थ उन्नति कहलाने योग्य नहीं होती।

यह पहले ही हम वेद और शास्त्रों द्वारा दिखा चुके हैं कि जिस मनुष्य जातिमें वर्ण तथा आश्रमधर्म विद्यमान हो, जिस जातिके प्रत्येक कार्य्य, भाव और चिन्तामें अध्यात्मलक्ष्य सर्वप्रधान स्थान प्राप्त करता हो, जिस जातिमें आचारधर्मका पालन करना सर्व प्रधान कर्तव्य समझा गया हो और जिस जातिकी नारियोंमें सती धर्मका आदर्श विद्यमान हो वही आर्यजाति कहाती है और जिस जातिमें ये सब धर्म लक्षण नहीं मिलते, वही अनार्यजाति कही जायगी। वस्तुतः केवल बहिरङ्गके—मुखनासिका आदिके—लक्षणोंको देखकर आर्य और अनार्य जातिका निश्चय करना सनातनधर्म-विज्ञान द्वारा स्वीकृत नहीं हो सकता। जिस जातिमें रज और वीर्यकीशुद्धिको प्रधान मानकर जन्म, कर्म और ज्ञानके विचार द्वारा वर्णधर्मकी श्रृङ्खला जारी है वही आर्यजाति कहावेगी। जिस जातिमें यह श्रृंखला प्रचलित नहीं है, वह जाति सनातनधर्मके अनुसार अनार्य जाति कहावेगी। जिस जातिके विद्यार्थीगण ब्रह्मचर्यव्रतधारण पूर्वक आत्माकी उन्नतिको प्रधान लक्ष्य रखकर विद्याभ्यासमें प्रवृत्त रहेंगे और अपने विद्यादाता आचार्यको परम देवता समझकर अति भक्तिसे उनकी सेवामें

तत्पर रहेंगे वही आर्यजाति कहावेगी। जिस जातिके विद्यार्थियोंमें इन लक्षणोंका एकवार ही अभाव हो जायगा वह जाति सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार अनार्य कहावेगी। जिस जातिमें मनुष्यगण स्त्रीसंसर्ग, धनसंग्रह आदि प्रवृत्ति दायक विषय, विषयभोग-वासना-निवृत्तिके लिये ही ग्रहण करेंगे जिस जातिके दम्पति इन्द्रिय दमनके लिये ही इन्द्रियभोग शास्त्रनियमानुकूल करेंगे, वही जाति आर्यजाति कहावेगी और जिस जातिमें यह लक्षण नहीं पाए जायंगे वही जाति सनातनधर्म-विज्ञानके अनुसार अनार्यजाति कहलावेगी। जिस जातिके मनुष्य अपने जीवनको केवल प्रवृत्ति-भोगके लिये ही न समझकर निवृत्तिको ही जीवनका लक्ष्य समझते हुए अपने इस जीवनके नियत समयसे एकवार ही प्रवृत्ति सम्बन्धके त्याग करनेके लिये प्रस्तुत होंगे और अन्तमें पूर्णरूपसे निवृत्तिधर्मके अधिकारका दावा रक्खेंगे वही आर्यजाति कहावेगी और जिस मनुष्यजातिमें ये सब लक्षण नहीं पाये जाते; सनातनधर्मके अनुसार वह अनार्यजाति कहावेगी। जिस मनुष्यजातिके उठने बैठनेमें, चलने फिरनेकी सब चेष्टाओंमें, भाव तथा चिन्ताओंमें, भोजन और आच्छादनमें, अपिच सब शारीरिक तथा मानसिक कर्मोंमें, केवल आत्मसाक्षात्कार-प्राप्तिकारी आध्यात्मिक लक्ष्य ही प्रधान समझा जाता है, वही जाति हिन्दुशास्त्रके अनुसार मनुष्यसमाजमें आर्यजाति कहावेगी और जिस जातिमें ये लक्षण विद्यमान नहीं हैं वैदिक दर्शन-सिद्धान्तके अनुसार वह जाति अनार्यजाति कहलावेगी। जिस मनुष्यजातिमें धर्मकी सूक्ष्मताका रहस्य इतना समझा गया हो कि सब प्रकारकी शारीरिक चेष्टाओंके साथ धर्मका सम्बन्ध है और आचार भी धर्म है, वही जाति वैदिक सिद्धान्तके अनुसार आर्यजाति कहावेगी और जिस जातिमें आचारके साथ धार्मिक कर्त्तव्यका कोई भी सम्बन्ध न माना जाय; सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार वही जाति अनार्यजाति कहावेगी। जिस मनुष्य जातिमें सतीधर्मका आदर्श विद्यमान हो, जिस जातिकी नारियोंमें मनसे भी द्वितीय पुरुषके संगको पाप करके माना गया हो और जिस जातिकी कुलाङ्गनाएँ इहलोक और परलोक दोनोंमें समानरूपसे पतिके अनुगमनको ही परधर्म मानती हों, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कही जायगी और जिस मनुष्यजातिमें त्रिलोक-पवित्रकर इस प्रकारके सतीधर्मका आदर्श विद्यमान न हो, सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार वह जाति अनार्यजाति कहावेगी। सब विज्ञानका सारांश यह है कि वैदिक दर्शनशास्त्रके अनुसार आर्यजाति और अनार्यजातिका भेद मनुष्यके बहिर्लक्षणोंसे नहीं निश्चय किया गया है। वैदिक-

शस्त्रोंमें आर्य तथा आर्यजातिका विचार अन्तर्लक्षणोंको देखकर निर्णय किया है इस विषयको सदा ध्यानमें रखना चाहिये ।

आजकल भारतवर्षमें कई एक संस्थाएँ ऐसी चल पड़ी हैं, जिन्होंने आर्यजातिकी उपर्य्युक्त मौलिक विशेषताको न समझकर उसके उड़ानेमें ही और अन्यजातियोंको अपनेमें मिलाकर केवल संख्या वृद्धि करनेमें ही आर्यजातिकी उन्नति समझ ली है और उसीके अनुसार कार्य करके दिन ब दिन अनार्यजातिसे आर्यजातिकी ऊपर कथित विशेषताकी बातोंको उड़ानेकी वे चेष्टा कर रही हैं। इस प्रकार प्रयत्न सर्वथा भ्रान्तियुक्त और आर्यजातिको अनार्य बनानेकी सम्भावनासे युक्त है। आर्यजाति यदि आर्यभावको दृढ़ रखकर थोड़ी संख्यामें ही रह जाय तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इससे आर्यजातिकी बीजरक्षा हो जायगी और अनुकूल कालको प्राप्त करके वही बीज वृद्धिको प्राप्त होकर पुनः इस जातिकी अपनी प्राचीन संख्याको प्राप्त कर सकेगा; परन्तु यदि नवीन अज्ञानमय सुधारके द्वारा आर्यजातिका बीज ही नष्ट हो जायगा, तो संख्यामें चाहे जितनी ही वृद्धि क्यों न हो, जातीयतासे भ्रष्ट होनेके कारण वह संख्यावृद्धि किसी कामकी नहीं होगी। आर्य अनार्य बनकर संख्या वृद्धि करें, हिंदु अहिंदु होकर संख्यामें बढ़ जायँ तो इस प्रकारकी संख्यावृद्धिसे फल क्या है? यही अर्वाचीन समाजसंस्कार और प्राचीन सनातन समाज-संस्कारकी विधिमें भेद है। सनातन समाज-संस्कार जातीयताकी बीज रक्षा पर स्थित है और अर्वाचीन समाज-संस्कार आर्यजातिके बीजको ही नष्ट करके केवल मनुष्योंकी गिनती बढ़ानेपर निर्भर है। विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि सनातन समाज-संस्कारकी विधि ही यथार्थ तथा दूरदर्शितासे पूर्ण है और इसीके द्वारा यथार्थ आर्यजाति पृथ्वीपर विराजमान रहेगी। अर्वाचीन समाज-संस्कार प्रथासे आर्यजाति अपने गौरवान्वित पदसे गिरकर अन्यजाति बन जायगी अतः प्रत्येक समाज संस्कारकी दृष्टि आर्यजातिकी विशेषतापर आकृष्ट होनी चाहिये और उसीको दृढ़ रखकर सकल प्रकारका संस्कार कार्य होना चाहिये।

एक असल ब्राह्मणका बीज भारतमें रह जावे तो पुनः आर्यजातिमें हजारों सच्चे ब्राह्मण उत्पन्न हो सकते हैं; परन्तु हजारों अब्राह्मणोंके रहनेसे आर्यजाति उन्नत न होगी। एक असल क्षत्रिय रह जाय तो पुनः आर्यजातिमें प्राचीन क्षत्रिय तेज आ सकता है; परन्तु हजारों अयोग्य क्षत्रियभावहीन मनुष्योंसे कुछ नहीं हो सकता। एक यथार्थ आर्यभावसम्पन्न परिवार रह जाय

तो उससे आर्यजाति पुनः अपने प्राचीन गौरवको प्राप्त हो सकती है; परंतु हजारों अनार्य भावापन्न परिवारोंसे आर्यजाति ध्वंस ही हो जायगी। उन्नति नहीं करेगी। एक सावित्रीके रहनेसे हजारों सावित्रीमाता बन सकती हैं; परंतु लाखों अविद्यामयी स्त्रियोंके रहनेसे आर्यजाति रसातलको चली जायगी, उन्नति नहीं करेगी। एक सच्चे ब्रह्मचारी शुकदेवके सदृश रहनेसे हजारों शुकदेव बन सकेंगे; परन्तु हजारों व्यभिचारियोंकी संख्यावृद्धिसे आर्यजाति उन्नति नहीं करेगी, किंतु नाशको प्राप्त हो जायगी। एक भीष्म वा अर्ज्जुनके सदृश बीज रहनेसे हजारों भीष्म, अर्ज्जुन बन सकेंगे; परन्तु हजारों कायर गीदड़ोंके रहनेसे आर्यजाति उन्नति नहीं कर सकेगी। एक वशिष्ठ याज्ञवल्क्य व्यास सदृश ऋषि-बीज आर्यजातिमें रह जानेसे कालान्तरमें अनेक निवृत्तिसेवी जगद्गुरु विद्वान् ब्राह्मण और संन्यासी पुनः पैदा होकर जगत्को ज्ञान ज्योतिसे आलोकित कर सकेंगे, नहीं तो वृथा नास्तिक और कदाचारी मनुष्योंकी संख्या बढ़ानेसे यह त्रिलोक पवित्रकर आर्यजाति नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। इसी प्रकार जातीय बीजरक्षाकी विधिके ऊपर आर्यजातिका संस्कार होना चाहिये। अन्यान्य जातियोंसे आर्यजातिकी विशेषताके विषयोंको दृढ़ करके उसीपर जातीय जीवनकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये। तभी आर्यजातिका यथार्थ कल्याण होगा।

तृतीय काण्डकी पंचम शाखा समाप्त हुई।

समाज और नेता।

—:※○※:—

स्थूल संसार सूक्ष्मजगत्का विकाशमात्र है। इस कारण जो पदार्थ और शक्तियां सूक्ष्मरूपसे सूक्ष्म जगत्में हैं, वे ही पदार्थ और शक्तियां स्थूल संसारमें भी विद्यमान हैं। अपिच जिस प्रकारसे सूक्ष्मराज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था होती है ठीक उसी रीतिपर यदि स्थूल राज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था की जाय तो उन्नतिके मार्गमें बाधा होनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

त्रिगुणमय सर्वशक्तिमान् भगवान्के अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सुरक्षा और सुव्यवस्थाके लिये जिस प्रकार श्रीभगवान्के साक्षात् विभूतिरूपसे ऋषिगण, देवगण और पितृगण विद्यमान रहकर यथायोग्य कर्तव्य साधनमें तत्पर हैं, ठीक उसी शैलीके अनुसार जब मनुष्यसमाजकी सुरक्षा और सुव्यवस्थाका प्रयत्न हो तब ही पूर्णरीत्या कल्याण हो सकता है। ऋषिगण सूक्ष्मराज्यमें अवस्थित रहकर ब्रह्माण्डके ज्ञान-सम्बन्धी अध्यात्मराज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करते हैं। देवदेवीगण सूक्ष्मराज्यमें अवस्थित रहकर ब्रह्माण्डके अधिदैव कर्मराज्यकी सुरक्षा और सुव्यवस्था किया करते हैं। पितृगण सूक्ष्मराज्यमें अवस्थित रहकर ब्रह्माण्डके आधिभौतिक स्थूल अङ्गकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करते हैं। तीनों ही श्रीभगवान्की साक्षात् शक्तिको धारण करके अपने अपने कार्य्य विभागोंको यथावत् चलाते हुए स्थावर जंगमात्मक स्थूल और सूक्ष्मलोकमय इस जगत्को नियमाधीन रखकर उन्नतिके पथपर चलाया करते हैं इसी उदाहरणपर समाज और नेताके स्वरूपका अनुसन्धान करने योग्य है।

चतुर्दश भुवनोंमें जितने प्रकारके जीवोंका वास है, उनमेंसे मनुष्य शरीरधारी जीवकी महिमा शास्त्रकारोंने सबसे अधिक वर्णन की है। यद्यपि मनुष्यसे निम्नश्रेणीके जीव अनेक हैं, यथाः—उद्भिज्ज योनिके जीव, स्वेदज-योनिके जीव, अण्डजयोनिके जीव और जरायुज योनिके जीव; उसी प्रकार मनुष्ययोनिसे उन्नत जीव भी अनेक हैं, यथाः—किन्नर, गन्धर्व और उन्नत देवलोकके अनेक जीव इत्यादि। परन्तु मनुष्य इन ऊर्द्ध्व अध दोनों प्रकारकी जीवश्रेणीके मध्यमें होनेपर भी कर्म करनेमें विशेष स्वतन्त्र रहनेके

कारण मनुष्यकी महिमा सर्वशास्त्रोंसे सिद्ध है। इसी कारण मनुष्य समाजकी सुरक्षा और मनुष्य समाजकी सुव्यवस्था तथा उनकी बिना रोकटोकके क्रमोन्नति होनेके लिये पूर्व कथित सिद्धान्तके अनुसार उपायका अवलम्बन करनो ही सब प्रकारसे सुविधाजनक है। ऐसी ही पूज्यपाद ऋषिमुनियोंने आज्ञा की है।

देश, काल और धर्मके भेदके अनुसार मनुष्यसमाज स्वतन्त्ररूपसे गठित हुआ करता है और इन्हीं तीनोंके महत्त्वके अनुसार मनुष्य समाजका महत्त्व भी प्रतिपादित होता है। जिस मनुष्य समाजकी जन्मभूमि सब प्रकारकी प्राकृतिक योग्यतासे पूर्ण हो, जो मनुष्यसमाज अपेक्षाकृत बहुकाल स्थायी हो और जिस मनुष्यसमाजका धर्म अपेक्षाकृत बहुदर्शिता और धर्मके पूर्ण अङ्गोंसे युक्त हो, दूरदर्शी पण्डितोंके निकट वही मनुष्यसमाज अधिक आदर पाने योग्य होगा और उसी मनुष्यसमाजकी सुरक्षा और स्थायी क्रमोन्नति होना स्वतः सिद्ध है कि जिस मनुष्यसमाजमें सब प्रकारके योग्य सामाजिक नेता विद्यमान रहते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य उत्पत्ति, स्थिति और नाशवान् है परन्तु सदाचार और योगादि साधन द्वारा वह दीर्घायु हो सकता है, उसी प्रकार मनुष्यसमाज नाशवान् होनेपर भी दूरदर्शिता और अध्यात्मलक्ष्य आदिके द्वारा सुरक्षित होनेसे बहुकाल स्थायी रह सकता है। सदाचार पालनके द्वारा मनुष्य पूर्णायु प्राप्त कर सकता है और योगादि साधनद्वारा मनुष्य अति आयु प्राप्त कर सकता है। यह तो शास्त्र और लौकिक उदाहरणसे भी स्वतः सिद्ध है कि जो व्यक्ति आहार विहारका नियम ठीक ठीक रखते हैं, जो व्यक्ति शरीर और मन दोनोंको पवित्र रख सकते हैं, जो व्यक्ति इन्द्रियादि संयम और भगवदुपासना करते हुए धर्ममार्गपर चलते रहते हैं और जो व्यक्ति असत्सङ्ग, असत् व्यवसाय और असत् चिन्तासे अपनेको बचाकर अपने जीवनको नियमबद्ध रखते हैं, ऐसे सदाचारी अवश्य दीर्घायु हुआ करते हैं। दूसरी ओर महर्षियोंके योग विज्ञानने यह अच्छी तरहसे सिद्ध कर दिखाया है कि योगीके निकट संचित क्रियमाण और प्रारब्ध, इन तीनोंमेंसे किसीका भी प्रभाव नहीं रहता। इससे योगदर्शनने दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय, दो प्रकार ही कर्म माने हैं। यदि योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठो योगाङ्गोंको पूर्ण रीतिसे सिद्ध कर सके तो ऐसा योगिराज अपने पुराने कर्मोंमेंसे चाहे जितने कर्मोंको खेंचकर जितने दिन चाहे

शरीरको स्थायी रख सकता है। (योगका विस्तारित विवरण आगेके कांडोंमें आवेगा) सुतरां पूर्वकथित वर्णनसे यह सिद्ध हुआ कि यदि मनुष्य सदाचारी हो तो वह अवश्य पूर्णायु होगा और यदि मनुष्य योगिराज बन सके तो वह अपनी आयुको बहुत कुछ बढ़ा सकता है; ठीक उसी रीतिके अनुसार मनुष्य समाज भी दीर्घायु और बहुकाल-व्यापी आयुको प्राप्त कर सकता है। पूज्यपाद महर्षियोंके विचारमें मनुष्यसमाजकी पूर्ण आयु चार युगोंकी समझी गई है, यथा—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, और कलियुग। मनुष्यसमाजका चार युगपर्यन्त जीवित रहना पूर्णायु समझा जा सकता है और अनेक युग युगान्तर तक जीवित रहना अति दीर्घायु समझा जा सकता है। आर्यजातिके सामाजिक दीर्घजीवन प्राप्तिके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने दो प्रकारके अनुशासन बांध दिये हैं। एक वर्णाश्रम धर्मकी व्यवस्था और दूसरा आर्यजातिके सामाजिक जीवनमें सामाजिक नेताओंका सुप्रबन्ध।

किसी मनुष्यसमाजके सब प्रकारके नेता यदि योग्य बने रहें तो वह मनुष्यसमाज अवश्य ही पूर्वकथित नियमानुसार दीर्घायु होगा और यह तो पूर्व अध्यायमें भलीभाँति सिद्ध कर दिखाया गया है कि वर्णाश्रमधर्मोंसे युक्त आर्यजाति ही सृष्टिके आदिसे अंत तक जीवित रह सकती है। उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज, जरायुजसे मनुष्ययोनिमें जीवकी क्रमोन्नति नियमित रूपसे होनेपर भी मनुष्ययोनिमें जीवके पहुंचनेपर उसकी स्वाभाविक गति पुनः नीचेकी ओर हो जाती है। अन्यान्य योनियोंके जीव प्रकृति माताके नियमाधीन और पराधीन रहनेके कारण उनकी क्रमोन्नति प्रकृतिमाताकी कृपासे अवश्यसम्भावी हुआ करती है; परन्तु मनुष्ययोनिमें पहुंचकर जब जीव प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन करता हुआ स्वाधीन और स्वेच्छाचारी बन जाता है तो उस दशामें उसकी स्वाभाविक गति पुनः नीचेकी ओर हो जाती है। इस अवस्थामें प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म किस प्रकारसे मनुष्यकी क्रमोन्नतिके मार्गको स्थिर करते हैं, सो पूर्व अध्यायोंमें भलीभाँति दिखाया गया है। सुतरां वर्ण और आश्रमधर्मकी यथावत् सुव्यवस्था जिस मनुष्य जातिमें जबतक बनी रहेगी, तबतक उस जातिकी बीज रक्षा होगी और वह जाति सृष्टिके अन्त पर्यन्त जीवित रहकर बहु आयुको प्राप्त कर सकेगी।

आर्यजातिके सदाचारोंके अनुसार सामाजिक नेता तीन तरहके माने गये हैं। यथाः—गृहपति, समाजपति और ब्राह्मण और सन्न्यासी। वेद और वेद-

सम्मत शास्त्रोंके अनुसार हिन्दु परिवार एक छोटासा राज्य है और गृहपति उस छोटेसे राज्यका राजा होता है अतः हिन्दु समाजकी सुरक्षा और सुव्यवस्था प्रथम हिंदुगृहसे हिंदुगृहपतिके द्वारा प्राप्त होती है। हिन्दुगृहपति हिन्दुसमाजमें सबसे प्रथम आवश्यकीय नेता है। इस नेतृत्वमें गृहही राज्य और परिवारवर्ग प्रजा होनेके कारण बाहरके शत्रुओंसे राज्यरक्षा करनेकी अपेक्षा भीतरकी शान्तिरक्षाका ही प्रयोजन अधिक रहता है। बाल बच्चोंमें कलह, परिवारके स्त्री पुरुषोंमें अनबन और कलह आदि इसमें अशान्ति उत्पन्न करता है। गृहपतिका कर्त्तव्य है कि जिससे ऐसी अशान्तिका कारण ही न हो सके ऐसा प्रयत्न करें और यदि कदाचित् हो भी जाय तो जिससे वह अशांति शीघ्रही नष्ट हो जाय और परिणाममें अशुभ फल उत्पन्न न करे ऐसा प्रयत्न गृहपतिको अवश्य ही करना चाहिये। सामाजिक शांतिरक्षाका जो मूल सूत्र है, पारिवारिक शान्तिरक्षाका भी वही मूल सूत्र है। वह मूलसूत्र अकृत्रिम पक्षपातशून्यता है। जिस परिवारके गृहपति निष्पक्ष होकर परिवारमें झगड़ा मिटा सकते हैं और दोषीका तिरस्कार तथा निर्दोषीका पुरस्कार कर सकते हैं, वे केवल अपनेको और परिवारको शान्तिसुख दे सकते हैं इतना ही नहीं अधिकन्तु परिवारके भीतर धर्मबीज बोकर अपने जीवनको भी सफल कर सकते हैं। दया, विनय, महत्ता, कार्यतत्परता आदि समस्त सद्गुणोंके मूलमें ही न्यायपरायणता रहना आवश्यक है। परिवारमें इस न्यायपरताके अभाव होनेसे समाजमें भी इसका अभाव होगा जिससे सत्यनिष्ठा और श्रद्धाका ह्रास होकर समाज भी हीनबल हो जायगा अतः गृहपतिका कर्त्तव्य है कि दया, क्षमा, दानशीलता आदि कोमल वृत्तियोंके साथ न्यायपरता सत्याचार, दृढ़प्रतिज्ञता आदि स्वर्गीय पवित्र वृत्तियोंको मिलाकर दोनोका सामञ्जस्य करके अपने परिवारके साथ व्यवहार रक्खें, तभी गृहपति अपने छोटेसे राज्यमें असीम शान्तिका विस्तार कर सकेंगे। एक एक ग्राम अथवा एक एक खंड समाजके अधिपति हिन्दु समाजकी दूसरी श्रेणीके नेता हैं। अब भी ऐसे सामाजिक नेता बहुतसे स्थानोंमें सरपञ्चके नामसे अभिहित होते हैं। अति प्राचीन कालसे हिन्दूजातिमें सामाजिक पंचायतकी रीति प्रचलित है। ग्राम पञ्चायत, कई ग्रामोंके समूहकी पञ्चायत और प्रादेशिक पञ्चायत ऐसी कई प्रकारकी पञ्चायतोंकी विधि हिन्दुसमाजमें अति प्राचीनकालसे प्रचलित है। इसका प्रमाण अर्थशास्त्र और अनेक इतिहासोंमें भलीभांति मिलता है। बौद्ध सम्राटोंके समय भारतवर्षमें इस प्रकार-

की पंचायत उपस्थित थी और पंचायतोंके नेता चुनावकी सार्वजनिक प्रथाके अनुसार निर्वाचित होते थे, इसका प्रमाण बौद्ध ग्रन्थोंके अनेक स्थानोंमें मिलता है। तदनन्तर मुसलमान साम्राज्यके समयमें भी यह पंचायत प्रथा बहुत ही दृढ़ताके साथ भारतवर्षमें प्रचलित थी, इसका प्रमाण उस समयके इतिहासके ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

मुसलमान साम्राज्यके समय इस प्रकारकी ग्राम नगर और प्रादेशिक पंचायती प्रथा इतनी सुदृढ़ थी कि मुसलमान राजपुरुषोंने अपनी स्वार्थपूर्ण राजकीय सफलताके विचारसे अनेक वार उक्त प्रथाके नष्ट कर देनेका बड़ा भारी यत्न किया था और यह तो इतिहासमें भलीभांति सिद्ध है कि जिस समय प्रबल पराक्रमी अफगान और मुगल सम्राटोंने बल पूर्वक हिन्दुसमाज और हिन्दुधर्मके स्थानपर मुसलमान सामाजिक व्यवस्था और मुसलमान धर्मको सारे भारतवर्षमें स्थापन करनेका पूरा यत्न किया था, उस समय उनके सब प्रकारके प्रबल पुरुषार्थ विफल ही नहीं हुए थे किन्तु इसी सुदृढ़ सामाजिक सुव्यवस्थाके कारण ही विजयी मुसलमानगणको हिन्दु आचार व्यवहारके पक्षपाती बनना पड़ा था। पूज्यपाद महर्षियोंद्वारा प्रदर्शित सनातनधर्मके सदाचारोंकी दृढ़ता और सामाजिक अनुशासन व्यवस्थाका ही कारण है कि अनेक शताब्दियोंसे यह आर्य्यजाति मर्द्दित होनेपर भी इसके आन्तरिक स्वरूपमें कोई भी परिवर्तन कर नहीं सका है। मुसलमान साम्राज्यके समय हिन्दु पंचायत व्यवस्थाका प्रभाव विजयी मुसलमान राजपुरुषोंपर इतना अधिक पड़ा था कि उन्होंने अनेक वार इस प्रथाके पक्षपाती बनकर सामाजिक नेताओंपर अपना राजनैतिक प्रभाव जमानेके अर्थ उनको राजमानसे अलंकृत किया था। मण्डल पति, सरपंच, चौधरी, सरदार, मलिक (बंगालेमें मल्लिक बन गया है) आदि मुसलमान सम्राटोंकी दी हुई उपाधियां अभी तक जो भारतवर्षके अनेक प्रदेशोंमें प्रचलित हैं, सो सब सामाजिक नेताओंकी उपाधियां हैं।

सनातन धर्मोक्तवर्णाश्रमके सदाचारोंके अनुसार जैसे ग्रहपति स्वाभावित-नेता है वैसे ही वर्णके गुरु ब्राह्मण और आश्रमके गुरु संन्यासी हिन्दुसमाजके स्वाभाविक नेता हैं। भेद इतना ही है कि गृहपति और समाजपति हिन्दुसमाजके सदाचार रक्षक नेता हैं और ब्राह्मण और संन्यासी धर्म और आध्यात्मिक उन्नति करानेवाले नेता हैं। सनातनधर्ममें आध्यात्मिक लक्ष्यको सबसे बड़ा स्थान दिया गया है इस कारण इन दोनों आध्यात्मिक नेताओंका अधिकार हिन्दुओंमें सबसे बड़ा माना गया है। हिन्दु सदाचारके अनुसार

हिन्दुसमाजमें ब्राह्मण स्वभावतः सर्वमान्य हैं। चाहे अन्य किसी वर्णका मनुष्य हो, चाहे लोकपति राजा क्यों न हो, ब्राह्मणका सम्मान करना, ब्राह्मणको देखते ही प्रणाम करना, विद्वान् ब्राह्मणका परामर्श स्वीकार करना उसका धार्मिक कर्तव्य है। यद्यपि मूर्ख ब्राह्मण और ब्राह्मणवृत्तिहीन ब्राह्मणका परामर्श मानना अथवा श्राद्ध आदिमें भोजन कराना शास्त्रमें निषिद्ध है. परन्तु विद्वान् वेदज्ञ और ज्ञानवान् ब्राह्मणोंको देववत् आदर करनेकी आज्ञा शास्त्रके सब स्थानोंमें पाई जाती है। सनातनधर्मके शास्त्रोंके अनेक स्थानोंमें ऐसी आज्ञा पाई जाती है कि विद्वान् ब्राह्मणमण्डली धर्मसम्बन्धमें जो व्यवस्था देवे वह व्यवस्था वेदके समान माननीय है। जिस प्रकार वर्णके गुरु ब्राह्मण हिन्दु समाजमें स्वाभाविक रीतिसे हिन्दु-समाजके नेतृत्वको प्राप्त किये हुए हैं, अध्यात्मिक कार्योंमें, आध्यात्मिक उपदेश ग्रहण करानेमें और अध्यात्मिक नेतृत्वके विचारसे सब आश्रमोंके गुरु संन्यासीगण भी अतिशय माननीय समझे गये हैं। यह एक सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है और आर्यजाति नामक प्रबन्धके द्वारा पहले ही प्रतिपादन किया गया है कि पूर्ण प्रकृतिकी विकाशभूमि भारतवर्ष ही है और इसीलिये सामाजिक पूर्णादर्शका विकाश भारतवर्षमें ही हो सकता है। भारतके प्राचीन इतिहासपर पर्यालोचन करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रमगुरु संन्यासियोंने ही चिरकालसे इस समाजकी रक्षा की है। जबतक हिन्दुसमाजमें महर्षि वशिष्ठ जैसे ब्राह्मण नेता होते थे तबतक रामराज्यकी शान्ति और उन्नति भारतमें विद्यमान थी और जबतक भारतवर्षमें महर्षि याज्ञ-वल्क्य जैसे संन्यासी नेता हिन्दुसमाजरूपी नावके कर्णधार थे तबतक प्रबल विपत्तिरूपी आंधीके धक्केसे भी हिन्दुसमाज नहीं हिला। आर्य्यजातिकी अतिवृद्ध दशामें भी श्रीभगवान् शंकराचार्य्य जैसे संन्यासीने भारतवर्षव्यापी हिन्दू समाजका पुनः संस्कार करके भारतवर्षके चार कोनोंमें चार धर्मराजरूपी चार धर्माचार्योंको बैठाकर हिन्दु समाजको पुनः सुदृढ़ किया था। रत्नप्रसविनी भारतमाता है इसलिये भारतके इस दुर्दशाके दिनोंमें भी भारत बीजशून्य नहीं है और इसीके फलसे आज दिन सामाजिक जीवनमें बाहरसे इतना धक्का लगनेपर भी भारतका सामाजिक जीवन अभी तक नष्ट नहीं हुआ है।

समाज मनुष्योंके सम्मिलनसे उत्पन्न होता है इसलिये अन्तः सम्मिलन जितना दृढ़ होगा समाज उतना ही बलवान् होगा और उसकी क्रियाशक्ति भी उतनी ही बढ़ेगी। सम्मिलन बढ़ता है सहानुभूतिकी वृद्धिसे, सम्मिलन बढ़ता है स्वार्थत्यागसे, फलतः सम्मिलन बढ़ता है धर्मकी वृद्धिसे, अतः जिस

समाजमें धर्मकी जितनी वृद्धि होगी उसमें समाजकी सकल प्रकार उन्नति भी उतनी ही होगी। समाजकी यथार्थ उन्नति केवल शिल्पादिकी उन्नतिसे नहीं होती, केवल स्थूल जीवनकी भोग्य वस्तुओंको सुलभ बनानेपर भी नहीं होती, धनकी विशेष वृद्धि द्वारा भी नहीं होती, बाहरी साम्यभाव विस्तार करनेसे भी नहीं होती और आत्मप्रशंसा करनेपर भी नहीं होती है। जिस समाजमें मनुष्योचित आदर्श जितना उच्च है, उसके प्रति प्रीति, भक्ति और उसकी साधन-चेष्टा जितनी अधिक है, वह समाज उतना ही धार्मिक और उन्नतिशील हुआ है इसमें संदेह नहीं। महान् शोकका विषय है कि वर्त्तमान हिन्दु समाजमेंसे उल्लिखित आदर्श दिन बदिन लुप्त होता जाता है। हिन्दु धर्मसमाजसे त्याग, विषयवैराग्य और सदाचारका प्रवाह घटकर उसमें दिन प्रतिदिन विषय-तृष्णाका प्रबलवेग होता जाता है। वर्णाश्रमकी मर्यादा इतनी शिथिल हो गई है कि यथार्थ वर्णधर्म और आश्रमधर्मका आदर्शजोवन कदाचित् बहुत ही अन्वेषणसे दिखाई पड़ता है। साथ ही साथ नारीगणमें पतिसेवारूपी धर्मकी न्यूनता होकर विलास बुद्धि हो चली है। आर्यनारीगणमें पतिभक्तिका अभाव, आर्यपुरुषोंमें सत्यप्रियताका अभाव और आर्य बालक बालिकाओंमें पितृ-मातृ-भक्ति और गुरुजनोंमें भक्तिका अभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही दिखाई देता है। अन्तःशुद्धि जो हिंदुसमाजका प्रधान लक्ष्य था उसका लोप होकर बाह्याडम्बरकी ओर अधिक लक्ष्य पड़ने लगा है। परोपकार-प्रवृत्ति, स्वजाति-अनुराग, स्वदेशप्रेम, उत्साह, न्यायदृष्टि, सरलता, पवित्रता, एकता, आस्तिकता, शौर्य्य, पुरुषार्थशक्ति आदि मनुष्यजातिकी उन्नत गुणावलीका अभाव हिन्दु समाजमें दिन बदिन बढ़ता जाता है। गुणपरीक्षाकी शक्ति समाजमेंसे एकबार ही जाती रही है। समाजमें यहाँतक लघुता आगई है कि जो महापुरुष देश, जाति तथा धर्मके लिये कदाचित् आत्मोत्सर्ग करते हैं उन्हींको लोग स्वार्थी, प्रवञ्चक और कपटी समझकर उनके साथ दुर्व्यवहार करनेमें प्रवृत्त होते हैं और बाह्याडम्बरयुक्त स्वार्थी और कपटाचारी लोग ही समाजमें धर्मसेवी माने जाते हैं। मुसलमानराज्यके समय अनेक प्रकारकी असुविधा होनेपर भी इस समाजमें जो आर्यजनोचित रीति, नीति, धर्म, कर्म, शिल्प, वाणिज्य, वेष, भाषा और सदाचार आदिकी प्रतिष्ठा थी, किन्तु आज ब्रिटिश राज्यमें समाजोन्नतिके विषयमें सकल प्रकारकी सुविधा रहनेपर भी वह आर्यजनोचित रीति, नीति, धर्म, कर्म, सदाचार आदि लुप्तप्राय देखनेमें आरहे हैं। इतिहासज्ञ पुरुष मात्र ही अनुसन्धान द्वारा जान सकते हैं कि आर्यजाति ही पृथिवीकी

अन्यान्य सकल जातियोंकी आदि तथा शिक्षागुरु है। धर्मकी उन्नति, वैज्ञानिक उन्नति, शिल्पकी उन्नति, संगीतविद्याकी उन्नति, युद्धविद्याकी उन्नति चिकित्सा-विद्याकी उन्ननि, ज्योतिषविद्याकी उन्नति, दार्शनिक उन्नति, समाजकी उन्नति और भाषागत उन्नति आदिके विषयमें हिंदुसमाज ही सबसे प्रथम पूर्णाधिकार-को प्राप्त हुआ था और तदनन्तर उसकी ही ज्ञानप्रभा शिष्यपरम्परा द्वारा पृथिवी भरमें प्रकाशित हुई है। इन विषयोंके अनेक प्रमाण और दृष्टान्त पूर्व प्रबन्धमें पहले ही दिये गये हैं। कराल कालकी विकराल गतिका पार नहीं। प्रायः दो सहस्र वर्ष पहिले जो जाति पशुवत् थी अब वही जाति योग्यता प्राप्त करके अधःपतित आर्यजातिकी शिक्षागुरु होनेके लिये अग्रसर हो रही है और अति प्राचीन कालसे जो जाति जगद्गुरु नामसे प्रसिद्ध थी उसी आर्यजातिकी वर्त्तमान हीनावस्था देखकर पृथिवीकी अन्यान्य जातियाँ उपहास पूर्वक अंगुली उठाने लगी हैं। अनुकरण-शून्यता और एकताके न होनेसे जातीय भावकी उन्नति नहीं हो सकती और विना जातीय भावकी रक्षाके कोई जाति चिरकाल पर्यन्त जीवित नहीं रह सकती। स्वजातीय ऐक्यका अभाव और परजातीय अनुकरणकी वृद्धि द्वारा आज दिन हिंदुसमाज बहुत ही हीनताको प्राप्त हो गया है। वेश और भाषाकी तो इतनी दुर्दशा हो गई है कि हिन्दुसमाज अपना जातीय वेष और अपनी मातृभाषाको छोड़कर विजातीय वेष और भाषाके ग्रहण करनेमें अपनेको सम्मानित समझने लगा है। विचार द्वारा यह अनुमान-में आ सकता है कि नाना प्रकारसे लांछित और पीड़ित होनेपर भी मुसलमान साम्राज्यके समय इस हिन्दु समाजके सात्विक तेजकी इतनी क्षति नहीं हुई थी जितनी इस समयमें प्रतीत होती है। बुद्धिमान् ब्रिटिश गवर्नमेण्टके धर्म और समाज सम्बन्धीय उन्नतिके विषयमें हिन्दुसमाजको सभी प्रकारकी स्वाधीनता देनेपर भी अपनी प्रमाद-बुद्धिके कारण हिन्दूसमाज दिन बदिन अधिकतर हीनदशाको प्राप्त होता जाता है। अब इस समाजकी न तो अपनी मातृभाषाकी ओर दृष्टि है और न इसमें स्वदेशीय शिल्पकी ही उन्नति देख पड़ती है। वैदिक धर्मका यथार्थ स्वरूप और आर्यसदाचारका तो इतना लोप हुआ है कि जिससे इस जातिमेंसे धर्म और सदाचारके स्थूलचिन्ह तक लुप्त होने लगे हैं। अब हिन्दुसमाजकी यह अवस्था हुई है कि अपने समाज और जातिगत आचारोंको छोडकर विरुद्ध आचारोंको ग्रहण करनेपर भी तथा अपने सदाचारों-का नाश करके अन्य जातिका उच्छिष्ट भोजन करनेपर भी अपनी जातिमें प्रायः कोई निन्दनीय नहीं होते जिसके कारण सकल वर्णोंमें स्वेच्छाचारका प्रवाह

दिन प्रतिदिन प्रबल होता चला जाता है। जाति और समाजगत उन्नतिके लक्षण गुणपक्षपात, पुरुषार्थशक्ति और ज्ञान हैं। इस विज्ञानके अनुसार कहना होगा कि जातिगत अवनतिके लक्षण दोषदर्शनप्रवृत्ति, आलस्य और अज्ञान हैं। हिंदु समाजमें यद्यपि प्राचीन कालमें ऊपर लिखित उन्नतिके लक्षण विद्यमान थे तथापि इस समय केवल अवनतिके लक्षण ही देखनेमें आते हैं। फलतः जाति और समाजगत बन्धनकी शिथिलताके कारण अब हिंदुसमाजके मनुष्योंको न तो पिता माता और कुटुंबके लोगोंकी लज्जाका विचार है और न समाजमें निंदनीय होनेका ही कुछ भय है। अब सर्वत्र भीषण निरंकुशता, आचारहीनता और असच्चरित्रता फैल गई है इस कारण हिंदुसमाज दिन प्रतिदिन रसातलको जारहा है। जिस आर्यजातिके लक्ष्य स्थिर करानेके अर्थ श्रीभगवान्‌ने स्वयं आज्ञा की है कि मैं "पौरुषं नृषु" अर्थात् पुरुषोंमें पुरुषार्थरूपी हूं, जिस जातिमें प्राचीन कालके निवृत्तिपथगामी वानप्रस्थ और सन्यासिगण तक केवल संसारहितकर कार्यौमें प्रवृत्त रहकर एकमात्र पुरुषार्थके अवलम्बन द्वारा कर्मयोगी हो अपनी जीवनयात्राका निर्वाह किया करते थे, उसी आर्यजातिमें अब निवृत्तिसेवी संन्यासियोंका तो कहना ही क्या है प्रवृत्ति मार्गके अधिकारी गृहस्थगण तक आलस्य ग्रसित होकर उद्यमहीन हो गये हैं। तुरीयाश्रमी संन्यासी अपने आश्रमधर्मको भूलकर कामिनी काञ्चनासक्त हो रहे हैं। ब्राह्मणोंमें तप, संयम, जितेंद्रियता और त्यागका नाश होकर धनलालसा, आलस्य, लोभ, विषयभोगप्रवृत्ति तथा इन्द्रियपरायणताकी वृद्धि हो रही है। क्षत्रियोंमें शौर्यका नाश होकर घोर कामासक्ति बढ़ रही है। वैश्यगण उद्यमहीन होकर निर्धन हो गये हैं और कृषि-गोरक्षा-वाणिज्यविमुख होकर दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं। शूद्रगण सेवाधर्म छोड़कर अनधिकार चर्चामें प्रवृत्त दिखाई देते हैं। संस्कृत विद्याके विद्वान्‌गण प्रायः आचारहीन और धर्मज्ञानविहीन हो रहे हैं और राजभाषाके ज्ञाता पुरुषगण शास्त्रश्रद्धा-विहीन, स्वेच्छाचारी और अनार्यभावापन्न होते जाते हैं। कलियुगमें दानधर्म प्रधान होनेपर भी धनाढ्य पुरुषगण केवल नामके लिये और राजसम्मानप्राप्तिके लिये ही प्रायः दान किया करते हैं। सब ओर ही इस प्रकारके अनेक विपरीत लक्षण दिखाई दे रहे हैं। जातीयपापके फलसे देशव्यापी कठिन महामारी, प्लेग आदि भीषण रोग उत्पन्न होकर प्रतिदिन हिन्दूप्रजाका क्षय और अधोगति करा रहे हैं। घोर सर्वनाशी दुर्भिक्षने सारे भारतवर्षको ग्रास कर लिया है। समष्टि प्रजाकी अधर्मप्रवृत्ति तथा दुर्गतिके कारण पंचतत्त्वोंमें विकार होकर ऋतुविपर्यय आदि दोष तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूमिकम्प,

उल्कापतन, धूमकेतूदय और स्थायी महामारी आदि राष्ट्रीयशान्तिनाशकारी अमङ्गलके लक्ष्य प्रकाशित हो रहे हैं अतएव भारतवर्षकी इन सब आधिभौतिक विपत्तियोंपर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि हिन्दूसमाज अब कर्मभ्रष्ट, धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और शक्तिभ्रष्ट होकर अत्यन्त हीन दशाको प्राप्त हो गया है।

हिंदुसमाजकी इस प्रकार हीनदशाका सुधार कैसे हो? सुधारके लिये सुधारक नेता चाहिये। यदि संसारचक्रके नेता सर्वशक्तिमान् परमात्मा न होते तो प्रकृतिकी यह मनोहर स्थिति कदापि नहीं रह सकती। यदि ज्ञान जगत्के नेता पूर्ण ज्ञानी नित्य ऋषिगण न होते तो संसारमें ज्ञानकी नित्य और नियमित स्थिति कदापि न बनी रहती। यदि दैवजगत्के नेता शक्तिमान् देवतागण न होते तो कर्मानुसार जीवकी यथार्थगति कभी देखनेमें नहीं आती। यदि स्थूलजगत्के नेता नित्य पितृगण न होते तो धनधान्यपूर्ण पृथिवी कदापि जगज्जनोंके सन्मुख शोभायमान नहीं रहती। अतः किसी समष्टिकार्यकी उन्नतिके लिये योग्य और शक्तिमान् नेता अवश्य ही चाहिये। हिन्दूसमाजकी वर्त्तमान दीनदशाके सुधारके लिये भी हिंदूजातिको योग्य नेताका अन्वेषण या प्रकटन अवश्य करना पड़ेगा। अब इस प्रकारके महात्मा नेताका आविर्भाव कैसे हो सकता है, इसके लिये कोई उपाय है कि नहीं, यही हिंदूसमाजके वर्त्तमान चिन्ताका विषय है। चिंता करनेपर सिद्धान्त होता है कि इस विषयमें हिंदूसमाजके अवश्य कर्त्तव्य दो कार्य हैं जिनके नियमित अनुष्ठानसे हिंदुसमाजमें योग्य नेता प्राप्त हो सकेंगे। प्रथमः—जब किसी शुभकार्यके साधनके लिये हम स्वयं इच्छा करते हैं तो उस समय यदि किसी दूसरेको वही अथवा उस प्रकारके कार्यमें यत्नशील देखें तो अन्यान्य विषयमें मतभेद होनेपर भी उसके साथ हमें योगदान करना चाहिये। जगन्नाथ देवके रथमें एकचित्त होकर अनेक मनुष्य हाथ लगाते हैं तभी रथ चलता है। द्वितीयतः—प्रतिवेशी हो, परिचित हो अथवा प्रसिद्ध कोई भी स्वजातीय व्यक्ति हो जिसको हम सम्मानके वास्तविक योग्य हृदयसे समझते हैं उसका अवश्य ही सम्मान करना चाहिये। हम जातिमें हिंदू हैं, हम अपने हाथसे मिट्टी उठाकर, उसे छानकर, प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा करनेको और उससे वर प्रार्थना करनेको अच्छी तरह जानते हैं। अतः अपनी जातिके स्वभावके अनुसार प्रकृतिस्थ रहनेसे हम छोटेको बड़ा बना ले सकते हैं। बड़ा देखने और बड़ा बनानेकी चेष्टा करते करते हमारे भाग्यसे बड़े अवश्य

ही उत्पन्न हो जायँगे क्योंकि संसार इच्छाशक्तिका ही परिणामरूप है। जिस देशमें ईर्षा, द्वेष और दोषदर्शिताका आधिक्य है, उस देशमें यथार्थ महात्माका आविर्भाव नहीं हो सकता और यदि होता भी है तो ऐसे महात्मा अल्पायु होते हैं क्योंकि जातीय गुणपूजावृत्तिकी सम्मिलित शक्तिके द्वारा ही इस प्रकार विभूतियुक्त महात्माओंका जन्म होता है और उन्हें दीर्घायु प्राप्ति होती है। उसी प्रकारसे जातीय दोषदर्शनप्रवृत्तिके फलसे समाज और जातिमें पूर्व्वोक्त विभूतिका अभाव हो जाता है, ऐसे महात्मा उत्पन्न नहीं होते और कदाचित् होनेपर भी अल्पायु हो जाते हैं। हिंदूसमाजकी इस अधःपतित दशामें ईर्षा, द्वेष और दोषदर्शितारूपी दुष्प्रवृत्तियोंकी विशेष वृद्धि हुई है। हिंदूजाति स्वदेशी तथा स्वजातीय किसीको महापुरुष रूपसे देखना और जानना नहीं चाहती है। उनके विचारमें अपनी जातिके सभी तीन कौड़ीके मनुष्य हैं। जैसा साधन, सिद्धि भी वैसी ही होती है। हम तीन कौड़ीके आदमी देखना चाहते हैं इसलिये हमारे भाग्यमें तीन कौड़ीके ही आदमी मिलते हैं। हिंदुसमाजमेंसे यह भीषण दोष जब तक नहीं दूर होगा तब तक हिंदुजातिके भीतर महापुरुषका आविर्भाव नहीं हो सकेगा। फलतः अनुवर्ती (माननेवाले) लोगोंके रहनेसे ही महात्मा पुरुष नेता या अग्रणी हो सकते हैं। स्वजातीय मनुष्योंकी निन्दा करना, स्वजातीय मनुष्योंका दोषानुसन्धान करना और स्वजातियोंका अनुवर्त्तन न करना यही हिंदूजातिका मर्म्म तथा मज्जागत महापाप है और हमारे समाजका वर्त्तमान अधःपतन और दुर्दशा इसी महापापका अवश्यम्भावी फल तथा उसका प्रायश्चित्तरूप है जब यह प्रायश्चित्त पूर्ण होगा तभी हम स्वदेशीय महात्माओंकी गुणगरिमाको देख सकेंगे और तभी अर्थलोलुप, लघुचित्त, विषयविलासी तथा अनुदारप्रकृति अनार्य्यवृत्तिसम्पन्न जनोंको सर्वगुणाधार नहीं समझेंगे और उनकी मनस्तुष्टिके लिये स्वदेशीय पूर्वाचार्योंका अपमान, स्वदेशीय रीति नीतिके प्रति घृणा और स्वजातीय लोगोंकी कुत्सा तथा निन्दाप्रचार करके अपनी जिह्वा और जीवनको कलङ्कित नहीं करेंगे।

भारतभूमि वास्तवमें ही रत्नप्रसविनी है। यहाँपर सदा ही यथार्थमें महान् बीजोंका अंकुर निर्गत होता रहता है। यदि ऐसा न होता तो इतने नवीन नवीन सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति कैसे होती? चाहे छोटेसे छोटे ही हों, जिनमें एक एक सम्प्रदाय बनानेकी शक्ति है, उनमें कुछ न कुछ माहात्म्य अवश्य ही है ऐसा समझना चाहिये; परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता कि जो कोई संस्कारक या सुधारक नामधारी हो उसीका अनुवर्त्तन करना होगा।

दूसरी ओर विना सोचे अनुवर्तन करना भी अच्छा है तथापि किसीमें शक्ति या गुणका लेशमात्र देखते ही असूया या ईर्षा करना उचित नहीं है; परन्तु जो महात्मा पुरुष हिन्दुसंमाजके यथार्थ नेता बनेंगे उनमें निम्नलिखित लक्षण अवश्य होने चाहिये ऐसा पहलेहीसे स्मरण रक्खा जाय।

(१) वे परम धार्मिक, आध्यात्मिक उन्नतिशील, त्यागी, परार्थपर और स्वजातीय जनोंके हिताकांक्षी हों।

(२) वे समस्त हिन्दूजातिमें परस्पर सम्मिलनके उपयोगी उपायोंका ही आविष्कार करेंगे अतः अधिकारभेद-विज्ञानको अटूट रखते हुए भी समस्त सम्प्रदायोंके प्रति पक्षपातशून्य हों।

(३) वे पूर्ववर्ती स्वदेशीय शिक्षादाता और नेताओंका कुछ भी अगौरव नहीं करेंगे; अधिकन्तु अपने उदारतर मतवादके बीचमें पूर्वाचार्योंसे प्राप्त समस्त शिक्षासूत्रोंका सन्निवेश करेंगे।

(४) वे सनातनधर्मकी सर्वव्यापकता तथा पितृभावको भलीभांति प्रत्यक्ष करते हुए, आर्य और अनार्यके भेदको समझते हुए और स्वयं विद्वान् होते हुए भी किसी उपधर्म, पन्थ अथवा मत और धर्म सम्प्रदायके निन्दक वा विरोधी नहीं होंगे।

(५) वे वेदार्थकी गभीरताके साथ पुराणादि शास्त्रोंतकमें उसी गभीर ज्ञानके प्रतिविम्बको देखते हुए, वैदिक सप्तदर्शनोंका भूमिज्ञान और विभिन्न अधिकारियोंके अधिकारज्ञानमें अतिविज्ञ होनेपर भी धर्माधिकारमें अति छोटेसे छोटे अधिकारीका भी अनादर नहीं करेंगे।

(६) वे पारमार्थिक ज्ञानके साथ व्यवहार-कुशलताकी योग्यता भी पूरी रक्खेंगे और इसकी सहायतासे आर्यमर्यादाके मौलिक आदर्श समूहका देशकालानुसार सामञ्जस्य करनेमें समर्थ होंगे।

(७) उनके मतवादमें शास्त्र, दार्शनिक विज्ञान और युक्तिका समस्त सारतत्त्व सम्मिलित रहेगा।

(८) वे परोपकार और परमोपकार दोनोंके महत्त्वको समझकर सदा निष्काम व्रतको ही जीवनका प्रधान लक्ष्य समझेंगे।

(९) वे स्वयं वर्णाश्रम धर्मके दृढ़ पक्षपाती और अनुष्ठान करने वाले और प्रवृति और निवृत्ति-धर्मके ज्ञाता होकर यथाधिकार शिक्षाके पक्षपाती होंगे।

(१०) सूर्यदेवकी तरह भारताकाशमें पूर्वसे उदित ग्रहनक्षत्रादिको अपनी ज्योतिमें लय कर लेंगे परंतु किसीको नष्ट नहीं करेंगे।

इन सब लक्षणोंके साथ उनमें तीक्ष्णबुद्धिमत्ता, अगाधपाण्डित्य, असाधारण वाक्शक्ति; अपूर्वलेखकुशलता, असीम उदारता और समस्त प्रखर ओजो गुणोंका भी सम्मेलन रहेगा। प्रकृतिके नियमानुसार वर्णोंके गुरु ब्राह्मण और आश्रमके गुरु संन्यासी हैं इसलिये ब्राह्मण तथा संन्यासियोंमेंसे ही इस प्रकारके नेताका आविर्भाव होना प्रकृत्यनुकूल होगा। ऊपरलिखित इन सब लक्षणोंके देखते ही निम्नलिखित भगवद्वाक्यका स्मरण करना चाहिये।

यद्द यद्द विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्॥

जिसमें प्रभा, श्री और तेज देखा जाय वही भगवान्के तेजसे सम्पन्न है ऐसा समझना चाहिये।

अतः जिस पुरुषमें ऊपरलिखित नेतृलक्षणोंका आभास मिले उसके गौरव बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। देशके बुद्धिमान् लोग यदि इस नियमका अनुसरण करें तो देशमें ऐसे कोई महापुरुष उत्पन्न हो गये हों तो वे शीघ्र ही प्रकट हो जाएँगे और यदि ऐसे कोई महात्मा अभी तक प्रकट न हुए हों तो उनके भी प्रकट होनेका समय निकट हो जायगा। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की शक्ति व्यापक है। जिस प्रकार प्रकृतिमाताके हृदयकी प्रार्थना और भक्तोंकी प्रार्थनाशक्तिके आकर्षणसे युगानुसार धर्मरक्षाके लिये श्रीभगवान्की व्यापक शक्ति केन्द्रविशेषके द्वारा असाधारणरूपसे प्रकटित होकर अवतारका कार्य करती है; उसी प्रकार समस्त हिंदूजातिके हृदयकी प्रार्थनाशक्ति तथा गुणपक्षपातशक्तिके आकर्षणसे भगवान्की शक्ति हिंदूजातिके अभ्युदयके लिये ऊपर कथित लक्षणोंसे अलंकृत योग्य नेतारूपसे प्रकट होकर भारतका भाग्योदय कर देगी इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है। मन्दाकिनीकी दिव्य लोकविहारिणी दिव्यशक्तिको भक्त भगीरथकी तपःशक्तिने ही मर्त्यलोकमें आकर्षण कर लिया था। श्रीभगवान्की सर्वव्यापिनी शक्तिको भक्त प्रह्लादकी प्रार्थनाशक्तिने मूर्त्तिमती बनाकर स्तम्भके भीतरसे प्रकट करा दिया था अतः हिन्दूजातिकी इच्छा शक्तिके सम्मिलित होनेसे भगवद्विभूतिरूप नेताका आविर्भूत होना असम्भव नहीं होगा। हिंदूमात्रके हृदयमें इस प्रकार आशाका संचार होनेसे हिंदू समाजके अधःपतननिवारण, उन्नति साधन और कल्याणप्राप्तिके लिये सजा-

तीय नेताका आविर्भाव अवश्यही होगा, इस प्रकारके आशाके साथ विश्वास भी सम्मिलित रहना चाहिये; क्योंकि श्रीभवान्ने कहा हैः—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

धर्महानि तथा अधर्मके उदय होनेपर अवतार या विभूतिरूपसे श्रीभगवान् प्रकट होते हैं अतः इस प्रकारका विश्वास हृदयमें दृढ़ होनेसे हिंदूजातिका कार्यसमूह, व्यवहार और चित्तवृत्ति ऐसी ही विशेषताको प्राप्त हो जायगी।

महापुरुष नेताका आविर्भाव होगा यह सत्य है; परन्तु कहां होगा, कब होगा इसका अनुमान करना कठिन है इसलिये ऐसी घटना अपने ही घरमें हो सकती है, प्रत्येक व्यक्तिके चित्तमें ऐसी धारणा होनी चाहिये और तदनुसार अपने गृहको प्रकट होनेवाले देवताके पवित्र मंदिरकी तरह बना रखना चाहिये। द्वेष, हिंसा, लोभ, ईर्षा आदि नीच प्रवृत्तियोंसे अपने मनकी रक्षा करनी चाहिये। अपनी अपनी सन्तानोंके विषयमें ऐसी धारणा होनी चाहिये कि मानों अपना छोटासा शिशु ही इस प्रकारका महात्मा होगा। ऐसा होनेसे ही हिंदूजाति सम्मिलन सूत्रमें बद्ध होगी, ऐसा होनेसे ही जन्मभूमि यशकी मालासे सुशोभित हो जायगी और ऐसा होनेसे ही भारतवर्षमें धर्मका अभ्युदय होगा, जिससे समग्र हिन्दूजाति निष्पाप तथा पुण्यवान् हो जायगी। एक शिशुकी भावी अवस्था या शक्ति क्या हो सकती है या क्या नहीं हो सकती, इसका निश्चय कौन कर सकता है? अपने अपने अन्तःकरणमें नेता महापुरुषके आविर्भावकी आशा इस प्रकार दृढ़ और उदार रूपसे संचित रख कर अपने जीवनको पवित्र बनानेके निमित्त यत्नवान् होनेसे तथा शिशु और युवकोंकी सुशिक्षाके लिए निरंतर चेष्टा करनेसे सभी मनुष्योंके चित्त दिन ब दिन उन्नत हो जायँगे। अनेकानेक सुशील मनुष्योंके हृदय इस प्रकार उन्नत, पवित्र और एकाग्र होना भी नेतृमहापुरुषके आविर्भावका दूसरा कारण स्वरूप हो जायगा। एकप्राणता तथा पुरुषार्थके साथ कतिपय मनुष्योंकी चित्तोन्नति न होनेसे किसी देशमें महापुरुषोंका आविर्भाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार अधित्यकासे ही उच्चतम पर्वतशृङ्ग उत्थित होता है, उसी प्रकार हृदयवान् व्यक्तियोंके बीचमें ही उच्चतम महात्माओंका आविर्भाव होता है। हिमालय पर्वतकी अधित्यकासे ही काञ्चनगिरीकी उत्पत्ति हुई है, किसी निम्नदेशसे नहीं हुई है। अतः देश तथा समाजके जनसाधारणके हृदयमें

जिससे आशा, भगवत्कृपापर विश्वास, गुरुभक्ति, अध्यवसाय, एकाग्रता, सत्यनिष्ठा, सहानुभूति, जातीयता और धर्मभावकी वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न करना वर्त्तमान हिन्दूसमाजके लिये अवश्य कर्त्तव्य हैं। शिक्षाकार्य बुद्धिमत्ता, बहुज्ञता, आत्मनिर्भरता, वाक्शक्ति, उदारता और ओजस्वितावृद्धिकी चेष्टाके साथ साथ स्वजातिवात्सल्यके प्रति एकाग्र होकर परिचालित होना आवश्यक है।

इस प्रकार उल्लिखित नेतृलक्षणोंसे विभूषित नेताके प्रकट होनेपर हिन्दू सामाजिक जीवनकी उन्नतिके लिये उस नेताका क्या क्या कर्त्तव्य होगा सो नीचे क्रमशः बताया जाता है:—

(१) प्रथमतः नेताको विचार द्वारा यह निर्णय करना होगा कि जिस जाति तथा समाजकी उन्नतिके लिये वे श्रीभगवान्की ओरसे उत्तरदाता (जिम्मेवार) हैं उस जातिकी मौलिक सत्ता क्या है; क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा गया है, प्रत्येक जाति और समाजकी उन्नति मौलिक सत्ताकी उन्नतिसे—जिन विशेष बातोंकी उन्नतिके ऊपर जातीय जीवनका अस्तित्व और उन्नति निर्भर है उन विशेष बातोंकी उन्नतिसे—ही होती है।

यह बात भी पहले ही कही गई है कि उन्नति बीज-वृक्षन्यायसे होती है अर्थात् जिस प्रकार वृक्षकी उन्नति जिस वृक्षका जो बीज है उस बीजके पूर्ण प्रकट होनेसे ही होती है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति और समाजकी उन्नति उस जाति और समाजके आदि बीजकी उन्नति और उसके पूर्ण प्रकट होनेके द्वारा ही होती है। अतः हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये उपाय निर्द्धारणके पहले नेता महाशयको विचारपूर्वक निर्णय करना होगा कि आर्य्यजातिका जातीय मौलिक बीज क्या है। आर्यजाति तथा अनार्यसे उसकी विशेषता नामक पूर्व प्रबन्धमें बताया गया है कि आर्य्यजातिके जातिगत जीवनके मौलिक बीज कौन कौन हैं और अन्य जातियोंके साथ किन किन बातोंमें आर्यजातिकी विशेषता है, प्रत्येक जाति अपने जातिगत जीवनकी विशेषताको दृढ़ रखकर और उसीकी उन्नतिके द्वारा उन्नत होती है। कोई जाति अपने जातिगत जीवनकी विशेषताको नष्ट करके या अन्य जातिमें अपने आपको मिलाकरके उन्नत नहीं हो सकती है। अतः इस विषयमें नेता महात्माका ध्यान पहले ही आकृष्ट होना चाहिये। उसको हिन्दूजातिकी अन्य जातिसे विशेषताके ऊपर दृष्टि रखकर तब जातीय उन्नतिका उपाय निर्द्धारण करना चाहिये। आर्यजाति केवल व्यावहारिक जीवनकी उन्नतिसे ही पूर्णोन्नत नहीं हो सकती। आध्यात्मिक पूर्णता सम्पादन ही आर्यजातिके समस्त कर्त्तव्यका लक्ष्य है। भारतकी प्रकृति

पूर्ण होनेसे उस प्रकारकी आध्यात्मिक पूर्णता भारतीय प्रकृतिके अनुकूल भी है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मके तथा पातिव्रत्यधर्मके पूर्ण पालन द्वारा ही आर्य नरनारी आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। वर्णाश्रमधर्म और सतीधर्मके विना आर्यजाति कदापि चिरकालतक जीवित रह नहीं सकती। आर्यजाति पर सहस्रों विजातीय अत्याचार होनेपर भी आजतक जो यह जाति अपनी सत्ताको दृढ़ रखनेमें समर्थ हो रही है इसका भी कारण वर्णाश्रम और नारियोंमें पातिव्रत्यधर्म ही है। सदाचारके साथ आर्यजातीय जीवनकी सकल प्रकारकी उन्नतिका क्या सम्बन्ध है इन सब विषयोंके पूर्ण रहस्य पूर्व प्रबन्धमें बताये गये हैं अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजनीय है। हिन्दूनेताको सदा ही सावधान रहना चाहिये कि विदेशीय शिक्षा या कालप्रभावसे हिन्दूजातिकी मौलिक सत्ताके प्रति हिन्दूसमाजकी उपेक्षा न हो जाय और आर्यजातिके प्रत्येक मनुष्यके हृदयक्षेत्रमें उसका बीज विद्यमान रहे।

(२) प्रत्येक देशके मनुष्योंमें और उनकी बाह्य प्रकृतिमें कुछ कुछ विशेष लक्षण पाये जाते हैं। एक ही देशमें उत्पन्न तथा प्रतिपालित मनुष्योंकी बाह्य (बाहरी) प्रकृति एक ही प्रकारकी होनेसे तथा उनके परस्पर मिले रहनेसे उनकी आन्तरिक वृत्तियां भी एकरूप हो जाती है। इस प्रकार एकरूपता ही स्वदेश और जातिके प्रति प्रेमभावका गूढ़ कारण है और यही कारण पुरुषपरम्परासे जातीय जीवनमें कार्यकारी होनेसे प्रत्येक जातिमें एक मौलिक जातीयभावकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारसे उत्पन्न जातीय भाव एकजातीयजनोंकी अंतःकरण-निर्माण-विशेषता तथा नाना बाह्य सादृश्योंके द्वारा प्रकट होता है, उनमेंसे आकार और रूपसादृश्य, भाव और चिंतासादृश्य, धर्म तथा आचारसादृश्य, भाषा और उच्चारणसादृश्य और राज्यशासन और सामाजिक रीतिसादृश्य, इतने सादृश्य (मेल) मुख्य हैं। अतः इन सब जातिगत बहिर्विषयोंके साथ जातीयभावरक्षाका घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। जिस जातिमें कोई विशेष जातीय भाव नहीं है, उस जातिका जीवन ही व्यर्थ है और भावहीन जातीय जीवन क्षणप्रभा विजलीकी तरह क्षणकालस्थायी भी है। अतः हिन्दूनेताको चाहिये कि हिन्दूसमाजकी उन्नतिके लिये हिन्दूभावोंकी सुरक्षा तथा उन्नति करें। आर्य्यजातीयभावोंमें विदेशीय या विजातीय भावान्तरोंका प्रवेश कदापि न होने देवें और धर्म, आचार, भाषा, सामाजिक रीति आदि भावोंसे उत्पन्न जातीय बाहरी सादृश्योंके दृढ़ रखनेके विषयमें सदा ही चेष्टा करें। व्यष्टि तथा समष्टि जीवनके एक ही रूप

होनेसे प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें निम्नतम स्तर (अवस्था) से लेकर उच्चतम स्तर-पर्यन्त जितने भाव होते हैं, पृथिवीके समस्त समाजमें उन्नतिके स्तरभेदानुसार उतनेही भाव होते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेसे समस्त जातीय व्यष्टि तथा समष्टि जीवनमें तारतम्यानुसार भावोंके दस स्तर देखनेमें आते हैं (क) केवल अपने ऊपर अनुराग। यह भाव बहुत ही निकृष्ट है। जहांपर ऐसा भाव मनुष्योंमें प्रबल होता है, वहां कोई जाति या समाज नहीं बन सकता और पहलेसे कुछ बना हुआ हो तो वह भी टूट जाता है। इस भावमें जातीय जीवन या सामाजिक जीवनका अंकुर तक नहीं जम सकता। (ख) अपने परिवारवर्गके प्रति अनुराग। इस भावके उदय होनेसे गृहपति अपने क्षुद्र गृहरूपी राज्यका अनुशासन भली प्रकारसे कर सकते हैं। हृदयकी उदारता अपनेमेंसे दूसरेके प्रति विस्तृत होनेका अभ्यास इस भावमें प्राप्त हो जानेसे सामाजिक जीवनका बीज इस भावमें उत्पन्न हो जाता है। (ग) बन्धुबान्धव तथा स्वजनोंके प्रति अनुराग। इस भावमें सामाजिक जीवनका पूर्वोत्पन्न बीज अंकुरित होने लगता है। (घ) निजग्रामवासियोंके प्रति अनुराग। (ङ) निज प्रदेशवासियोंके प्रति अनुराग। इन दोनों भावोंके उदय होनेसे पूर्वोक्त सामाजिक जीवनके अङ्कुर पल्लवित होने लगते हैं। तदनन्तर छठा भाव (च) स्वजातिवात्सल्य या स्वदेशानुराग है। इस भावकी वृद्धिके साथ साथ जातीय जीवन रूपी कल्पतरु पूर्णोन्नत होकर शाखापल्लव तथा फलफूलों-से सुशोभित होने लगता है। प्राचीन ग्रीक तथा रोमीयगण इस भावका विशेष गौरव करते थे और अपनी जातिके जिन जिन महात्माओंमें ऐसा महान् भाव देखते थे उनकी देवताके सदृश पूजा करते थे। नवीन यूरोपियोंमें भी इस प्रकारका भाव देखनेमें आता है। वे भी स्वदेश और स्वजातिवात्सल्यका गौरव करते हैं; परंतु प्राचीन ग्रीक और रोमीयगण जिसभावसे ऐसा करते थे, इनमें वह भाव प्रायः नहीं देखा जाता है। किसी यूरोपीय पंडितने कहा हैः—"स्वदेशानुरागरूपी वृक्षका मूल अभिमान है, इसकी शाखाप्रशाखा तथा पत्रादि बाह्य आडम्बर है, इसका काण्ड अन्य जातिके प्रति विद्वेष है, इसके फल पुष्पादि अपने देशकी समृद्धि और परदेशका पीड़न भी है, वह एक गुणदोषमिश्रित उपधर्ममात्र है"। वर्त्तमान पाश्चात्य जातियोंमें उल्लिखित छठा भाव इसी प्रकारका है। (छ) स्वजातिसे किंचित् भिन्न अन्यजातीय लोगोंके प्रति अनुराग। इस भावके उदय होनेसे छठे भावकी परजातिविद्वेषरूप सङ्कीर्णता कम होने लगती है। यूरोपके प्रसिद्ध संस्कारक विद्वान् अगष्ट कोमटिके मतानुयायी पुरुषोंका

अधिकार यहां तक है। (ज) मनुष्यमात्रके प्रति अनुराग। यह भाव बहुत ही उदार है। इसके उदय होनेसे परजातिविद्वेषरूपी अग्नि एकदम शान्त हो जाती है। सरलमना शिशुका यही भाव है और महात्मा ईसामसीहका भी यही भाव था। (झ) मनुष्यसे लेकर मनुष्येतर जीवमात्रके प्रति अनुराग। श्रीभगवान् बुद्धदेवका यही भाव था और बौद्धधर्मका भी यही अधिकार है। (ञ) सजीव, निर्जीव समस्त प्रकृतिके प्रति अनुराग और प्रकृतिके परपारमें विराजमान मनवाणीसे अगोचर परमात्मामें अनंत आनन्दमय विश्राम। जगद्गुरु आर्य महर्षियोंका यही भाव था और सन्तान आर्यजातिका यही सर्वोत्तम आदर्श है। दशम भावके नीचेके किसी भावमें रहनेसे उसके ऊपरके भावोंका अधिकार किसीको प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिये उस निम्नभावके पक्षपाती बनकर ऊपरके भावकी निंदा भी उस प्रकारके निकृष्ट या मध्यम अधिकारी कर सकते हैं। आर्यजातिके प्रति अन्य निम्नश्रेणीय जातियोंने जो कहीं कहीं कटाक्ष किया है उसके मूलमें भी यही कारण विद्यमान है; परंतु दशम भावके अधिकार पर विराजमान जाति अन्य निम्नभावके अधिकारी जातिपर कभी कटाक्ष नहीं करेगी; क्योंकि ऊपरके भावोंके प्राप्त होनेसे नीचेके भाव नष्ट नहीं हो जाते परंतु ऊपरके भावोंमें ही लय हो जाते हैं। यही कारण है कि जिससे आर्यजाति अन्य जातीय भावोंपर कटाक्ष या उनकी निन्दा नहीं करती, किन्तु अपने अपने अधिकारके अनुसार सबके कल्याणकी ही चिंता करती है; इसी कारण आर्य्यगणके प्रधान धर्म्माचार्यकी आज्ञा है:—

धर्म्मं यो बाधते धर्म्मो न स धर्म्मः कुधर्म्म तत् ।
अविरोधी तु यो धर्म्मः स धर्म इति निश्चयः ॥

तात्पर्य यह है कि जो धर्म्म अन्य धर्म्मको बाधा दे वह सद्धर्म नहीं है, कुधर्म्म है।

यह भी सिद्धान्त निश्चय है कि जिस मनुष्य अथवा जातिमें ऊपरका कोई भाव है उसमें नीचेके भाव स्वतः ही होंगे, क्योंकि प्रकृति नीचेके भावोंसे पुष्ट होती हुई, ऊपरके भावोंको प्राप्त करती है इसलिये आर्यजातिमें सर्वोच्च दशम भावके साथ साथ और नौ भावोंके भी पूर्ण विकाश हैं। आर्यजातिमें प्रकृतिपारङ्गत ब्रह्मभावका उदय होनेसे उसके परिवारके प्रति अनुराग, ग्रामके प्रति अनुराग, देश तथा जातिके प्रति अनुराग आदि भाव नष्ट नहीं हुए हैं, अधिकंतु पुष्ट और विशुद्ध ही हुए हैं और ऊपरके उन्नत भाव.के समावेश होनेके कारण वे

निम्नभावकी मलिनतासे मुक्त तथा परम विशुद्ध हो गये हैं। अन्य जातिकी पारिवारिक प्रीति काममोहादि मूलक है, परन्तु आर्यजातिकी आदर्श पारिवारिक प्रीति गौरी, वटुक, जगदम्बा आदि दिव्यभावोंके सम्बन्धसे हुआ करती है, यथा—श्रीमद्भागवतमें: —

> आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
> भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः॥
> दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्माऽतिथिः स्वयम्।
> अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः॥

आचार्य ब्रह्मकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, भ्राता पवन देवताकी मूर्ति और माता साक्षात् पृथिवीकी मूर्ति है। भगिनी दयाकी मूर्ति, अतिथि स्वयं धर्मरूप, अभ्यागत अग्निकी मूर्ति और समस्त जीव आत्माके रूप हैं। यही आर्यजातीय प्रीति तथा पारिवारिक सम्बन्धके मूलमें दिव्य भावका समावेश है। आर्यजातिका स्वदेश और स्वजातिवात्सल्य पाश्चात्य जातियोंकी तरह उपधर्मरूपसे निन्दित नहीं हुआ है और इसमें अभिमान, वाह्य आडम्बर, परजातिके प्रति विद्वेष, परदेशपीड़न आदि कलंक नहीं लगे हुए हैं। आर्यजातिका स्वजाति तथा स्वदेशवात्सल्य परजातिविद्वेषमूलक नहीं है, किन्तु स्वजातिप्रेममूलक है; क्योंकि आर्यजाति जानती है कि सत्त्वगुणसे ही वस्तुकी स्थिति होती है और तमोगुणसे संसारका नाश होता है; इसलिये तमोगुणसे उत्पन्न विद्वेष द्वारा कोई जाति कभी चिरकालस्थायिनी उन्नति नहीं कर सकती, किन्तु सत्त्वगुणसे उत्पन्न स्वजातिप्रीति द्वारा ही स्वजाति तथा स्वदेशकी अनन्तकालस्थायिनी उन्नति हो सकती है। आर्यजाति स्वदेशको कर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र, पुण्यक्षेत्र करके मानती है। सर्वव्यापिनी शिवशक्ति और महादेवी सतीके अङ्गोंके द्वारा स्वदेशका सर्वाङ्ग विनिर्मित है, ऐसा मानती है इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंके मतमें भारतवर्ष महामाया सतीके अङ्गोंके १०८ विभागोंके अनुसार १०८ पीठोंमें विभक्त है। ये ही भारतवर्षके तीर्थस्थान हैं और इसी कारण आर्यजाति रागद्वेषनिर्मुक्त विशुद्धप्रेमसुधासे पूर्ण अन्तःकरण हो स्वदेश तथा स्वजाति सेवा करती है। यही आर्यजातिका आदर्श स्वदेश और स्वजाति प्रेम है। आर्यजातिके अष्टम तथा नवम भावजनित जीवानुरागमें अन्य जातियोंकी तरह अज्ञानमय हृदयदौर्बल्य अथवा आसक्तिताशून्य मोहभाव नहीं है। आर्यजाति एकात्मवादके सिद्धान्तपर आरूढ़ होकर समस्त संसारको गोवि-

न्दका रूप जानकर "जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमोनमः" इस महामन्त्रसे जगज्जीवोंकी पूजा करती है। आर्यजातिके दशम भावमें अन्य समस्त भावोंकी सिद्धि और परिसमाप्ति है। इस दशम भावकी उदारताके द्वारा अन्य समस्त भावोंको देशकालानुसार परिपालन करके अन्तमें अन्तिम परब्रह्म भावमें जीवात्माको विलीन कर देना ही आर्यजातिका मौलिक जातीयभाव है। अतः सामाजिक नेताको इस आदर्शभावके प्रति दृष्टि रखकर इसीकी उन्नतिके साथ साथ हिन्दूजातीय जीवनकी उन्नति करनी चाहिये। सनातनधर्मके निम्नलिखित अङ्गोंकी पुष्टिके विना आर्यजातिमें ऊपर कथित आदर्शभाव रहना कठिन होगा। अतः निम्नलिखित विषयोंकी बीजरक्षाके लिये आर्यनेताको सदा ही सन्नद्ध रहना चाहिये। जिससे आर्य प्रजामें ब्रह्मतेज तथा क्षात्रतेजकी बीजरक्षा हो, वर्णाश्रम धर्म नष्ट न हो सके, सतीत्वका तीव्र संस्कार आर्यनारियोंमेंसे विलुप्त न होने पावे, आर्यप्रजामें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति बनी रहे और साथ ही साथ जातिका लौकिक अभ्युदय भी होता जाय ऐसा उपाय करना परमकर्त्तव्य है। ब्रह्मचर्याश्रमके धर्मोंमें वीर्यरक्षा और यथार्थ विद्या प्राप्त करना मुख्य है; गृहस्थाश्रमके धर्मोंमें पञ्चमहायज्ञ साधन और यथाशक्ति सात्त्विक दानमें अधिकसे अधिक रुचि बढ़ाना ये मुख्य धर्म हैं, वानप्रस्थाश्रममें परोपकारव्रत, कामिनी काञ्चनका त्याग और निवृत्ति सम्बन्धीय नियम पालन करना अभ्युदयकारी धर्म है और संन्यासाश्रमके धर्मोंमें द्वन्द्वरहित होकर अन्तःकरणकी वृत्तियोंकी समता स्थापन करना और प्रजामात्रकी आध्यात्मिक उन्नतिके अर्थ आत्मोत्सर्ग करना ये निःश्रेयसकारी धर्म हैं। शूद्रोंमें सेवाबुद्धि और देशकी शिल्पोन्नति करना प्रशंसनीय धर्म है; वैश्योंका गोधनकी वृद्धि, कृषिकी उन्नति और वाणिज्यकी वृद्धिसे धनोपार्जन करना प्रधान धर्म है, क्षत्रियोंके लिये शारीरिक बल वीरता, स्वदेशानुराग और उदारता ये उन्नतिकारी धर्म हैं और ब्राह्मणवर्णके लिये विद्या, तप तथा त्याग ये निःश्रेयसकारी धर्म हैं और मनुष्यमात्रके कर्त्तव्योंमें स्वजातीय आचारोंकी रक्षा, स्वदेशोन्नति, स्वजातीयोन्नति, भगवद्भक्ति और आध्यात्मिक ज्ञानवृद्धिमें यत्न करना प्रशंसनीय धर्म है। इन सब अधिकार भेदानुसार भिन्न भिन्न धर्माङ्गोंके पालनसे ही आर्य्यजातिका आदर्शभाव अटल रहेगा। अतः इनके पालनकी ओर सामाजिक नेताकी दृष्टि रहनी चाहिये।

(३) पितृमातृहीन शिशुको अनाथ कहते हैं। पिताके अभावसे शिशुके रक्षणमें बाधा होती है और माताके अभावसे शिशुके पोषणमें त्रुटि होती है इसलिये इस प्रकारके अनाथ शिशुके जीनेकी आशा भी कम रहती है। मनुष्य

शिशुके विषयमें पिता माताका जो प्रयोजन है, मनुष्य समाजके विषयमें धर्म तथा भाषाका भी वही प्रयोजन है। धर्म समाजका पिता है; क्योंकि धर्मसे ही समाजका जन्म तथा रक्षा होती है और भाषा समाजकी माता है, क्योंकि भाषाके ही द्वारा समाजकी स्थिति तथा पुष्टि होती है। धन, वाणिज्य, राजनैतिक स्वाधीनता आदिको खोकर समाज जीता रह सकता है, परंतु जिन लोगोंमेंसे धर्म और भाषा नष्ट हो गई है उनका कोई समाज या जातीय जीवन है ऐसा नहीं कह सकते। जगत्के इतिहासमें धर्म तथा भाषाके लोपसे जातीय अस्तित्व-लोपके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। दक्षिण अमेरिकाके अनेक प्रदेशोंमें अभी तक उस देशके आदिमनिवासी अनेक इण्डियन लोग विद्यमान हैं; परन्तु उनका धर्म खिष्टान तथा भाषा स्पेनीय आदि होनेसे उन लोगोंमेंसे सामाजिक जीवन या जातीय भाव सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो गया है। फलतः अन्यजातिके द्वारा प्रतिष्ठित धर्म तथा भाषाके ग्रहण करनेसे सामाजिक उन्नति या स्वतंत्रता-का पथ एकबार ही बन्द हो जाता है। अतः सामाजिक नेताको हिन्दुसमाजमें धर्म और भाषाकी रक्षा तथा पुष्टिसाधनके विषयमें यत्नवान् होना पड़ेगा। धर्मकी रक्षाके लिये क्या क्या कर्त्तव्य है सो पहले ही कह चुके हैं। अब भाषा-की रक्षाके विषयमें विचार किया जाता है। रोम साम्राज्यकी प्रतिष्ठाके समय सिवाय ग्रीसके उस साम्राज्यके अन्तर्गत किसी प्रदेशमें प्रादेशिक भाषा-शिक्षाका नियम नहीं था। प्रदेशीय सकल स्थानोंमें तथा अदालतोंमें भी रोमीय भाषा-लाटिनका ही प्रचार था। प्रादेशिक लोगोंकी सामाजिक रीतियाँ भी रोमीय अनुकरणसे रोमीयगणकी तरह हो गई थीं। उन्होंने अपनी भाषा और रीतियोंको त्याग दिया था। इसका फल यह हुआ कि जिस समय रोम जातका बल घट गया और दूसरी जातिने रोमपर अधिकार जमाया उस समय रोमको सहायता देना तो दूर रहा, उन सब प्रदेशवासियोंसे आत्मरक्षा भी नहीं हो सकी। केवल ग्रीस, जिसमें भाषा तथा रीति अपनीही थी, कुछ दिनों तक शत्रुओंके आक्रमणसे बचा रहा। यह सब भाषाके नाशका ही परिणाम है। पहले ही कहा गया है कि जातीय भावका विकाश जातीय भाषाके द्वाराही हुआ करता है इसलिये जिस जाति या समाजमें जातीय भाषाका आदर नहीं है वहाँ जातीय भाव भी क्षणभंगुर होता है। विजातीय भाषाके साथ साथ विजातीय भावका भी अधिकार मनोदुर्गपर धीरे धीरे जम जाता है। नीचे एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। रोमजातीय प्रसिद्ध वक्ता सिसिरो जिस समय सिलिसियाका शासन-कार्य समाप्त करके रोमनगरीमें लौट

आये, उस समय उनके किसी विपक्षी पुरुषने सेनेट सभामें कहा कि सिसिरोको एक पूरे प्रदेशका शासनभार मिलनेपर भी उनसे कुछ नहीं करते बना, एक युद्ध भी उन्होंने नहीं जीता और एक शत्रु भी उन्होंने नहीं मारा। इस कटाक्षके उत्तरमें विचारवान्, दूरदर्शी सिसिरोने कहाः—"मैंने सिलिसियामें जो कुछ किया है उससे उस प्रदेशके लोग चिरकालके लिये रोमको गुरुवत् मानेंगे अर्थात् मैंने सिलिसियामें रोमीय भाषा लाटिनकी शिक्षाके लिये १५० विद्यालय स्थापन कर दिये हैं जिसका फल यह होगा कि उस विद्यालयसे निकले हुए शिक्षित पुरुष रोमीय मन्त्रमें ही दीक्षित होकर रोमको ही अपना आदर्श करके मानेंगे।" सेनेट सभाने सिसिरोके उत्तरका सम्पूर्ण अनुमोदन किया था। अतः सिद्धान्त हुआ कि विजातीय भाषाशिक्षाके साथ साथ विजातीय भावका भी प्रभाव चित्तपर अवश्यही हो जाता है; परन्तु देशकालके विचारसे अनेक समय विजातीय भाषा-शिक्षाके विना जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है। इस दशामें दोनों ओरकी सुविधा और बचावके लिये कर्तव्य यह होगा कि बाल्यकालसे विजातीय भाषाशिक्षाके पहले कुछ स्वजातीय भाषाका भी गौरव उसकी शिक्षाके द्वारा हृदयमें बद्धमूल कराया जाय और आगे अन्यभाषा-शिक्षाके साथ साथ स्वदेशीय भाषाकी भी चर्चा रक्खी जाय। ऐसा होनेसे विजातीय भाषा-शिक्षाका उतना प्रभाव चित्तपर नहीं होगा। हिन्दूसामाजिक नेताका कर्त्तव्य है कि समाजके मनुष्योंमें स्वजातीय देववाणी संस्कृत तथा साधारण राष्ट्र भाषा हिन्दीकी शिक्षाका जिससे अधिक प्रचार हो सो करें। अङ्गरेजी भाषाके प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता सदे साहबने लिखा हैः- "हम लोगोंकी भाषा एक अति महत् और सुन्दर भाषा है; परन्तु जहां कहीं किसी अङ्गरेजी भाषाके शब्दसे काम निकल सकता हो वहां यदि कोई लाटिन अथवा फ्रेश्च भाषाके शब्दको काममें लावे तो मातृभाषाके प्रति विद्रोहाचरण करनेके पापसे उसको फांसी देकर अथवा उसका शरीर खण्ड विखण्ड करके उसको मृत्युका दण्ड देना उचित है।" सदे साहबकी तरह मातृ-भाषाप्रेम प्रत्येक हिन्दूके हृदयमें होना चाहिये तभी समाजमें आर्यभावकी रक्षा तथा वृद्धि होगी। विना मातृभाषाकी उन्नतिके किसी जातिकी पूर्णोन्नति नहीं हो सकती; विना मातृभाषाकी उन्नतिके स्वधर्मका पूर्ण विकाश नहीं हो सकता; मातृभाषाकी उन्नतिके विना कोई मनुष्यजाति शीघ्र सफलता लाभ नहीं कर सकती; विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशमें ज्ञानका पूर्णरूपसे विस्तार होना असम्भव है; विना मातृभाषाकी उन्नतिके देशका गौरव कदापि वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता;

विना मातृभाषाकी उन्नतिके कोई जाति अपने स्वजातिभावकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकती और विना मातृभाषाकी रक्षामें सफलकाम हुए कोई मनुष्य कदापि पूर्ण मनुष्यत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। इस समय भारत-वासियोंकी मातृभाषाके स्थानमें विशुद्ध हिन्दी भाषाको ही समझ सकते हैं। थोड़ासा यत्न करनेपर ही यह भाषा सर्वसाधारण भारतवासियोंके लिये केन्द्ररूपसे स्थापित हो सकती है। फलतः अब दृढ़व्रत होकर विद्वान् नेताको ऐसा यत्न करना उचित है जिससे एक बृहत् शब्दकोषके संग्रहसे और व्या-करण, दर्शन, काव्य तथा नाना आवश्यकीय ग्रन्थोंके प्रणयनसे यह मातृ-भाषा अपने पूर्ण स्वरूपको प्राप्त हो सके। तदनन्तर परम पवित्र संस्कृत भाषाको पितृ-स्थानीय और हिन्दीभाषाको मातृस्थानीय करके ज्ञानराज्यमें लालित पालित होनेपर भारतवासियोंका सब अभाव शनैः शनैः दूर हो सकेगा। इसलिये प्रथम तो हिन्दी भाषाकी पूर्णता सम्पादनके लिये पुरुषार्थकी आवश्यकता है और दूसरे उच्च कक्षाओंमें संस्कृत भाषाकी शिक्षा सुगम रीतिपर देते हुए साथ ही साथ मातृभाषाके द्वारा देशकालज्ञानसम्बन्धी अन्यान्य शास्त्रोंका अध्ययन कराना युक्तियुक्त होगा। यदि ऐसा सुअवसर प्राप्त हो कि भारत-वर्षके सब प्रान्तोंमें एकमात्र हिन्दीभाषा ही मातृभाषा हो जाय तो बहुत ही लाभकी सम्भावना है। यदि ऐसा होनेमें अभी विलम्ब हो तो अभी ऐसा यत्न होना चाहिये कि बङ्गाल, मद्रास, बम्बई, पञ्जाब आदि प्रान्तोंमें और देशीय रजवाड़ोंमें, कि जहांकी विभिन्न मातृभाषाएं उनके स्वतन्त्र अक्षरोंसे लिखी जाती हैं, वहां प्रवृत्ति दिखलाकर एकमात्र देवनागरी अक्षरोंका प्रचार करवाया जाय। ऐसा होनेपर सार्वजनिक क्रमोन्नति, विद्याका विस्तार और जातीय भावकी दृढ़तामें विशेष सहायता मिलेगी। अतः आर्यनेताकी दृष्टि इस ओर अवश्य ही आकृष्ट होनी चाहिये।

(४) प्रत्येक जातिका मौलिक जातीय भाव जिस तरह जातीय भाषाके द्वारा प्रकट होता है, उसी प्रकार जातीय आचारोंके द्वारा भी प्रकट होता है। विना स्वजातीय आचारोंकी रक्षाके कोई भी जाति अपनी जातीयताको चिर-कालतक प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ नहीं होती। बहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिका केवल विकाश मात्र है। जीवगणकी अन्तःप्रकृति जिन जिन भावोंसे सम्मिलित रहती है, उसके बहिर्लक्षय भी ऐसे ही भावमय हुआ करते हैं। इसी वैज्ञानिक नियमके अनुसार सामुद्रिक शास्त्र द्वारा विद्वान् लोग मनुष्यके बहिर्लक्षणोंको देखकर उसकी प्रकृति तथा प्रवृत्तिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्तःप्रकृतिसे

बहिःप्रकृतिका इतना मिश्रसम्बन्ध है कि मनुष्यगणकी यावन्मात्र बहिश्चेष्टाओंके साथ उसका सम्बन्ध रहा करता है। प्रत्येक मनुष्यके खान, पान, उठने, बैठने, श्रवण, मनन, आचार, विचार आदि सब चेष्टाओंके देखनेसे ही उसके जातिगत विचारोंका निर्णय हो सकता है। इसी कारणसे तमोगुण पक्षपातिनी एशिया और अफ्रिकाकी विशेष विशेष जातियोंके, रजोगुण पक्षपातिनी वर्त्तमान यूरोप और अमेरिकाकी विशेष विशेष जातियोंके और सत्त्वगुणपक्षपातिनी आर्य जातिके बहिराचारोंमे बहुत ही अन्तर देख पड़ता है। उदाहरणस्थलपर विचार कर सकते हैं कि इन तीनों मनुष्यजातियोंकी भाषा, परिच्छद, रीति, नीति, आहार, विहार आदि द्वारा स्पष्टरूपसे उनकी विभिन्नता जानी जा सकती है। आर्यजाति स्वभावसे ही जिस प्रकार आहार और विहार आदिकी पक्षपातिनी है, उस प्रकार यूरोपीय जातिका विचार देखनेमें नहीं आता। प्रत्येक जातिका अपने जातिधर्मके साथ अतिघनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता है और उसका यह फल होता है कि आर्यजातिके सदाचारीगण अन्यजातिके आचारोंको देखकर उनको बालकके खेलकी तरह समझा करते हैं और उसी रीतिपर अन्य यूरोप वासीगण भारतवासियोंकी रीति नीतिपर कटाक्ष कर हास्य किया करते हैं। बहिर्भावसे अन्तर्भावका और अन्तर्भावसे बहिर्भावका मिश्रसम्बन्ध रहनेके कारण जिस प्रकार अन्तर्भावका प्रभाव बहिश्चेष्टाओंमें पड़ता है उसी प्रकार बहिःक्रियाओंका भी प्रभाव अन्तर्भावपर पड़ा करता है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्यजातिके योग्य नेतागण अपनी जातिके आचारोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर देख पड़ते हैं। पृथिवीकी मनुष्यजातियोंमेंसे किसीका आचार चाहे कैसा ही हो, चाहे किसी एक जातिका आचार उत्कृष्ट और दूसरीका निकृष्ट हो, अथवा चाहे किसीमें कुछ भी योग्यता रहे, परन्तु अपने जातिभावकी रक्षा तभी हो सकती है, अपना जातिगत जीवन तभीतक रह सकता है, जबतक वह जाति अपनी जातिगत रीति, नीति, खान, पान, भूषण, आच्छादन और सदाचारमें दृढ़ और तत्पर रहती है। एक जाति जब अपने सदाचारोंको छोड़कर दूसरी जातिकी रीति, नीति, खान, पान और आचारोंको ग्रहण करने लगती है, तब बहिर्लक्षण विचारसे उस जातिकी जातिगत विभिन्नताका नाश हो जाता है और साथ ही साथ कालान्तरमें उस जातिकी अन्तःप्रकृतिका भी परिवर्तन होकर उसके पूर्व्वजातिभावका पूर्णरूपसे नाश हो जाता है और अन्तमें वह जाति एक नूतन जाति बन जाती है फ़लतः इस प्रकारके अनुकरण द्वारा उस जातिका जीवन विनष्ट हो जाया करता है। एक जाति जब कभी दूसरी जातिसे जाती जाती है

अर्थात् अन्यदेशवासीगण जब किसी दूसरे देशमें जाकर उस देशके निवासि-गणको बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया करते हैं, तब प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि पराजित जाति क्रमशः विजेता जातिकी रीति, नीति, भाषा, आचार और वेष आदिका अनुकरण करने लगती है। संसारमें दो शक्तियां देख पड़ती हैं, एक लघुशक्ति और दूसरी गुरुशक्ति। गुरुशक्ति द्वारा लघुशक्ति अधिकृत हो जाती है इसी कारणसे गुरु सात्त्विक शक्ति द्वारा शिष्यको अधीन कर लेते हैं। धर्माचार्यगण अपने मतावलम्बिगणमें ईश्वरका अवतार कहलाने लगते हैं और इसी कारणसे जेतागण प्रथम तो अपनी राजसिक शक्ति द्वारा विजित जातिको बलपूर्वक अपने अधीन कर लेते हैं और फिर क्रमशः विजित जातिके आहार, विहार आदि सदाचारोंपर भी अपना पूर्ण अधिकार स्वतः ही जमा सकते हैं। इसी अभ्रान्त प्राकृतिक नियमके अनुसार जगत्के इतिहासोंमें देखनेमें आया है कि सकल स्थानोंमें जेतागणकी गुरुशक्ति द्वारा पराजित जातिकी लघुशक्ति स्वतः ही दब गई है और क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हुई गुरुशक्तिमें लयको प्राप्त हो गई है। इसी अकाट्य नियमके अनुसार जगत्विजयिनी प्राचीन यूनानी जाति रोमन शक्तिमें लयको प्राप्त होकर अब एक नूतन क्षुद्र जाति बन गई है। इसी नियमके अनुसार पुनः रोमन जातिका पूर्णरूपसे लोप होकर उसी भूमिमें एक नई इटालियन जातिका आविर्भाव हो गया है। भारतवर्षके अतिरिक्त और सब देशोंके इतिहास पाठ करनेसे यही प्रमाणित होता है कि जहाँ जहाँ जब कभी जेता जातिकी गुरुशक्तिने किसी पराजित जातिकी लघु-शक्तिको अपने अधीन कर लिया है तो अन्तमें उस विजित जातिका लोप ही हो गया है; परन्तु भारतवर्षके आर्यगण आज प्रायः दो सहस्र वर्षोंसे नाना जातियोंके द्वारा विजित होनेपर भी अभीतक पूर्णरूपसे अपने स्वरूप और आचारको नहीं भूल गये हैं, आर्यजातिका यह एक अपूर्व महत्त्व है। हिंदू-समाज-के नेताके हृदयमें इस महत्त्वकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये और जिससे हिन्दूजाति अपने शास्त्रीय सदाचारोंसे भ्रष्ट न हो जाय ऐसा यत्न नेता महापुरुषको सदा करना चाहिये।

(५) आचारके साथ साथ चरित्रकी उन्नति भी सामाजिक उन्नतिमें परम सहायक हुआ करती है। जिस जाति या समाजमें चरित्रका उच्च आदर्श नहीं है वह जाति या समाज कदापि उन्नत नहीं हो सकता। प्रत्येक उन्नति बीजवृक्षन्यायसे होनेके कारण जिस जातिके अतीत जीवनके गर्भमें जिस

प्रकार आदर्श चरित्रका बीज रहता है उस जातिमें भविष्यत् जीवनका आदर्श भी उसी प्रकारका होता है। जिस जातिका अतीतजीवन गौरवमय संस्कार-युक्त नहीं है; उस जातिका भविष्यत् जीवन भी गौरवमय बन नहीं सकता। कारण, गौरवमय अतीतजीवन बीजके विना गौरवमय भविष्यत् जीवन वृक्ष बन नहीं सकता। जिस देशके प्राचीन जीवनमें भीष्मपितामहका संस्कार विद्यमान है उसी देशमें भविष्यत्में भी भीष्मपितामह उत्पन्न हो सकते हैं। जिस देशके अतीत जीवनमें ज्ञानी महर्षियोंके चरित्रका आदर्श विद्यमान रहता है; उसी देशमें ज्ञानी महर्षियोंका आविर्भाव हो सकता है। जिस जातिके अतीत जीवनमें सतीधर्मका संस्कार विद्यमान नहीं है उस जातिके भविष्यत् जीवनमें सतीत्वका आदर्श उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस आर्य्यजातिके अतीत-जीवनमें श्रीशङ्कराचार्य जैसे संन्यासीका आदर्श विद्यमान है, उसी आर्यजातिके भविष्यत् जीवनमें संन्यासका यथार्थ आदर्श उत्पन्न हो सकता है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'

यह भगवान्का वाक्य है। जो है नहीं सो आ नहीं सकता और जो है उसका अभाव भी नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक जातिको अपने सामाजिक जीवनका आदर्श पूर्ववर्ती महात्माओंके आदर्शपर बनाना चाहिये। यह आदर्श जिस जातिमें जितना उच्च होगा उस जातिका जातीय चरित्र और उद्देश्य भी उतना ही उन्नत होता है। उस आदर्शके प्रति श्रद्धा भक्ति जितनी गम्भीर होती है, जातीय धर्मनिष्ठा भी उतनी ही गम्भीर होगी। उस आदर्शके अनुरूप होनेके लिये जितनी यत्नशीलता होती है, जातीय उन्नति भी उतनी ही होती है। इस प्रकार विचार करनेपर जातीय आदर्श निम्नलिखित आठ श्रेणीमें विभक्त किया जा सकता है। यथाः—

(क) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श सामान्य संस्कारयुक्त है, उस जातिकी सभ्यावस्था हीन है।

(ख) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श आँशिक उत्कृष्ट है, उसकी सभ्यावस्था भी पूर्ण नहीं हो सकती अर्थात् उसकी सभ्यावस्था भी आंशिक होती है।

(ग) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श सुसंस्कृत है, उसकी सभ्यावस्था भी उत्कृष्ट है।

(घ) जिस जातीय मनुष्योंका चित्तादर्श दूसरोंके सम्बन्धसे उत्कर्ष लाभ करता है, उसकी सभ्यावस्था उन्नतिशील है।

(ङ) जहाँपर चित्तादर्श समभावापन्न रहनेपर भी उसके प्रति अनुराग और उसकी साधन चेष्टा है, वहांकी सभ्यावस्था सजीव है।

(च) जहांपर चित्तादर्श समभावापन्न किन्तु उसके प्रति अनुराग कम होता जाता है, वहांकी सभ्यावस्था पतनशील समझनी चाहिये।

(छ) जहांपर चित्तादर्श पहले जैसा था उससे मलीन होने लगा है, वहाँपर सभ्यावस्था भी पतनशील समझनी चाहिये।

(ज) और जिस जातिका चित्तादर्श सुसंस्कृत तथा तत्प्रति अनुराग भी बलवान् है परन्तु उसकी साधनचेष्टा कम हो गई है, उस जातिकी सभ्यावस्था उत्तम परन्तु स्थगित गति समझनी चाहिये।

अब इन आठ प्रकारके चित्तादर्शोंका हिन्दुसमाज और जातिके प्रति प्रयोग करके विचार करना चाहिये। हिन्दुजातिके आदर्श नर-नारी श्रीरामचन्द्र और सीता हैं। हिन्दुजातिके शिरोभूत ब्राह्मणोंके आदर्श महर्षि वशिष्ठ और संन्यासीके आदर्श महर्षि याज्ञवल्क्य और शङ्कराचार्य हैं। हिन्दुजातिमें त्यागी और ब्रह्मचारीके आदर्श भीष्मदेव, गृहस्थके आदर्श राजर्षि जनक और पूर्णताके आदर्श भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इन सब आदर्शोंसे उच्चतर आदर्श क्या कभी किसी देशमें प्रकाशित हुआ था? कहीं नहीं। अतः हिन्दुजातिकी सभ्यावस्था पूर्वोक्त तृतीयसूत्रानुसार सर्वोत्तम है यह निश्चय हो गया। हिन्दुजातिके हृदयसे इन सब आदर्शोंके प्रति श्रद्धा भक्ति क्या कुछ कम हो गई है? कुछ भी नहीं। अतः पूर्व सिद्धान्तानुसार स्वभावतः हिन्दुजाति परम धार्मिक है ऐसा स्वीकार करना होगा। हिन्दुजाति अपने अपने कार्योंमें क्या उन सब आदर्शोंका अनुकरणचेष्टा करती है! नहीं। आजकल बहुत थोड़े हो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करते हैं। हिन्दुजातिकी चेष्टाशक्ति कम होनेसे हिन्दु उत्कृष्ट सभ्यावस्थायुक्त और परम धर्मशील होनेपर भी उनकी सभ्यावस्था वर्तमान समयमें स्थगित गति हो गई है। अतः सिद्धान्त हुआ कि हिन्दुजातिकी सभ्यावस्था अष्टम सूत्रके अन्तर्गत है अर्थात् यह उत्कृष्ट किन्तु स्थगितगति है; परन्तु कोई भी समाज स्थगित गति होकर बहुत दिनोंतक रह नहीं सकता। या तो वह चतुर्थ अथवा पंचम सूत्रके अन्तर्गत होकर उत्कर्ष लाभ करता है या षष्ठ अथवा सप्तम सूत्रके अन्तर्गत हो हीन हो जाता है। हिन्दु सामाजिक नेताका कर्त्तव्य है कि जिससे अपने समाजके लोगोंमें प्राचीनत्वके प्रति मर्यादा नष्ट न हो जाय और समाजके हृदयमें प्राचीन

महापुरुषोंके आदर्शपर जीवन गठन करनेकी इच्छा और चेष्टा बनी रहे ऐसा उपाय और पुरुषार्थ वे करें। ऐसा उपाय करनेसे भारतके इस दुर्दिनमें भी हिन्दु गृहस्थ नरनारियोंमें रामसीताके आदर्शकी बीजरक्षा, ब्राह्मणोंमें महर्षि वशिष्ठके आदर्शकी बीजरक्षा, त्यागी तथा ब्रह्मचारियोंमें पितामह भीष्मदेवके आदर्शकी बीजरक्षा और संन्यासियोंमें भगवान् याज्ञवल्क्य और शंकराचार्यके आदर्शकी बीजरक्षा अवश्य होगी। परार्थपरता ही हिन्दुजीवन तथा हिन्दुसमाजका सारतत्त्व है। त्याग, संयम, धर्मभीरुता, क्षमा, दया, धैर्य्य, पवित्रता, सन्तोष आदि देवदुर्लभ गुणावली ही हिन्दुसमाजका भूषण है। शान्ति ही आर्यजातिकी चिरसहचरी है। दुःखका विषय है कि आधुनिक हिन्दुजीवनमें शिक्षा, सङ्ग और अनुकरणके दोषसे महर्षिसुलभ परार्थपरता दिन बदिन विलुप्त होकर ऐहलौकिक तथा पारलौकिक स्वार्थपरताकी वृद्धि हो रही है। जिस जातिके लिये श्रीभगवान्ने

"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"

केवल अपने लिये भोजन पकाना पापभोजन मात्र है ऐसा कहकर परार्थपरताकी पराकाष्ठाका उपदेश किया है, उस जातिके पवित्र जीवनमें आज विजातीय कुसंगके कारण स्वार्थपरताका कलङ्क लग रहा है। किसी नवशिक्षित पुरुषने कहा थाः—"महाशय! उस कार्यमें मेरा स्वार्थ है तब मैं उसे क्यों नहीं करूँगा?" "इस लिये उसे नहीं करना चाहिये कि उसके करनेसे परार्थ नष्ट होता है"***परार्थ रक्षा करनेमें मेरा इष्ट क्या है?"***"परार्थकी रक्षा ही तुम्हारा इष्ट है।"*** "परार्थ रक्षामें परका इष्ट है मेरा इष्ट नहीं है।" विचार समाप्त हो गया। मालूम हुआ कि इतने दिनोंतक पवित्र शास्त्रशिक्षाके प्रभावसे हिन्दु हृदयमें परार्थताका जो भाव प्रविष्ट हुआ था, विजातीय शिक्षा तथा सङ्गके प्रभावसे एकदम नष्ट हो गया। हिन्दुजातीय पवित्र चरित्रमें इन्हीं सब कुभावोंका प्रभाव आजकल पड़ रहा है। अतः हिन्दुनेताकी दृष्टि इस ओर आकृष्ट होनी चाहिये और विचारके साथ उल्लिखित जातीय चरित्रकी आदर्शरक्षाके प्रति उनको पूर्ण पुरुषार्थशील होना चाहिये।

यह बात यहांपर कह देना अवश्य ही युक्तियुक्त होगा कि इस प्रकार हिन्दुजातीय चरित्रकी आदर्शरक्षाके लिये वर्णोंके नेता ब्राह्मण और वर्णोंके गुरु तथा आश्रमोंके नेता संन्यासियोंके वर्त्तमान आचार विचारोंका संस्कार अवश्य हीहोना उचित है। वे दोनों ही वर्णाश्रमधर्मके शीर्षस्थानीय हैं। अतः उनकी पुनरुन्नति हुए विना आर्यजाति या समाजकी स्थायी उन्नति नहीं होगी

ब्राह्मण चारों वर्णोंमें प्रधान हैं, ब्राह्मण ही आर्य प्रजाके सदा चालक होते आये हैं। अतः ब्राह्मणगण जितनी योग्यता प्राप्त करेंगे, समाजमें उनका जितना आदर बढ़ेगा, चातुर्वर्ण्यका उतना ही कल्याण हो सकेगा। अस्तु, ब्राह्मण जातिकी उन्नतिपर ही प्रधानतः आर्यजातिकी उन्नति निर्भर हो रही है। शरीरमें मस्तक सर्वश्रेष्ठ अङ्ग होनेसे मस्तकके बिगड़नेसे सारा शरीर बिगड़ता है और उसके ठीक रहनेसे ही सारा शरीर ठीक रहता है। हिन्दुसमाजरूपी विराट् शरीरका मस्तक ब्राह्मण तथा संन्यासी हैं अतः इनकी स्वरूपस्थितिके ऊपर ही हिन्दुसमाजकी सब प्रकारकी उन्नति पूर्णरूपसे निर्भर है।

तमोगुणकी अधिकताके कारण तथा ब्राह्मणजातिमें विद्याका बहुत ही अभाव होनेके कारण ब्राह्मणोंकी बहुधा दृष्टि अब धनकी ओर पड़ी है और तपसाधन करना ब्राह्मणगण भूल रहे हैं। अतः विद्याप्रचारके साथ ही साथ ब्राह्मणगण जितना समझेंगे कि उनका धन सुवर्ण आदि नहीं है किन्तु उनका परम धन विद्या है, ब्राह्मणगण जितना समझेंगे कि उनका भूषण ऐश्वर्य नहीं है किन्तु उनका भूषण केवल त्याग और तप है, उतनी ही उस जातिकी पुनरुन्नति होगी। समाजमें यह प्रथा प्रचलित होना उचित है कि धनके द्वारा ब्राह्मणोंकी मर्यादा न बाँधी जाय, किन्तु केवल तपशक्ति, त्यागप्रवृत्ति और विद्याको देखकर ब्राह्मणोंकी मर्यादा बांधी जाय। जिससे उत्तर भारत और दक्षिण भारतके ब्राह्मण भ्रातृसम्बन्धसे परस्पर मिल सकें, ऐसा यत्न करना होगा; महाराष्ट्रब्राह्मण बङ्गालीब्राह्मण आदि देशविभागोंसे जो ब्राह्मण जातिका विभाग बंध गया है, उन सब ब्राह्मणसमाजोंमें परस्पर मैत्री स्थापन होकर एक दूसरेमें जो अनाचार हैं, उनको दूर करते हुए उनमें जहाँ जहाँ सदाचार हैं उनको परस्परमें ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति दी जाय; तभी ब्राह्मणजातिकी उन्नति हो सकती है। पंचगौड़ और पंचद्राविड़ ब्राह्मणोंमें इतना वैमनस्य हो गया है कि गृहस्थाश्रमहीकी दशामें वे एक दूसरेसे अलग रहते हैं यही नहीं किन्तु संन्यासाश्रम ग्रहण करनेपर भी उनका वैमनस्य दूर नहीं होता; उस दशामें भी उनका पृथक् खानपान, उनकी पृथक् प्रवृत्ति बनी रहती है। अस्तु, समाजानुशासनकी प्रवृत्ति करते हुए, आचारका संशोधन कराकर, इस प्रकारके अशास्त्रीय वैमनस्यको दूर करके ब्राह्मणजातिके पारस्परिक प्रेमकी सहायता परस्परको लेना उचित है। ब्राह्मणोंमें अविद्याके विस्तारके साथ ही साथ पुरुषार्थप्रवृत्ति एकबार ही नष्ट हो गई है। अतः इस श्रेष्ठ जातिमें जबतक निष्काम पुरुषार्थकी पुनः प्रवृत्ति न होगी; जबतक वर्णगुरु ब्राह्मण और आश्रम

गुरु संन्यासियोंमें श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌के कर्मयोगविज्ञानकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी, तबतक इस अधःपतित आर्यजातिकी पुनरुन्नति और हिन्दुसमाजका पुनरभ्युदय होना बहुत ही कठिन है।

आजकलके सांसारिक लोग प्रायः ऐसा विचार करने लगते हैं कि ज्ञानवान् होनेपर ही, संन्यास आश्रमधारी होनेपर ही जड़वत् निश्चेष्ट हो जाना उचित है। ब्राह्मणगणमें जहां कुछ तत्त्वज्ञानकी प्रवृत्तिकी उत्पत्ति हुई उसी समय वे समझने लगते हैं कि बस अब हाथ पाव हिलाना अनुचित है। गृहस्थगण ऐसा विचारकर यह निश्चय करने लगते हैं कि साधुओंको और कुछ भी करणीय नहीं रहता, उनको केवल इतना ही उचित है कि या तो वे लोकालय और मनुष्यसमाजको त्यागकर निर्जन वनमें जाकर एकान्तसेवी हो जायं अथवा मूक, निष्क्रिय, पुरुषार्थहीन होकर जड़वत् हो रहें। दूसरी ओर आजकलके नानारूपधारी संन्यासाश्रममें प्रवृत्त हुए साधु-गणमें वैसा ही प्रकार दृष्टिगोचर होता है। आजकलके भिक्षुकाश्रमधारी साधकोंमें आलस्य, पुरुषार्थहीनता, पारलौकिक स्वार्थपरता, परोपकारवृत्ति-का त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप साधनका अभाव आदि वृत्तिसमूह देखनेमें आता है। इस ग्रंथके प्रथम खण्डके आश्रमधर्म नामक अध्यायमें पूर्ण रूपसे विचार तथा शास्त्रप्रमाण द्वारा सिद्ध किया गया है कि विना निष्कामकर्मा-नुष्ठानके साधकको कभी पूर्णता-प्राप्ति होही नहीं सकती, क्योंकि त्रिविधशुद्धियां जो कि पूर्णताकी साधक हैं, उनमेंसे आधिभौतिकशुद्धि विना निष्कामकर्म साधनके हो ही नहीं सकती और निष्काम कर्मानुष्ठान द्वारा अपनी सत्सत्ता परमात्माकी सत्सत्तासे मिलाये विना जीवत्वका परिच्छिन्न भाव कदापि नष्ट नहीं हो सकता। अतः सन्यासियोंको कर्मत्याग करना पूर्णतया शास्त्रविरुद्ध है। इसके सिवाय तमःप्रधान कलियुगमें निष्कामकर्मयोगके विना तमो-मूलक आलस्य प्रमादादि दोष दूर करनेका और कोई भी उपाय नहीं है। हिंदू समाजके मुकुटमणिरूप संन्यासीगण आज जो घृणाकी दृष्टिसे देखे जा रहे हैं; उनको भिक्षा देना तो दूर रहा उनका नाम सुनते ही गृहस्थलोग घबड़ाने लगते हैं, सहस्रों प्रकारके अनाचार दुराचार, स्वार्थपरता, लोभ, अर्थलालसा, इन्द्रियभोगप्रवृत्ति, आश्रम और जीवनभ्रष्टकारी दुर्गुण आजकल साधु संन्या-सिगणमें प्रायः देखनेमें आते हैं, यह सब संन्यासजीवनमें पुरुषार्थशीलताके अभावका ही फलरूप है। यदि केवल भारतके साधु तथा संन्यासी ही संयमी, जितेन्द्रिय, ईषणा अर्थात् आकांक्षा त्रयहीन और निष्कामव्रतपरायण हो जायँ

तो वे हिन्दूसमाजकी वर्त्तमान हीन अवस्था एक दिनमें ही सुधार सकते हैं; क्योंकि जहां समाजके मस्तकरूप ब्राह्मण और संन्यासी सुधरे, वहां ब्राह्मणसे अतिरिक्त सब जातिका कल्याण और अभ्युत्थान अवश्यम्भावी है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः ब्राह्मण तथा संन्यासियोंके सुधारपर सामाजिक नेताकी दृष्टि होनी चाहिये।

(६) विना शिक्षाके कोई भी जाति या समाज उन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि शिक्षा ही मनुष्यके यथार्थ मनुष्यत्व-विकाशका कारण है। हिन्दु-नेताको चाहिये कि हिन्दु नरनारियोंमें स्वजातीय शिक्षाका प्रचार करे, क्योंकि स्वजातीय शिक्षाके द्वारा ही स्वजातीय भाव और यथार्थ मनुष्यत्वका विकाश हो सकता है। हिन्दु रमणियोंको सतीधर्म रक्षाके अनुकूल सत्‌शिक्षा देनेसे और पुरुषोंको प्रथमावस्थामें ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कराकर धर्मानुकूल सत्‌शिक्षा देनेसे इस समयके सामाजिक प्रबल रोगमें सुपथ्यप्रयोग हो सकता है। यदि स्त्रियों और पुरुषोंके लिये उपयोगी स्वतन्त्र सत्‌शिक्षाका प्रचार नहीं किया जायगा तो विरुद्ध फल अवश्यम्भावी है। यूरोप और अमेरिकामें धर्मानुकूल सत्‌शिक्षाके अभावका ही कारण है कि वहांकी स्त्रियां दिन प्रतिदिन पुरुषभावापन्ना और विपथगामिनी होती जाती हैं। आर्यसन्तानोंमें जिस प्रकारकी आजकल शिक्षा हुआ करती है उससे दिन प्रतिदिन आर्यजनोंमें स्वार्थ-परताकी वृद्धि होती जाती है; अर्थात् आर्यसन्तानोंकी दृष्टि शरीर संबंधी व्यापारों पर ही बढ़ती जाती है और उनमेंसे धर्मभाव और निष्कामकर्त्तव्यका नाश होता जाता है। जबतक सदाचार एवं धर्मशिक्षाकी शैलीका प्रचार उनमें न होगा, तबतक कदापि आर्यजातिकी उन्नति होनी सम्भव नहीं है। बालकोंको जिस प्रकारसे आजकल पढ़ाया जाता है उस प्रकारके अभ्यास द्वारा वे कदापि सदाचार और धर्मशिक्षामें अपने आपसे उन्नत नहीं हो सकेंगे। आजकल केवल मुखसे जो 'धर्म' 'धर्म' कहनेकी रीति प्रचलित होती जाती है वैसे वाचनिक धर्मसे हिन्दुसमाज और जातिकाकल्याण होना असम्भव है। जबतक धर्मके साधनपर भारतवासियोंकी रुचि नहीं पढ़ेगी, तबतक वे कदापि उन्नतिको नहीं प्राप्त करेंगे। जिस शिक्षाके द्वारा इच्छाशक्तिका वेग और उसकी स्फूर्ति धर्मानुकूल होकर अपने स्वाधीन और सफल काम होती है, जिस शिक्षाप्रणाली द्वारा मनुष्योंमेंसे स्वार्थपरताका नाश होकर स्वजाति प्रेम और जगत्‌के कल्याणकी बुद्धिका अधिकार प्राप्त होता है, उसी शिक्षाको यथार्थ शिक्षा कहते हैं, परन्तु दुःखका विषय है कि आजकल संस्कृत पाठशाला तथा चतुष्पाठी

१५

आदिमें शिक्षाप्रणालीकी असम्पूर्णताके कारण उल्लिखित शिक्षालक्षणोंका अभाव और साथ ही साथ लौकिक ज्ञानका भी अभाव देखनेमें आता है और स्कूल कालेजोंकी शिक्षामें लौकिक ज्ञानप्राप्तिका उपाय रहनेपर भी धर्म मूलक अन्यान्य शिक्षाका पूर्ण अभाव देखनेमें आ रहा है। अतः हिन्दु नेताका प्रधान कर्त्तव्य है कि वे हिन्दुजीवनमें यथार्थ शिक्षाका अंकुर उत्पन्न करें। यथार्थ विद्याकी प्राप्तिके लिये प्राचीन ऋषिकालके आदर्शपर नवीन पठन शैलीका आविष्कार किया जाय और साथ ही साथ धार्मिक शिक्षा देनेका प्रधान लक्ष्य रक्खा जाय। विद्यार्थिगण किस प्रकारसे यथार्थ विद्याको प्राप्त कर सकते हैं, कैसे वे ब्रह्मचर्यव्रतके अधिकारी हो सकते हैं, कैसे वे देशकालज्ञ और स्वदेश-हितैषी बन सकते हैं, कैसे वे अपने स्वार्थको कम करते हुए वर्णाश्रम धर्मकी उन्नति करनेमें समर्थ हो सकते हैं और कैसे वे अपने अभावोंको संकोच करते हुए ज्ञानवान् होकर मनुष्यत्वको प्राप्त कर सकते हैं, इसकी खोज सदा की जाय और जो जो सुगम उपाय निश्चित होते जायं उन्हींके अनुसार स्कूल, कालेज तथा संस्कृत विद्यालयोंमें शिक्षाप्रणाली प्रचलित कराई जाय।

पूज्यपाद महर्षियोंने अज्ञान नाशकारिणी और ज्ञानजननीको विद्या कहा है। इस समय विद्याके नामसे जो शिक्षा दी जाती है, वह यथार्थ विद्याकी शिक्षा नहीं है। वह आर्यसिद्धान्तके अनुसार विद्या शिक्षारूपसे अभिहित नहीं हो सकती। उससे केवल अर्थोपार्जनकी योग्यता और देशकालका ज्ञान हुआ करता है, उससे न आत्माका अज्ञान नाश होता है और न उससे अध्यात्म विद्याकी प्राप्ति होती है। आर्यजातिके लिये ऐसी शिक्षाप्रणालीका जारी होना उचित है कि जिसमें ऊपर कथित दोनों लक्षण पाये जायं; अर्थात् जिस शिक्षा-प्रणालीमें लौकिक अभ्युदयके सब सामान रहनेपर भी जिसका अन्तिम लक्ष्य ज्ञानजननी विद्याके चरणोंमें ही रहे वही आर्यजातिके लिये सत्‌शिक्षा है।

लौकिक शिक्षाके प्रचार करनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका विचार कदापि करना उचित नहीं है। धर्मके क्रियासिद्धांशकी शिक्षा देनेमें और वेद तथा वैदिक ज्ञानकी शिक्षा देनेमें अवश्य ही वर्णाश्रमके अधिकारका विचार रखना कर्त्तव्य है; परन्तु आर्यजातिके पुनरभ्युदयके अर्थ जबतक सार्वजनिक शिक्षाका विस्तार न किया जायगा तबतक सफलताकी सम्भावना नहीं है। भारत विजयके समय मुसलमान जेता कितना सेनाबल लाये थे? भारतको अपने अधीन करते समय अङ्गरेज जातिके साथ कितनी सेना थी? सात सौ वर्षोंके मुसलमान साम्राज्यमें छः कोटि मुसलमान और सौ वर्षोंके

ईसाई साम्राज्यमें एक करोड़ ईसाई हो जानेका कारण क्या है? अर्थलोलुप विदेशीय वणिकोंके थोड़े ही यत्न द्वारा भारतवर्षके अमूल्य शिल्पराशिका नाश क्यों हो गया है? परमोदार समदृष्टिसम्पन्न सनातनधर्ममें घोर अमङ्गलकर साम्प्रदायिक विरोधका कारण क्या है? जिन महर्षियोंके उपदेशसमूहमें कहीं भी अन्यधर्म-विद्वेषकी छाया मात्र भी नहीं पाई जाती, उनके ही वंशधरोंमें स्वधर्मविद्वेषका घोर अनल प्रज्वलित होनेका प्रधान कारण क्या है? जिस आर्यजातिके आदि नेता और आदिशिक्षक पूज्यपाद महर्षिगण अपने स्वार्थको सम्पूर्णरूपसे त्याग करते हुए केवलमात्र जगत् कल्याणकामनाके वशीभूत हो परोपकारव्रतपरायण होकर जीवन निर्वाह करते थे, आज उनके ही वंशसम्भूत-क्या गृहस्थ और क्या संन्यासी-घोर आलस्यपरायण, स्वार्थपर और प्रमादग्रस्त होकर प्राचीन परिचय देते हुए लज्जित क्यों नहीं होते हैं? विचार करनेपर यही सिद्धान्त होगा कि भारतवर्षकी सकलश्रेणीकी हिन्दुप्रजामें ज्ञानका घोर अभाव ही इसका प्रधान कारण है। सार्वजनिक शिक्षासे ही वह अभाव दूर हो सकेगा। अतः इस प्रकार जातीय उन्नतिकर शिक्षाके प्रति हिन्दुनेताका ध्यान अवश्य ही रहना चाहिये।

(७) केवल अनुकरणके द्वारा कोई भी समाज या जाति उन्नति नहीं कर सकती, क्योंकि दूसरे किसीका अनुकरण अपनेपनको नष्ट करता है। विजातीय अनुकरण स्वजातीय भावको तिरस्कृत करता है, जिससे स्वजातीय उन्नतिका पथ कण्टकमय हो जाता है। पृथ्वीके इतिहासमें अनेक चित्र इस प्रकार देखे गये हैं कि एक जाति अन्य जातिका अनुकरण करती हुई अन्तमें अपनी जातीयता तथा पृथक् अस्तित्वको खो बैठी है और क्रमशः दूसरी जातिमें लय हो गई है। इसलिये विजातीय अनुकरण सर्वथा परित्याज्य है। स्वजातीय उद्भावन या आविष्कार ही उन्नतिका सेतु है, विजातीय अनुकरण अवनतिका द्वार स्वरूप है। उद्भावनमें हृदय, मस्तिष्क, प्रतिभा, बुद्धि आदिकी स्फूर्ति होती है, अनुकरणमें ये सभी स्फूर्तियां नष्ट होकर स्वाधीन अनुसन्धान-प्रवृत्ति समूल नष्ट होकर क्रमशः चित्तमें परतन्त्रताका भाव उत्पन्न होता है और अन्तमें विजातीय भाव समस्त हृदयको ग्रास कर लेता है। इस प्रकार अनुकरण-परायण हतभाग्य जाति या समाजकी दृष्टिमें कुछ दिनोंके बाद स्वजातीय या स्वसामाजिक कोई भी भाव या आदर्श उत्तम प्रतीत नहीं होता। यहां तक कि स्वकीय पूर्वजों तथा पितामाताओंका भी आदर्श उनकी दृष्टिमें निकृष्ट मालूम होने लगता है. वे सब विषयोंमें दूसरोंके शिष्य हो जानेमें ही अपना

गौरव समझते हैं, पूर्वजोंके दोष दर्शनमें ही अपनी विद्वत्ता समझते हैं और पिता–माता तथा देशाचार और वंशमर्यादाकी निन्दा करनेमें सदा ही तत्पर दिखाई पड़ते हैं और इस महापापका फल यह होता है कि कुछ दिनोंके बाद ऐसी जाति या समाज चिरकालके लिये कालसमुद्रमें डूब जाता है। अतः सामाजिक नेताको चाहिये कि वे अपने समाजको सदा ही इस प्रकार विजातीय अनुकरण–प्रवृत्तिसे बचा रक्खें; समाजके हृदयमें उद्भावनके गौरवको दृढ़ करें जिससे नवीन जातीय–भावमूलक उद्भावनके द्वारा सामाजिक उन्नतिका द्वार उन्मुक्त हो जाय।

कोई जाति जब अन्य किसी जातिपर राजसिक अधिकार स्थापन करती है तो विजित जातिके अन्तःकरणमें जेता जातिके सकल प्रकारकी चेष्टाओंका अनुकरण करना स्वाभाविक हो जाता है, जिससे उपरोक्त परिणाम विजित जातिपर होना भी अवश्यम्भावी हो जाता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु इस प्रकारके अनुकरणमें दोषका अनुकरण ही अधिक हो जाता है; क्योंकि गुणकी अपेक्षा दोषका अनुकरण सहज है। इसका फल यह होता है कि इस प्रकारकी जातीय सद्भावसे भ्रष्ट, विजातीय कुभावयुक्त, परतन्त्र जाति कुछ दिनोंमें ही एक "किम्भूतकिमाकार" घृणित रूपको धारण कर लेती है। विश्व-जगत्के विराट् शरीरमें पीपसे पूर्ण व्रणकी तरह इस प्रकारकी जातिका अस्तित्व ही पृथ्वीमाताके लिये कष्टकर हो जाता है। इस दशामें उल्लिखित दुर्दशासे जातिकी रक्षाके लिये केवल दो उपाय हो सकते हैं (क) वस्तुका अनुकरण न करके भावका अनुकरण करना। (ख) विजातिके अन्तर्गत अनुकरण करने योग्य विषयोंको इस तरहसे हृदयङ्गम करना कि उससे स्वजातीय मर्म नष्ट न होकर उज्ज्वलतर हो जाय। दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है। किसी जेता जातिकी स्वदेशीय शिल्पोन्नतिके प्रति विशेष दृष्टि है; जिससे विदेशीय शिल्पके प्रति उपेक्षा करके भी वह स्वदेशीय शिल्पकी ही उन्नतिका प्रयत्न करती है। अब इस विषयमें विजित जातिका अनुकरण करने योग्य विषय यह होना चाहिये कि जेताजातिके इस अपने जातीय शिल्पके प्रति प्रेमके भावका अनुकरण करें; अर्थात् अपने जातिगत शिल्पकी उन्नतिके लिये न्यायसङ्गत और उचित उपायका अवलम्बन करें, यही भावका अनुकरण होगा। द्वितीय उपायका दृष्टान्त यह है:—किसी जेता जातिमें पदार्थविद्या या सायन्सकी विशेष उन्नति हुई जिससे विजित जातिमें उसके अनुकरणके प्रति विशेष आसक्ति उत्पन्न हुई, इस दशामें दो भाव हो सकते हैं, यथाः—विदेशी पदार्थ–विद्याका प्रत्यक्ष फल देखकर स्वदेशी सूक्ष्म

विज्ञानका गौरव भूला जाय और उसकी निन्दा की जाय; या विदेशी पदार्थ-विद्याका ज्ञान प्राप्त करके स्वदेशी पूर्वजोंके द्वारा प्रदर्शित आचार और अन्यान्य सामाजिक तथा आध्यात्मिक विषयोंके मूलमें भी सूक्ष्म सायन्सकी गम्भीर भित्ति-का अन्वेषण किया जाय और संसारको बताया जाय कि अन्यान्य देशके साय-न्सवालोंने जो कुछ वर्षोंसे बताया है हमारे पूर्वजोंने वे सब विषय लाखों वर्ष पहले ही बताये हैं। पूर्व भाव अनुकरणका दोष और द्वितीय भाव यथार्थ अनु करण है; क्योंकि ऐसा होनेसे ही अनुकरण योग्य विषयोंके द्वारा स्वजातीय-मर्यादाका नाश न होकर उसकी और भी पुष्टि तथा उज्ज्वलता होगी। विजित जाति यदि उल्लिखित दोनों उपायोंके साथ जेताजातिका अनुकरण करे तो कोरे अनुकरणके कुफलसे बचकर समाज और जातिका कल्याण, पूर्वजोंकी गौरव रक्षा तथा आत्मोन्नति कर सकेगी। अतः सामाजिक नेताको अपने समाजमें इन उपायोंका प्रचार करना चाहिये।

(८) यह बात पहले ही कही गई है कि जिस जातिमें स्वजातीय मनु-योंमें दोषदर्शन-प्रवृत्ति है उस जातिमें गुणी पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते; क्योंकि गुणदर्शन-प्रवृत्तिकी सम्मिलित शक्तिके द्वारा ही देशमें गुणवान् और विभूतियुक्त नेताओंका आविर्भाव हो सकता है। जिस जातिके प्रत्येक मनुष्यमें परछिद्रान्वेषण-प्रवृत्ति है, उस जातिके सकल मनुष्योंके ही हृदय दोषदर्शन-प्रवृत्ति-के द्वारा कलुषित हो जाते हैं और एतादृश कलुषित समाज या जातिमें शुद्ध उदार-हृदय महापुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते। यही कारण है कि पराधीन तथा हीन जातिमें दोषदर्शन प्रवृत्ति और स्वाधीन और उन्नतिशील जातिमें गुणदर्शन-प्रवृत्तिके लक्षण देखनेमें आते हैं। भारतकी वर्त्तमान सामाजिक दीन दशामें दोषदर्शन-प्रवृत्तिकी बहुत ही वृद्धि हो रही है। हिंदुसमाजमेंसे गुणपक्षपातका भाव दिन दिन नष्ट होता है और स्वधर्म और स्वजातिके विद्वेषका वह्नि अत्यन्त प्रबलभावको धारण कर रही है। हम अपने जातिभाई या एकधर्मी भाईकी उन्नति देखकर जल मरते हैं और अत्यन्त ईर्षान्वित होकर यत्न करते हैं कि जातिभाई किसी तरहसे समाजका दृष्टिमें पतित हो जायं और उनका उन्नति नष्ट हो जाय। किसी मनुष्यको या मनुष्यसंघको किसी अच्छे कार्यको करते हुए देखनेसे ही हमारा चित्त ईर्षासे जल जाता है और हम उस महत्कार्यमें बाधा डालनेकी चेष्टा करते हैं, भीतर भीतर विरोध बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं और गुप्त या प्रकाश्य-रूपसे उस कार्यकी या उन मनुष्योंकी निन्दा करते रहते हैं। इन सब जातीय महापापोंके कारणसे ही हिन्दुसमाजकी दुर्दशा हो रही है और इसमें न

कोई महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं और न किसी महत्कार्यमें सिद्धि ही लाभ हुआ करती है। अतः हिन्दुसमाजकी उन्नतिके लिये सामाजिक समस्त मनुष्योंको दोष-दर्शन-प्रवृत्ति छोड़कर गुणके पक्षपाती बनना चाहिये। स्वधर्म-विद्वेष तथा स्वजाति विद्वेषके भावको एकदम त्याग कर देना चाहिये और जहांपर कुछ भी गुण हो उसीका आदर और उसको उत्साह प्रदान करना चाहिये। संसार त्रिगुणमयी मायाका लीलाक्षेत्र है। इसमें सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण सर्वत्र ही रहते हैं। श्रीभगवान्ने कहा हैः—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।"

प्रत्येक कार्य ही धूमसे ढकी हुई अग्निकी तरह दोषयुक्त होता है। शुद्ध सात्त्विक सर्व सद्गुणाधार, दोषलेशवर्जित मनुष्य या कार्य संसारमें नहीं मिल सकता; क्योंकि परिणामशील संसारमें पूर्णता कहीं भी नहीं पाई जाती। जहां मायाका कुछ भी सम्पर्क है वहां कुछ न कुछ असम्पूर्णता है। अतः हम चाहें कि किसी मनुष्यमें सब गुण ही गुण हों, एक भी दोष न हो, सो कदापि सम्भव नहीं हो सकता। अतः विचारवान् पुरुषको चाहिये कि हंसकी तरह दोषके प्रति उपेक्षा करके जिस मनुष्यमें या जिस कार्यमें जितना गुण हो वह उसीका ग्रहण और योग्य सत्कार करे, कदापि दोषदर्शी न बने। ऐसा करनेसे ही अपनी और जातिकी उन्नति अवश्य होगी। गुणपक्षपातके साथ साथ तिरस्कार तथा पुरस्कारकी पद्धति भी अवश्य ही समाजमें प्रचलित होनी चाहिये; अर्थात् गुणी पुरुषका यथायोग्य पुरस्कार और गुणहीनका तिरस्कार होना चाहिये। आजकल हिन्दू-समाजमें तिरस्कार तथा पुरस्कारकी प्रथा बहुत ही बिगड़ गई है। यहांपर सदाशय, सरलचेता, गुणी व्यक्ति प्रायः उपेक्षित होते हैं और कपटाचारी दुर्गुणी ठगोंकी पूजा तथा आदर हुआ करता है। इसका यही विषमय परिणाम हो रहा है कि गुणी पुरुष समाजमेंसे दिन प्रतिदिन घटते जाते हैं और विषकुम्भ पयोमुख कपटाचारी गुणहीन पुरुषोंकी ही संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है और अन्धे समाजकी दृष्टिमें ऐसे ही मनुष्य नेता और पूज्य गिने जाते हैं। जहांपर नेतृत्व भार ऐसे कपटचारी दुर्गुणी पुरुषोंके हाथमें हो उस समाजमें मनुष्योंकी क्या दुर्गति होगी सो सभी लोग अनुमान कर सकते हैं। किसी महान् पुरुषमें विशेष योग्यता और गुण होनेपर भी समाजकी ओरसे उत्साह, सहायता तथा सत्कार न मिलनेसे वह गुण या योग्यता प्रकट होने नहीं पाती, अरण्यमें खिले हुये पुष्पकी तरह अरण्यमें ही उसका नाश हो जाता है। अतः हिन्दू-

जातिमें प्राचीन गुणगरिमाकी पुनः प्रतिष्ठाके लिये गुणपक्षपातके साथही साथ जिससे तिरस्कार पुरस्कारकी भी शुद्ध रीतिका प्रचलन हो, ऐसा उपाय सामाजिक नेताओंको अवश्य करना होगा। जिससे तीर्थोंमें और धर्मस्थानोंमें विद्वान् ब्राह्मणोंका सत्कार बढ़े तथा मूर्ख ब्राह्मणोंकी अप्रतिष्ठा हो, जिससे समाजमें तथा सामाजिक नेताओंके द्वारा विद्वान्, शक्तिशाली तथा सच्चरित्र पुरुषोंकी अधिक सेवा हो सके, जिससे देशी रजवाड़ों, राजा, महाराजा, जमीदारों और सेठ साहूकारोंके द्वारा विद्वान् ब्राह्मणोंकी जीविकाकी वृद्धि हो इसका प्रयत्न सदा ही करना उचित है। गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका मूलरूप है। अतः सदाचारी गृहस्थगण जिससे समाजमें अधिक रूपसे सम्मानित हो सकें, इसका उपाय करना कर्त्तव्य है। गृहस्थोंके पुरोहित आदि पद जिससे योग्य व्यक्तियोंके हाथमें दिये जायं, जिससे तपस्वी, भक्तिमान् तथा सदाचारी ब्राह्मण कर्मकाण्डके अधिष्ठाता बनें ऐसा लक्ष्य रखना होगा। जिससे कुलगुरु मूर्ख होनेपर भी उससे दीक्षा ग्रहणकी अन्धपरम्परा, की शैली उठकर ज्ञानवान् त्रितापहारी व्यक्तिसे गुरुदीक्षा लेनेकी शैली समाजमें प्रचलित हो, जिससे ढोंगी, मूर्ख और कपटवेषधारी साधु संन्यासियोंका आदर घटकर तपःस्वाध्याययुक्त त्यागशील तत्त्वज्ञानी और निष्कामकर्मयोगी साधु संन्यासियोंका आदर समाजमें बढ़े और जिससे कपटचारी स्वार्थी व्यक्ति समाजके नेतृत्वपदको प्राप्त न कर सकें इसका प्रयत्न होना चाहिये। ब्रह्मचर्य आश्रमका पुनःप्रवर्त्तन करते समय यही लक्ष्य रक्खा जाय कि विद्यार्थिगण सदाचारी, संयमी, चरित्रवान्, स्वदेशहितैषी, निःस्वार्थव्रतधारी, कर्त्तव्यपरायण और सद्गृहस्थके उपयोगी बन सकें। जहां कुछ भी गुणका लक्षण देखा जाय, सहस्र सहस्र दोषोंको भूलकर वहां उसी समय उसको उत्साहित किया जाय। पदार्थविद्या, अध्यात्मविद्या, शिल्पकला आदि किसी विद्यामें किसी प्रतिभासम्पन्न पुरुषके द्वारा कोई भी नया आविष्कार होनेसे तन मन धनके द्वारा उसमें सहायता की जाय जिससे उसके आविष्कर्त्ताका उत्साह शतगुण वर्द्धित होकर उसे अपने कार्यमें विशेष निष्ठा वा तत्परता प्राप्त हो। इस प्रकारसे मधुकरकी नाईं समाजके प्रत्येक मनुष्यमें गुणग्राहिता-वृत्तिके उदय होनेसे हिन्दू-समाज रूपी कल्पतरु शीघ्र ही अपूर्व उन्नति-फलको उत्पन्न करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अतः सामाजिक नेताको उल्लिखित उन्नतिके उपायोंके प्रति अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये।

(९) हिन्दू-शास्त्रमें सकल अवस्थामें ही शारीरिक, मानसिक और आत्मिक

अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक प्रकृतिके अनुकूल चलनेको ही धर्म और उन्नतिका कारण माना गया है। साधक अपनी त्रिविध प्रकृतिके अनुसार ही साधन करके उन्नतिको लाभ कर सकता है। कर्मयोगी देश कालकी प्रकृतिके अनुसार ही सत्पुरुषार्थके अनुष्ठान द्वारा कर्मयोगमें सिद्धि लाभ कर सकता है। नदीमें नाव प्रवाह और वायुकी प्रकृतिके अनुकूल ही चलकर गन्तव्य स्थानमें पहुंच सकती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक समाजकी उन्नति भी देश काल तथा युगकी प्रकृतिके अनुसार हो सक्ती है। प्रत्येक युगमें जीवोंकी उत्पत्ति युगधर्मानुसार ही हुआ करती है, अतः उन्नतिके लिये युगधर्मका विचार करना उचित है। भगवान् वेदव्यासजीने इसी युगधर्म-का विचार करके ही चार युगोंमें उन्नतिके चार उपाय बताये हैं। यथाः—

त्रेतायां मन्त्रशक्तिश्च ज्ञानशक्तिः कृते युगे।
द्वापरे युद्धशक्तिश्च संघ शक्तिः कलौ युगे॥

सत्ययुगमें ज्ञानकी शक्तिके द्वारा, त्रेतामें मन्त्रकी शक्तिके द्वारा, द्वापरमें युद्धकी शक्तिके द्वारा और कलियुगमें एकताकी शक्तिके द्वारा जातिकी उन्नति होता है। अतः श्रीभगवान् वेदव्यासजीके उपदेशानुसार इस युगमें समाज और जातिकी उन्नतिके लिये एकता ही सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है ऐसा निश्चय हुआ। पृथिवीके इतिहासकी चर्चा करनेसे इस सिद्धान्तकी सत्यता अक्षरशः अनुभव होती है। वर्त्तमान समयमें पृथ्वीभरकी जो जो जातियां व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक समस्त उन्नतिके सर्वोच्च सोपानपर आरूढ़ हैं उनकी उन्नतिके मूलमें एकताकी शक्ति ही कारणरूपसे विद्यमान है। आज जो हिन्दूसमाज और हिन्दूजाति अवनतिके अन्धकूपमें डूब रही है इसका भी कारण एकताका ही अभाव है। भारतमाता रत्नप्रसविनी होनेपर भी हिन्दूसन्तान जो आज दरिद्र हैं; ज्ञानका अनन्त भाण्डार भारतमें भरा रहने परभी हिन्दूजाति जो आज "बेवकूफोंकी जाति" कहलाती है; अनन्त शिल्पोंका आकर भारतवर्षमें होनेपर भी जीवनयात्रा और लज्जानिवारणके वास्ते आज जो हिन्दूजातिको परमुखापेक्षी होना पड़ता है; अनन्त शक्तिका बीज ऋषिसन्तान आर्यजातिके हृदयमें प्रच्छन्न रहनेपर भी आत्मरक्षाके लिये आज जो आर्य जातिको परनिर्भरताका आश्रय लेना पड़ता है; वेदान्तका एकात्मवाद सर्वत्र प्रचारित होनेपर भी हिन्दू समाजके प्रतिगृहमें ईर्षा, द्वेष या कलहका अनल धकधका कर जल रहा है, यह सब हिन्दूजाति और समाजमें एकताके अभावका

ही विषमय फल-स्वरूप है। अतः हिन्दू सामाजिक नेताको समाजके मनुष्योंमें परस्पर ऐक्यस्थापन करनेके लिये सदा ही प्रस्तुत होकर उदार तथा दूरदर्शितापूर्ण उपायोंका अवलम्बन करना चाहिये। मतभिन्नता, रुचि-वैचित्र्य और व्यक्तिगत स्वार्थ ही सामाजिक एकताकी सिद्धिमें प्रधान अन्तराय अर्थात् बाधक हैं। हिन्दूजातिमें जातीय जीवन आजकल नष्ट प्राय होनेसे व्यष्टिगत मतभिन्नता और रुचिवैत्र्यके द्वारा समाजकी बहुत हानि हो रही है। सभी नेतृत्व लोलुप व्यक्ति चाहते हैं कि मेरी ही सम्मति मानी जाय, मेरी रुचिके अनुसार ही कार्य हो और यदि मेरी सम्मति तथा रुचिके प्रति उपेक्षा हो तो समाजकी उन्नति नहीं होनी चाहिये और ऐसा समाज टूट जाना चाहिये और हम सारा पुरुषार्थ इसके तोड़नेके वास्ते ही लगावेंगे। इस प्रकारका भाव प्रायः सभीके हृदयमें विद्यमान है और इसीलिये सामाजिक उन्नतिकर प्रत्येक कार्यमें हजारों लड़ाई झगड़े और विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं जिससे उन्नतिका पथ अति दुर्गम हो जाता है। समाज किसीकी व्यक्तिगत रुचि या रायका परि-णाम नहीं हैं; परन्तु समष्टिगत रुचि और रायका ही फलरूप है इसलिये हमारी राय मानी जाय तब समाज रहे अन्यथा टूटे और हम ऐसे समाजको तोड़ देंगे यह प्रकार सर्वथा न्याय तथा विचारसे विरुद्ध है। सामाजिक समस्त कार्योंमें ही अपनी रुचि और सम्मतिको सबकी रुचि तथा सम्मतिके साथ मिला देना होगा। अपनी रुचि तथा सम्मतिमें कुछ व्यक्तिगत पक्षपात रहे तो उसे भी सम-ष्टिभावमें विलीन कर देना होगा और सबकी कल्याणकामनासे पाक्षिक भावको छोड़ देना होगा तभी उन्नतिकर समस्त सामाजिक कार्यमें एकता प्राप्त हो सकेगी। अन्यथा विरोध तथा चित्तका पारस्परिक विकार बढ़कर समाजको नष्ट कर देगा। सामाजिक समस्त पुरुषोंको ही व्यष्टिजीवन तथा समष्टिजवनका पार्थक्य हृदयङ्गम करना चाहिये और समष्टिजीवन यज्ञमें व्यष्टिजीवनकी आहुति प्रदानके अर्थ सदैव सन्नद्ध रहना चाहिये। सामाजिक एकताका तीसरा अन्तराय व्यक्तिगत स्वार्थ है। इस प्रकार स्वार्थके द्वारा दो तरहसे समाजकी हानि होती है। एक-समाजके द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि करना और दूसरा—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिके लिये सार्वजनिक स्वार्थमें उदासीन रहना या उसकी हानि करना। आजकल समाजके द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि परा-यण मनुष्योंकी कमी हिन्दूसमाजमें नहीं है। इस प्रकार नीचाशय मनुष्य किसी न किसी स्वार्थसे समाजमें सम्मिलित होते हैं या हो सके तो समाजके नेता बनते हैं और समाजका गला घोटकर अपनी स्वार्थसिद्धि करनेके लिये

भीतर भीतर सदा ही प्रयास करते रहते हैं। ऐसे मनुष्यके हृदयमें समाजकी कल्याण-चिन्ता न रहकर केवल अपनी स्वार्थ सिद्धिकी ओर खींचनेका प्रयत्न करते हैं और सामाजिक उन्नतिके लिये अत्यावश्यकीय होनेपर भी ऐसा कोई भी कार्य समाजमें नहीं होने देते जिससे उनकी स्वार्थ सिद्धि न हो या उसमें बाधा हो। जिसका यह फल होता है कि समाजके लोगोंमें कुछ दिनोंके बाद ही मनोमालिन्य तथा मतभेद उत्पन्न होकर समाज एकदम रसातलको पहुँच जाता है। अतः इस प्रकार एकता भ्रष्टकारी नीच मनुष्योंसे समाजको सदा ही बचना चाहिये। दूसरा—व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धिके लिये सार्वजनिक कल्याणकर कार्यमें उदासीन रहना या उसकी हानि करना है। समाज जब सार्वजनिक स्वार्थका ही साधक है तो विना व्यक्तिगत स्वार्थका सङ्कोच किये कोई भी समाज कार्यकारी नहीं हो सकता। सबके कल्याणके लिये अपने स्वार्थका अवश्य ही सङ्कोच करना पड़ता है; क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थके साथ एक व्यक्ति या एक परिवारका और सामाजिक स्वार्थके साथ अनेक व्यक्ति या अनेक परिवारोंका मिश्रसम्बन्ध होनेसे अनेक समय व्यक्तिगत स्वार्थ और सामाजिक स्वार्थका सामञ्जस्य नहीं रहता। उस दशामें बृहत् सार्वजनिक स्वार्थकी सिद्धिके लिये व्यक्तिगत स्वार्थके त्याग देनेसे ही समाजमें एकता तथा उन्नति हो सकती है; अन्यथा जो मनुष्य उस समय व्यक्तिगत स्वार्थके लिये सामाजिक स्वार्थको तुच्छ करते हैं या उदासीनता अवलम्बन करते हैं, उनके द्वारा न कोई सामाजिक कार्य हो सकता है और न समाजमें एकताकी प्राप्ति हो सकती है। आजकल हिन्दूसमाजमें इस प्रकार स्वार्थी मनुष्योंका अभाव नहीं है और यही कारण है कि इतना प्रयत्न होनेपर भी हिंदूसमाजकी उन्नति यथोचित नहीं देखनेमें आती। अतः सामाजिक नेताओंका कर्त्तव्य है कि समाजमेंसे एकताके अन्तरायस्वरूप इन सब कण्टकोंका उद्धार करें।

(१०) सफलताका बीजमंत्र नियम है। उन्नतिशील नियम ही धर्म है और धर्मके द्वारा सफलताका लाभ हुआ करता है। स्वाभाविक अनियमित उद्दाम प्रवृत्तिको जो शक्ति नियमित करे उसीका नाम धर्म है इसलिये नियमहीन अनर्गल कार्य अधर्म कार्य कहलाता है। अनुशासनके द्वारा ही नियमकी रक्षा हुआ करती है। यह प्राकृतिक अनुशासनका ही कारण है कि सूर्यदेवके उदयास्तसे नियमितरूपसे दिन और रातका समागम होता है। यह देवानुशासनका ही कारण है कि जीवोंकी आवश्यकताके अनुसार पवनदेव वायुका संचार करते हैं, वरुणदेव नियमित समयपर जल बरसाते हैं और षड्ऋतु

अपने अपने समयपर प्रकट होकर जीवोंकी पुष्टि तथा आनन्दवर्द्धन करते हैं। यह प्रकृतिमाताके अनुशासनका ही कारण है कि वृक्ष, लता, गुल्म, औषधि आदि नियमित समयपर मनोमुग्धकर पुष्पोंसे सुसज्जित होते हुए नियमित समयपर ही जीवोंको फल दान किया करते हैं। यह राजानुशासनका ही फल है कि प्रजा शान्तिसुखका उपभोग करती हुई संसारयात्रामें अग्रसर होती है। यह वेदानुशासन और योगानुशासनका ही फल है कि धार्मिकगण साधनमार्ग द्वारा क्रमशः उन्नति करते हुए अन्तमें दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं। और यह एकमात्र अनुशासनका ही फल है कि प्रजा राजाके और राजा प्रजाके हितचिन्तनद्वारा मनुष्य-समाजका कल्याण साधन किया करते हैं। अतः मनुष्योंकी क्रमोन्नतिके अर्थ, अनुशासन (organisation) की अत्यन्त आवश्यकता है। समाज जब एक जातीय तथा समोद्देश्यपूर्ण मनुष्यसंघकाही विशेष नाम है तो समाजोन्नतिके मूलमें भी सामाजिक अनुशासकी अत्यावश्यकता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता, हिन्दु सामाजिक नेताका परम कर्त्तव्य है कि वे अपने समाजकी उन्नतिके लिये सामाजिक अनुशासन (Social organ isation) की सुकौशलपूर्ण तथा देशकालानुकूल व्यवस्था अवश्य करें। इस समय भारतवर्षके सम्राट् अन्य धर्मावलम्बी होनेके कारण, सामाजिक विषयोंमें राज-दण्डकी पूरी सहायता हिंदूजातिको नहीं मिल सकती, परन्तु समाजदण्डका पुनः प्रवर्तन करना हिन्दूसमाजके ही हाथमें है, जो इस समय सामाजिक अनुशासनके द्वारा लब्ध हो सकता है। सामाजिक अनुशासनकी पुनः प्रतिष्ठाद्वारा राजदण्ड तथा समाजदण्ड दोनोंका काम निकल सकता है और साथ साथ वेदानुशासन और आचार्यानुशासनके प्रचारमें भी सहायता पहुँच सकती है। समाजानुशासनकी उन्नतिके विना आर्यजातिकी वर्तमान घोर दुःखदायिनी पीड़ाका नाश कदापि नहीं हो सकता, परन्तु प्राचीन कालमें जिस प्रकार सामाजिक अनुशासनकी रीति थी उस रीतिमें अब कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। देश, काल और पात्रके परिवर्तनसे रुचि और अधिकारका परिवर्तन हुआ करता है। अतः प्राचीन कालमें ग्राम और नगरोंमें समाजपतिको जो अधिकार देनेकी रीति थी, उस समय स्वतन्त्र स्वतन्त्र जातिके लिये जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र पंचायत स्थापन करनेकी विधि थी, उस समय वंशपरम्परासे जो कुछ अधिकार दिया जाता था तथा एक ग्राम अथवा नगरके साथ दूसरे ग्राम अथवा नगरका इस विषयमें कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता था, एक देश वा नगरकी पंचायतसे दूसरे देश अथवा नगरकी पंचायतके साथ कोई सम्बन्ध स्थापन करनेकी रीति नहीं थी,

उन सब रीतियोंमें इस समयके उपयोगी कुछ कुछ परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता होगी। इस समयके देशकालपात्रानुरूप नियम बनाकर सामाजिक अनुशासन स्थापित करना पड़ेगा। पंचायती शक्ति अर्थात् संघशक्तिकी जो प्रथा बहुत कालसे इस देशमें प्रचलित थी, इस समय उसको संस्कृत करके उन्नत करना होगा। इस समय सामाजिक अनुशासनकी बहुत कुछ प्रशंसनीय रीति यूरोप और अमेरिकाके मनुष्यसमाजमें देखनेमें आती है। वहां अन्य उपधर्म तथा अनार्य रीतियोंके प्रचलित होनेके कारण वहांके मनुष्यसमाजमें बहुत प्रकारको सामाजिक शिथिलता है, परन्तु सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी जो कुछ रीतियां यूरोप और अमेरिकामें प्रकट हुई हैं वे सब बहुत ही दृढ़ नियमयुक्त और प्रशंसनीय हैं। वहांके मनुष्योंमें बहुधा सामाजिक अनुशासन इतना दृढ़ और शक्तिशाली है कि वे उसके द्वारा राजाके विना भी अपने देशका सम्पूर्ण राजसिक प्रवन्ध चालित करनेकी प्रथा किसी विशेष देशमें चला रहे हैं। फ्रांस और यूनाईटेड् स्टेट्सका प्रजातन्त्र राजनियम (Republican form of Governmant) उसी सामाजिक अनुशासन शक्तिका असाधारण फल है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यप्रजाके सनातनधर्मसम्बन्धी पवित्र विचारोंके अनुसार राजाको न रख करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापन करना सर्वथा निन्दनीय और विज्ञानविरुद्ध समझा जायगा। इस प्रकारके प्रजातन्त्रानुशासनका क्या विषमय परिणाम होना स्वभावसिद्ध तथा अवश्यम्भावी है सो स्वतन्त्र अध्यायमें वर्णित किया जा चुका है। अतः उक्त सिद्धान्तानुसार यूरोप और अमेरिकाके उक्त राजनैतिक सिद्धान्तोंमें यद्यपि अनेक असंपूर्णताएं हैं तथापि उनके राजनैतिक कौशलपर विचार करनेसे अवश्य सिद्धान्त होगा कि वहांके मनुष्योंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेकी प्रशंसनीय रीतियां प्रचलित हैं। वहांकी सामाजिक, राजनैतिक तथा नाना विद्या-सम्बन्धी सभाओंकी गठनप्रणालीपर विचार करके इस समयके आर्यगण अपनी जातिमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करनेमें निःसन्देह बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। उन देशोंमें सामाजिक शक्ति उत्पन्न करके वहाँके मनुष्यगण चाहे राजनैतिक और व्यापारसम्बन्धी और ही प्रकारका लाभ उठाते हों, परन्तु इस विषयमें उन्होंने इतनी उन्नति की है कि आजकलकी आर्य्यप्रजा उनकी प्रबंधशैलीकी सहायतासे, अपनी धर्मोन्नतिके अर्थ, सामाजिक अनुशासनकी विधिमें लाभ उठा सकती है। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि ब्रिटिश द्वीपके अधिवासियोंने सब राज्यभरमें व्यापार और धनकी वृद्धिके लिये "को

आपरेटिव यूनियन" (Co-operative union) नामसे जो सामाजिक शक्ति उत्पन्न की है उसकी सफलतापर विचार करनेसे हिन्दुमात्र ही चकित होंगे। इस महासभाके द्वारा ब्रिटिशजातिने थोड़े ही कालमें इतनी बड़ी लौकिक शक्ति प्राप्त की है कि जिसके सुप्रबन्धसे उस राज्यभरमें सहस्रों शाखासभाएँ स्थापित हो गई हैं और ऐसा ग्राम अथवा नगर नहीं है कि जहां धन और व्यापारकी वृद्धिके लिये उनका स्वतन्त्र केन्द्र स्थापित न हो गया हो। समाजके प्रधान प्रधान नेतागण इस महासभाके सभ्य हैं और जातिके धन-समागम और व्यापारकी नियमबद्ध उन्नतिके अर्थ जैसा चाहे वैसा ही कार्य यह महासभा कर रही है। व्यापार सम्बन्धमें राजगणको भी इस महासभाका परामर्श स्वीकार करना पड़ता है तथा व्यापारसम्बन्धी शिक्षा लोकसमाजमें प्रचलित करनेके लिये यह महासभा प्रधान सहायक है। इसी प्रकारसे ब्रिटिश-जातिकी राजनैतिक महासभाके सभ्यगणके चुनावकी शैली, उस राज्यकी वैज्ञानिक महासभा और उसकी शाखाओंकी गठनप्रणाली तथा वहांके विश्व-विद्यालय आदि विद्याप्रचारसम्बन्धी सभाओंकी प्रशंसनीय प्रबन्धप्रणालीपर जितना लक्ष्य डाला जाता है उतनी ही उस जातिकी सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेकी असाधारण योग्यता जानी जाती है। हिन्दूजाति तथा हिन्दूसामाजिक नेताको इस समय अपने समाजमें सामाजिकशक्ति उत्पन्न करके धर्मके अभ्युदय समाजकी उन्नति और विद्याके प्रचारके अर्थ अवश्य ही पश्चिमीय जातियोंकी सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेकी प्रशंसनीय रीतियोंमेंसे बहुतसे उपयोगी नियमोंकी सहायता लेना कर्त्तव्य है। प्रजा राजाका अनुकरण स्वभावतः ही करती है इसलिये वर्त्तमान समयमें हिन्दूजातिके ऊपर पश्चिमीय अधिकारके जितने कारण हैं उनमेंसे उपरोक्त सामाजिक अनुशासनशैलीका शिक्षाप्रदान भी एक दैवी कारण है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है; अर्थात् हिन्दूप्रजामें सामाजिक एकता तथा अनुशासनशक्तिका अभाव हो जानेसे अनुकरण द्वारा उसीकी शिक्षाप्रदानके अर्थ ही भगवदिच्छासे हिन्दू जातिपर पश्चिमीय प्रभुता स्थापित हुई है ऐसा विचार करना अयौक्तिक नहीं होगा। अतः हिन्दूसामाजिक नेताको इस दैवीकारणपर विचार रखकर अपने समाजमें अनुशासन प्रथाका देशकाल-पात्रानुसार प्रचलन करना चाहिये। हां, इसमें सन्देह नहीं कि जो कुछ सहायता पश्चिमीय जातियोंसे अनुशासनके विषयमें ली जाय सो अपने धर्म तथा आचार-के विरुद्ध फल उत्पन्न न कर सके; किंतु केवल सामाजिक अनुशासनके बांधनेमें ही सहायक हो, ऐसी रीतियोंको ही ग्रहण करना सर्वथा कर्त्तव्य होगा।

हिन्दुजातिमें सामाजिक अनुशासनकी धर्मयुक्त प्रणाली प्रचलित करनेके अर्थ तथा उसके द्वारा भारतवर्षव्यापिनी एक सामाजिकशक्ति उत्पन्न करनेके लिये विशेष विचार, धैर्य और दूरदर्शिताके साथ सामाजिक नेताको ऐसी एक विराट् सभा स्थापित करनी होगी जिसके द्वारा धर्मोन्नति, समाजसंस्कार तथा विद्याप्रचारके सम्बन्धमें सभी प्रकारके पुरुषार्थ हो सकें। भारतवर्षके सकल प्रान्तोंमें इस विराट् सभाके प्रान्तीय केन्द्रसमूह तथा तदन्तर्गत शाखा-सभासमूहके स्थापन द्वारा नियमबद्ध प्रबन्धप्रणालीका विस्तार करना चाहिये और जिससे स्थानीय तथा प्रान्तीय धर्माचार्य, नरपतिगण तथा गण्यमान्यव्यक्ति इन सब केन्द्रोंके पृष्ठपोषक और सहायक हों ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये। इस प्रकारसे सारे भारतवर्षमें विराट् सभाके अधीन होकर एक सूत्रमें बद्ध दश या द्वादश प्रान्तीय केन्द्र तथा उनके अधीन सहस्रों धर्मसभाएँ यदि एकमत होकर धर्मपुरुषार्थमें प्रवृत्त हों तो थोड़े ही कालमें हिन्दूजातिमें सामाजिक धर्मशक्तिका आविर्भाव होना निश्चित है। विराट् सभा तथा प्रान्तीय केन्द्रसमूह लोकसंग्रह और धनसंग्रह द्वारा अपनी शक्तिकी वृद्धि करके शाखासभाओंकी सम्हाल रक्खें और शाखासभाएँ साक्षात्‌रूपसे वर्ण और आश्रमधर्मकी उन्नति करती हुई ज्ञानविस्तारकी सहायतासे अपनी सभाओंके अधिकारोंको दृढ़ करके जाति एवं देशकी उन्नतिमें यत्नवान् हों, योग्य पुरुषोंको पुरस्कृत और धर्म-विरुद्ध निरङ्कुश व्यक्तियोंको तिरस्कृत करके समाजकी दृढ़ता सम्पादन करें तथा साथ ही साथ धर्मके रहस्योंका प्रकाश करके प्रजाको धार्मिक बनावें। अयोग्य पुरुषोंके तिरस्कार और शासन करनेकी रीति प्रचलित करनेमें अपेक्षा-कृत कुछ कठिनता पड़ेगी, परन्तु इस जातीय विराट् धर्मसभाकी गठनप्रणालीकी उत्तमता होनेपर वह कार्य भी सुगमतापूर्वक चल सकेगा। असम्मानका विचार, लोकसमाजका भय और जीवनके सुखोंमें असुविधा आदि ही दण्डमें हुआ करता है। यदि विराट् सभाकी प्रबन्धशैली दृढ़ हो तो अयोग्य पुरुषोंको अपनी रीतिपर शाखासभाएं सामाजिकरूपसे दण्डित अवश्य ही कर सकती हैं। यदि नगर अथवा ग्राममें इस महासभाके उद्देश्य और आर्यजातिके इस समयके कर्त्तव्यसम्बन्धी सब बातें आर्यप्रजाको समझा दी जायँ तो उस नगर वा ग्रामकी पञ्चायतीशक्ति पूर्वकालके अनुसार दृढ़ होकर अयोग्य पुरुषोंका तिरस्कार स्वयं ही कर सकती हैं। प्राचीन पञ्चायत मण्डलीका कार्य आधुनिक शाखासभाएँ अपने ऊपर ले लेवें और वहांके सामाजिक नेताओंकी सहायतासे अपनी शक्तिको काममें लावें। इस प्रकारसे अनुशासन कार्यको सम्हालनेका

भार लेकर शाखासभाएँ इस विषयमें धर्मानुरूप कार्य करती हैं या नहीं, इसकी देख भाल और सुधारका भार प्रान्तीय केन्द्रोंके धर्माचार्य तथा नरपतियोंपर निर्भर रहना उचित होगा। इस प्रकारसे सुकौशलपूर्ण यत्न द्वारा इस विराट् धर्मसभाकी सहायतासे हिंदूजातिकी सकल प्रकारकी उन्नति हो सकेगी। अतः सामाजिक नेताको बहुतही पुरुषार्थ और दूरदर्शिताके साथ इस प्रकार विराट् सभाकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये और जैसा जैसा देश काल तथा पात्र अग्रसर हो वैसा ही इस महासभाके नियमोंको भी अग्रसर करना युक्तियुक्त होगा।

जबतक शूद्र और वैश्यगण दीर्घसूत्रता और आलस्य-त्यागपूर्वक यथा-सम्भव कर्मयोगका साधन करते हुए देशके शिल्प और वाणिज्यकी उन्नतिमें तत्पर नहीं होंगे तबतक आर्यजातिकी आधिभौतिक उन्नति होना असम्भव है। जबतक क्षत्रिय और ब्राह्मणगण लोभ और प्रमादको छोड़कर श्रीगीताजीमें कथित निष्कामव्रतका अभ्यास करनेमें तत्पर नहीं होंगे तबतक इस जातिकी आध्यात्मिक उन्नति होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं है। ब्रह्मचर्य आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा करके निष्कामव्रतपरायण मनुष्य उत्पन्न करने पड़ेंगे, प्रत्येक गृहस्थको यथासम्भव निष्कामकर्मकी प्रतिज्ञा करके गृहस्थाश्रममें प्रवृत्त होना पड़ेगा, कर्मयोगी वानप्रस्थ आश्रमधारी पुरुषगण जब दिन और रात लोकहितमें प्रवृत्त होंगे और संन्यास आश्रमका एकमात्र अवलम्बन जब श्रीगीतोपनिषद्का विज्ञान हो जायगा उसी समय इस सामाजिक घोर रोगकी शान्ति होगी। सामाजिक अनुशासनाभावरूपी क्षयरोगके साथ स्वार्थपरतारूपी वीर्यभङ्गरोगकी उत्पत्तिसे आर्यजातिकी दशा अब बहुत ही कठिन और शोचनीय हो गई है। फलतः प्रबल पुरुषार्थके अवलम्बनसे जैसा जैसा सामाजिकशक्ति—सञ्चाररूपी औषधिका प्रयोग और निष्कामव्रत—अभ्यासरूपी अनुष्ठानका साधन होता जायगा वैसेही उक्त घोर रोगकी शान्ति हो सकेगी। आर्यजातिरूपी शरीरमें सामाजिक अनुशासनकी प्रतिष्ठा द्वारा लुप्तप्राय क्षात्रतेजकी क्रमोन्नति होगी और श्रीगीताजीमें कथित कर्मयोगके साधन द्वारा आध्यात्मिक उन्नतिकारी ब्रह्मतेजका आविर्भाव होगा। अपने ज्येष्ठ संतानोंकी पुनरुन्नति देखकर ऋषि, देवता और पितृगण प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद करेंगे और आर्यजाति तब ही जगत्-कल्याणकारिणी होकर परम शान्ति और उन्नतिकी अधिकारिणी होगी।

उपसंहारमें वक्तव्य यह है कि इस प्रकारके योग्य नेताके प्रति श्रद्धा और भक्ति करना प्रत्येक सामाजिक मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार सेनापतिके प्रति भक्ति और उनकी आज्ञापालनके विना न युद्धमें जयलाभ हो सकता है और

न शत्रुओंसे राज्यकी रक्षा ही हो सकती है; ठीक उसी प्रकार सामाजिक नेताके प्रति श्रद्धा, भक्ति और उनकी आज्ञा पालनके विना न समाजकी उन्नति हो सकती है और न विरुद्धशक्तियोंके आक्रमणसे समाजकी रक्षा हो सकती है। अतः समाज और नेतामें कर्त्तव्यसूत्रके द्वारा परस्पर श्रद्धा भक्ति और प्रीतिका सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये। जब नेता अपने नेतृत्वके कर्त्तव्य और जिम्मेवा-रीको हृदयङ्गम करेंगे और जब समाजान्तर्गत मनुष्यगण नेताके प्रति योग्यतानु-सार सम्मान और श्रद्धाप्रदर्शन करना तथा वशम्वद होना सीखेंगे तभी हिंदूस-माजका यथार्थ कल्याण साधन होगा इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है।

तृतीय काण्डकी षष्ठ शाखा समाप्त हुई।

राजा और प्रजा।

यह संसार शक्तिका ही विकाशरूप है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म और ब्रह्म-शक्तिरूपिणी महामाया दोनोंमें अभेद होनेपर भी ब्रह्म तो केवल इस प्रपञ्चमय संसारके साक्षीरूप हैं और स्थूल एवं सूक्ष्म दृश्यरूपी यह जगत् शक्तिका ही विकाश है। जिस प्रकार एक अतिक्षुद्र वटबीजमें महान् वटवृक्ष शक्तिरूपसे निहित रहता है, पुनः पृथिवीकी कालन्तरमें सहायतासे उसी छोटेसे वट-बीजसे अतिवृहत् वटवृक्ष प्रकट हो जाता है; ठीक उसी तौरपर सृष्टिके पूर्ववर्त्ती समष्टिसंस्कार रूपी सृष्टिबीजसे कालान्तरमें जड़चेतनात्मक मनुष्य आदि मृत्युलोक और देवपितर आदि देवलोकात्मक यह स्थूल सूक्ष्म संसार प्रकट हुआ करता है। अन्ततः यह संसार शक्तिका ही विकाश मात्र है।

स्थूलदृष्टिसे जगत्प्रसविनी महाशक्तिकी तीन दशाएँ अनुभव करनेमें आती हैं। एक आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समताकी दशा, दूसरी केवल आकर्षणकी ही दशा और तीसरी केवल विकर्षणकी दशा। इन तीनों दशाओंको उदाहरणकी सहायतासे समझानेका यत्न किया जाता है। अनन्त ग्रह उपग्रहसे पूर्ण इस सौरजगत्के सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह सबमें ही स्वतन्त्र स्वतन्त्ररूपसे आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति विद्यमान है। आकर्षण शक्ति दूसरे ग्रह उपग्रहको अपनी ओर खैंचती है और विकर्षण शक्ति दूसरोंको अपनी ओरसे दूसरी ओर फेंकनेके लिये धक्का देती है। अपने अपने अधिकारके अनुसार सूर्य्य, ग्रह और उपग्रह तीनोंमें ही ये दोनों शक्तियां नियमित रूपसे कार्य्य कर रही हैं। जबतक आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति समानरूपसे कार्य करती रहेगी तबतक सूर्य्यदेव, ग्रहगण और उपग्रहगण अपनी अपनी कक्षामें यथानियम घूमते रहेंगे, न एक दूसरेसे टकरावेंगे और न अपनी अपनी कक्षासे बाहर जा सकेंगे। इस दशामें उन्हीं दोनों आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समतासे सौर जगत्की स्थिति बनी रहेगी और प्रलय नहीं होने पावेगा। दूसरी दशा केवल आकर्षणकी है और तीसरी दशा केवल विकर्षणकी है। जब ये शक्तिकी पिछली दोनों दशाएँ प्रकट होने लगती हैं, तो केवल आकर्षणकी दशाके अंतमें उपग्रह ग्रहके साथ और सब ग्रह सूर्य्यके साथ टकराकर नष्ट होकर सौरजगत्का प्रलय कर डालते हैं। इसी तरह

१७

केवल विकर्षणकी दशामें ग्रह और उपग्रहगण अपने अपने पथको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं और क्रमशः अनियमके कारण या तो आपसमें टकराकर और नहीं तो दूसरे सौरजगत्के अधिकारमें घुसकर प्रलयका कारण बनते हैं। सौर जगत्के दृष्टान्तपर मनुष्यसमाजमें इन दोनों शक्तियोंका विकाश और इन दोनों शक्तियोंका कार्य्यक्रम उदाहरण द्वारा अब समझने योग्य है।

गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनोंमें श्रद्धाके द्वारा, स्त्री, पति, मित्र आदिमें प्रेमके द्वारा, कन्या, शिष्य आदिमें स्नेह और कृपाके द्वारा आकर्षणशक्तिका विकाश स्पष्ट ही प्रकट होता है और शत्रु आदिमें विकर्षण शक्तिका विकाश मनोवृत्ति द्वारा स्पष्ट रूपसे प्रकट होता है; परंतु मनुष्यसमाजकी समता मनुष्यसमाजमें शान्ति और मनुष्यसमाजकी धर्मोन्नति तभी हो सकती है जब इन दोनों विरुद्ध शक्तियोंकी समता मनुष्यसमाजमें बनी रहे। यदि आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समता बनी न रहती तो मनुष्यसमाजमें माता, स्त्री और कन्याका भेद कभी नहीं बना रह सकता था। यदि आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियोंकी यथार्थ समता मनुष्यसमाजमें विद्यमान नहीं रहती तो शिष्यमें गुरुभक्ति और गुरु-सुश्रूषाके लक्षण, गुरुमें शिष्यपर कृपा करनेकी प्रवृत्ति, पुत्रमें मातापितापर श्रद्धाके सदाचार, मातापितामें पुत्र कन्यायोंपर निःस्वार्थ स्नेहका व्यवहार, अपराधीपर राजाके न्यायका बर्त्ताव और शत्रुके साथ नीतिका व्यवहार कदापि इस संसारमें दिखाई नहीं देता। अतः पूर्व कथित विचारसे यह सिद्ध हुआ कि आकर्षण शक्ति और विकर्षण शक्ति दोनोंकी अलग अलग क्रिया इस संसारके स्थूलसे स्थूल राज्यसे लेकर सूक्ष्मसे सूक्ष्म राज्य तक समानरूपसे विद्यमान है और जहां इन दोनोंकी समता है वहीं जगत्रक्षाका कारण विद्यमान है और जब कभी इन दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट हो जाती है और इन दोनों शक्तियोंमेंसे कोई एक शक्ति अधिक प्रबल हो जाती है तब ही प्रलय होने लगता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर सौर जगत्में कोई शक्ति अपनी प्रधानताको लेकर कार्य करने लगती है तो उस सौर जगत्का क्रमशः प्रलय हो जाता है। यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी गृहस्थके स्त्री-पुरुषोंमें कोई एक शक्ति प्रबल होकर कार्य्य करने लगती है तो उस गृहस्थके स्त्री-पुरुषोंमेंसे धर्माधर्मविचार नष्ट हो जाता और उस गृहस्थके स्त्री-पुरुष उच्छृङ्खल होकर कदाचारी और अनार्य हो जाते हैं और यदि दोनों शक्तियोंकी समता नष्ट होकर किसी मनुष्यसमाज अथवा किसी राजाके राज्यमें कोई एक शक्ति प्रबल हो

कर कार्य्य करने लगती है तो मनुष्यसमाज अथवा वह राज्य नष्टभ्रष्ट हो जाता है। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म दोनोंमें ही इन दोनों शक्तियोंकी समता समानरूपसे विद्यमान रहनी चाहिये नहीं तो राजा और प्रजा दोनों ही धर्म-हीन होकर नष्ट हो जायँगे।

सनातनधर्मका सर्वजीव हितकर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् स्वरूप जो पूज्यपाद महर्षियोंने प्रकट किया है उसपर विचार करनेसे यही सिद्धान्त निश्चय होगा कि उक्त आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनोंकी समता रखना ही धर्म्म है। विषमता होते ही अधर्म्म बन जाता है। धर्म्मके लक्षण वर्णनकारी दो महर्षियोंके मत नीचे लिखे जाते हैं, यथाः—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः।

इति महर्षिकणादः।

धारणाद्धर्म्मः। अभ्युदयकरः सत्त्वप्राधान्यात्।
कर्म्मावसाने निःश्रेयसकरः शक्तिमत्त्वात्।

इति महर्षिभरद्वाजः।

इन वचनोंका तात्पर्य्य यह है कि धर्मसे ही मनुष्योंकी क्रमोन्नति और उनको मुक्तिकी प्राप्ति होती है। धर्म्मने ही सब ब्रह्माण्डको धारण कर रक्खा है। धर्म्म सत्त्वगुण वर्द्धक है इसलिये उसके द्वारा मनुष्यकी क्रमोन्नति होती है और धर्ममें भगवान्‌की पूर्णशक्ति विद्यमान है इस कारण धर्मके द्वारा मनुष्यकी मुक्ति हुआ करती है। मनुष्य अपने पिण्डरूपी शरीरका राजा है। वह चाहे जिस तरहसे अपने शरीरपर आधिपत्य करे, कर सकता है। उदाहरणसे समझने योग्य है कि वह चाहे तो जिह्वास्वाद ग्रहणकी उच्छृङ्खलता करके जो चाहे सो खा सकता है और चाहे उसका संयम करके धर्म्म और स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है। मनुष्य अखाद्य भोजन द्वारा अधर्म्म और अस्वास्थ्यकर पदार्थके भोजन द्वारा पीड़ाको जब चाहे तब प्राप्त कर सकता है। दूसरा उदाहरण भी सोच सकते हैं कि मनुष्य उपस्थ इन्द्रियकी यथेच्छ सेवा द्वारा गम्यागम्य-विचाररहित होकर घोर नारकी बन सकता है अथवा शास्त्र-विहित स्त्रीसङ्ग द्वारा धर्म्मोपार्जन कर सकता है। जब उसमें इन्द्रियोंकी ओर पूर्ण आकर्षणशक्ति विद्यमान है तो उस आकर्षणशक्तिकी यथेच्छ वृद्धिसे पाप संग्रह होना असम्भव नहीं हो सकता; परन्तु धर्म्मकी रक्षा तभी हो सकती है जब मनुष्य इन्द्रियसेवनजनित आकर्षणशक्तिका अनियमित

यथेच्छ व्यवहार न करे तथा इन्द्रियोंकी धर्मानुकूल सुरक्षा करके विकर्षण शक्तिका भी अपव्यवहार न करे। जिस प्रकार ग्रह उपग्रह आदिमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समतासे ग्रह और उपग्रहगण अपनी कक्षासे च्युत न होते हुए सृष्टिधर्मका पालन करके सौर जगत्‌की सुरक्षा करते हैं; ठीक उसी रीतिपर धार्मिक गृहस्थ अपनी इन्द्रियोंके नियमित धर्म्मानुकूल सेवन द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने आचारमें सुरक्षित करते हुए धर्म्म सम्पादन किया करते हैं। इस विज्ञान द्वारा यह सिद्ध हुआ कि शारीरिक, वाचनिक और मानसिक तीनों प्रकारकी क्रियाओंमें उन्हीं जगत्-प्रसविनी महामायाकी आकर्षण और विकर्षण शक्तियोंकी समता-स्थापनाको ही धर्म्म कहते हैं। जिस प्रकार आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी समतासे स्थूल समष्टि ब्रह्माण्डमें ब्रह्माण्डधारक धर्म्मकी सुरक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समताको नियमित रखनेसे पिण्डरूपी मनुष्यशरीरमें मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्म्मकी सुरक्षा होती है। राजधर्म्म और प्रजाधर्म्म इन दोनोंमें भी इसी प्रकारसे इन्हीं दोनों शक्तियोंकी समताकी सुरक्षा होनेसे धर्म्मकी सुरक्षा होगी; अन्यथा अधर्म होनेसे राजा और प्रजा उभयका अकल्याण होगा।

राजधर्म और प्रजाधर्मको सुरक्षित करनेके अर्थ आजतक जितने प्रकारकी राज्यशासनप्रणाली और राजनीति संसारमें प्रचलित हुई हैं उनके विभाग निम्नलिखित रूपसे कर सकते हैं, यथाः—(क) प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Republican form of Government), (ख) वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली) (Limited monarchy), (ग) स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Despotic Government) और (घ) हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली। इन चारोंके लक्षण ये हैं। प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार प्रजा ही राजा और प्रजा दोनोंका कार्य्य करती है; उसमें राजाका नाम मात्र नहीं रहता। उसके नियमानुसार प्रजा ही अपनी प्रतिनिधिसभा नियत करती है, प्रतिनिधि सभाके चुनाव करनेमें उच्च नीच सब प्रजा समान अधिकार रखती है। वही प्रतिनिधि सभा एक नियमित समयके लिये प्रधान सभापतिरूपसे प्रेसिडेण्ट चुन लिया करती है। वही प्रेसिडेण्ट उसी नियमित समयके लिये राजाके कुछ अधिकार प्राप्त कर लेता है। प्रजा ही प्रतिनिधिसभाके द्वारा अपने राज्यके राजकीय नियम (राजानुशासन की नियमावली) अर्थात् कानून निर्माण करती है। इस राज्य-शासन

प्रणालीके अनुसार यदि राजनैतिक योग्यता हो तो प्रजाका एक अति निकृष्ट मनुष्य भी उन्नति करता हुआ कालान्तरमें उस प्रजातन्त्र राज्यका प्रेसिडेण्ट बन सकता है। यद्यपि इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार कोई भी स्थायी राज्यपद नहीं प्राप्त कर सकता, स्थायी राजा बननेकी कोई इच्छा भी करे तो वह राजद्रोही समझा जाता है, परन्तु प्रजाकी शक्तिको नियमवद्ध करनेके लिए कई उपाय रक्खे गए हैं। प्रथम तो प्रेसिडेण्ड-कोही कुछ वर्षोंके लिये सर्वप्रधान शक्ति राजशक्तिरूपसे प्रदान की गई है, दूसरे मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनिधिसभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठन प्रणाली—इन तीनोंके अधिकार भी ऐसे रक्खे गये हैं कि जिससे प्रजा उच्छृङ्खल न हो सके। प्रकारान्तरसे इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें राजाके अधि-काराको भी रक्खा गया है और प्रजाको भी उच्छृङ्खल होनेसे बचाया गया है इस प्रकारसे प्रजाको सब प्रकारका अधिकार देनेपर भी राजा और प्रजा दोनोंके पदकी असीम शक्तिको सीमावद्ध करके आकर्षण और विकर्षण-शक्तिकी यथासम्भव समता स्थापन करते हुए राज्यरक्षाकी एक नई प्रणाली निकाली गई है। दूसरी वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें राजाका सम्मान रक्खा गया है। इस राज्यशासन प्रणालीके अनुसार प्राचीन राज्यकुलका ही एक व्यक्ति अपने कुलपरम्परागत नियमके अनुसार राजा होता है और जीवनपर्य्यन्त राजा रहता है; परन्तु उसके अधिकार और क्षमता प्रायः उतनी ही होती है जितनी कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके प्रेसिडेण्टकी हुआ करती है और मन्त्रीसमाज गठन, निम्न प्रतिनि-धिसभा और उच्च प्रतिनिधिसभा गठन-प्रणाली, ये सब भी प्रायः वैसे ही होते हैं कि जैसे कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें होते हैं। केवल राजभक्तिका अंश इस राज्यशासन प्रणालीमें राजाज्ञा द्वारा स्थायी रक्खा जाता है। इस राज्यशासन प्रणालीमें राजा सम्मानके विचारसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और शक्तिके विचारसे प्रजाके हाथमें ही सब कुछ होता है और दोनोंके अधिकार विभक्त रहते हैं। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि कानून बनानेका अधिकार प्रजाकी प्रतिनिधिसभाके हाथमें रहनेपर भी उस कानूनको स्वीकार करनेका अधिकार राजाको रहता है; उसी प्रकार युद्धाज्ञाप्रचारकी क्षमता और सेनाको युद्धमें नियुक्त करनेका अधिकार राजाके हाथमें रहने-पर भी धन व्यय करनेका अधिकार प्रजाके हाथमें रहता है। इस प्रकारसे राजा और प्रजा दोनोंकी उच्छृङ्खलताको नियमबद्ध प्रणालीसे रोकनेका प्रबन्ध

रखकर आकर्षण और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापना की गई है। तीसरी स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली, जो कि बौद्ध राजाओंके समयसे प्रचलित हुई है और जिसका नमूना अभीतक तुर्क देश और चीनदेशमें उपस्थित था और जो रीति अभी तक भारतके देशी राज्योंमें भी कहीं कहीं प्रचलित है; परन्तु उसका पूरा नमूना हिन्दुस्तानके पठान और मुगलसम्राटोंके राज्यमें प्रकट हुआ था। इस स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके अनुसार राजा ही सब कुछ समझा जाता है, राजाकी निरङ्कुशता दमन करनेके लिये प्रजाके निकट कोई बल नहीं है; राजाकी राजाज्ञाही कानून है और राजाकी राजाज्ञा ही धर्म है। इस राज्यशासन प्रणालीमें राजधर्म और प्रजाधर्ममें आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समता स्थापन करने या न करनेका अधिकार एकमात्र राजाकी इच्छापर निर्भर करता है। चौथी हिन्दुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली है। वह इन पूर्वकथित तीनोंसे कुछ विलक्षण ही है। हिन्दुओंकी इस प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र धर्म ही अनुशासनरूपसे राजधर्म और प्रजाधर्म दोनोंके अधिकारोंको विभक्त करके आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करता है।

पूर्व्वकथित चार प्रकारकी राज्यशासन प्रणालियोंमें राजा और प्रजाका जिस प्रकार सम्बन्ध बाँधा गया है उन सब नियमोंको भलीभाँति अन्वय व्यतिरेकके साथ विचार करनेसे यह सिद्धान्त होगा कि स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली—जिसका उदाहरण प्राचीन तुर्क और चीन साम्राज्य था, उक्त राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र राजाको ही पूर्णशक्तिमान् बनाया गया है। उसी प्रकार सावधानताके साथ विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली कि, जिसका उदाहरण यूरोपीय फ्रांस राज्य और अमेरिकाके राज्य हैं, उक्त राज्यशासन प्रणालीमें एकमात्र प्रजाको ही सर्व्वशक्तिमान् बनाया गया है। इन दोनों राज्यशासन प्रणालियोंमेंसे प्रथममें तो राजाकी ओर और दूसरीमें प्रजाकी ओर आकर्षणशक्ति झुकी हुई है, यद्यपि इन दोनोंमेंसे प्रथममें एकमात्र राजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित रख सकता है, उसी प्रकार दूसरी प्रणालीमें यदि प्रजा चाहे तो आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता अपने सद्विचारके द्वारा स्थापित रख सकती है; परन्तु दोनोंही अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णशक्तिवान् होनेके कारण यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वे दोनों सदाके लिये सद्विचारवान् तथा निरपेक्ष रहेंगे; अतः इन दोनों राज्यशासन

प्रणालियोंमें प्रमाद बढ़कर राज्यविप्लव और आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता नष्ट होकर राज्यके नष्टभ्रष्ट होनेकी पूर्ण सम्भावना रहती है। पृथिवीके नाना देशोंके इतिहासोंसे पाठकोंको स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि जिन जिन देशोंमें जब जब स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणाली प्रचलित रही, उस समयमें जबतक उक्त राज्यकुलमें धर्मभीरु प्रजापालक संयमी और न्यायवान् राजा उत्पन्न होते रहे तभी तक उक्त राज्योंमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित रहकर विद्या, बल, धन और धर्म सब कुछ बना रहा, परन्तु राजवंशमेंसे पूर्वकथित गुणोंका नाश होतेही वह राज्य नष्टभ्रष्ट हो गया। यदि हिन्दुस्तानके इतिहासपाठक पठान-साम्राज्यकी प्रथम स्थिति, मध्यम स्थिति और अन्तिम स्थितिपर विचार करेंगे तो वे इस वैज्ञानिक सिद्धांतकी सत्यताको भलीभाँति समझ सकेंगे। इसी प्रकारसे पृथिवीके नाना देशों और विशेषतः यूरोपीय देशोंके।इतिहासपाठकोंको स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि जबतक किसी प्रजातन्त्र राज्यमें प्रजा धार्मिक, न्यायवान्, विद्वान् और नीतिज्ञ बनी रहती है तभी तक उक्त प्रजातन्त्र राज्यमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित रहकर उस देशमें विद्या, बल, धन और धर्मकी स्थिति बनी रहती है। प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली बहुत प्राचीन नहीं है। यही कहा जा सकता है कि यह प्रणाली यूरोपीय रोम-साम्राज्यसे ही निकली हुई है। अभीतक जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके दोष पृथिवीके इतिहासने बार बार प्रमाणित करके दिखाये हैं उस प्रकारसे पृथिवीके इतिहासको अभी तक इस प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीके दोषोंको सिद्ध करके दिखलानेका अवसर नहीं मिला, क्योंकि यह प्रणाली नवीन है। परंतु इतिहासमें इस पूर्वकथित वैज्ञानिक सिद्धान्तकी पुष्टिमें कोई प्रमाण ही नहीं मिल सकता ऐसा नहीं, यूरोपीय रोमन-साम्राज्यके इतिहासको जिन्होंने भलीभाँति पाठ किया है वे स्पष्ट ही जान सकेंगे कि इस प्रकारसे प्रथम रोमराज्यमें प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीकी सृष्टि हुई और जब रोम प्रजा घोर विलासी, निरंकुश, नीतित्यागी और अधार्म्मिक बन गई तो अपने आपही रोमन प्रजातन्त्र महाशक्तिशाली राज्य ही नष्टभ्रष्ट नहीं हुआ, किन्तु उस रोमन जातितकका नाश हो गया। आज दिन यूरोपके उस इटाली देशमें कि जहां रोमनसाम्राज्यका केन्द्र था, जो अब नई इटालियन जाति बनी है उस जातिसे प्राचीन रोमन जातिका कोई भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, वर्तमान यूरोपके राजनीति तरङ्गके घात प्रतिघातसे इटाली देशमें वर्त्तमान इटालियन जातिने थोड़ी ही

शताब्दियोंसे जन्म लिया है; अतः स्वेच्छाचारी राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली और प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणाली दोनोंहीमें स्वभावतः आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्ति दोनोंकी समता स्थापित रहनेके लिये चिरस्थायी अवसर न रहनेके कारण दोनों राज्यशासन प्रणालियाँ भयरहित नहीं हैं इसमें संदेह ही नहीं।

मीमांसा शास्त्रने यह भलीभांति सिद्ध करके दिखा दिया है कि जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अपनी असम्पूर्णताको क्रमशः पूर्ण करके जब मनुष्यदेहमें जीवत्वकी पूर्णताको प्राप्त करता है तो स्वतः ही अपने पिण्डरूपी देहका राजा बन जाता है। अन्यान्य स्वेदज, अण्डज, जरायुज योनियोंमें जीव सम्पूर्ण रूपसे जगत्प्रसविनी प्रकृतिमाताके अधीन रहता है, परंतु मनुष्यदेहमें वह स्वेच्छाचारी और स्वाधीन बन जाता है। अन्यान्य योनियोंके जीवदेहमें पंचकोषोंका पूर्ण विकाश नहीं होता, उद्भिज्ज योनियोंमें केवल अन्नमय कोषका ही पूर्ण विकाश होता है, स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका पूर्ण विकाश, अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोयम कोषोंका पूर्ण विकाश, जरायुजमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषोंका पूर्ण विकाश और क्रमशः मनुष्योंमें पहुँचकर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोषोंका पूर्णविकाश हो जाता है। इसी कारण अन्यान्य निम्नयोनियोंमें पंचकोषोंकी असम्पूर्णताके हेतु जीव पराधीन रहता है, परन्तु मनुष्ययोनिमें पंचकोषोंकी पूर्णताके हेतु स्वाधीन बन जाता है। स्वाधीन होनेसे ही मनुष्य अपने पिण्डका राजा बन जाता है और इसी कारण मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको यथेच्छ कार्य्योंमें ला सकता है। पंचकोषोंकी पूर्णताका अपने पिण्डरूपी देहपर आधिपत्य करना, इन्द्रियोंके चालनमें स्वेच्छाचार, विषयोंके भोगनेमें निरङ्कुशता इत्यादि कारणोंसे जीव मनुष्यशरीरमें इन्द्रियपरायण होकर अधोगामी हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य सब जीवोंमें श्रेष्ठ और उन्नत होनेपर भी पूर्ण शक्तिमान् और स्वेच्छाचारी होनेके कारण इसकी दृष्टि सदा इन्द्रियभोगकी तरफ रहना स्वतःसिद्ध है। वह इन्द्रियभोगका अभिलाषी और इच्छाके पूर्ण करनेमें स्वतन्त्र होनेके कारण उसके अधःपतन होनेकी सम्भावना सदा रहती है। यही कारण है कि यदि मनुष्यके सब कार्य्योंमें, मनुष्य-समाजकी गठनप्रणालीमें और राजधर्म और प्रजा धर्मके नियमित करनेमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापित नहीं रक्खी जायगी तो वह मनुष्य, वह मनुष्य-समाज और वह राज्य क्रमशः अधार्मिक

बहिर्दृष्टिसे सम्पन्न और स्वेच्छाचारी होकर नष्टभ्रष्ट हो जायगा। इसी कारण प्रजातन्त्र राजशासन प्रणालीमें जबतक प्रजा उन्नत, विद्वान्, संयमी और धार्मिक बनी रहती है, तबतक प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीसे क्षति नहीं होती, परन्तु पूर्व्वकथित सृष्टिनियम प्रणालीके अनुसार तथा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समताके अभावसे प्रजा जब विलासी और निरङ्कुश होकर बहिर्दृष्टिसम्पन्न और अधार्मिक बन जाती है तो उसके साथही साथ वह राज्य भी क्रमशः बलहीन होकर नष्टभ्रष्ट हो जाता है। किसी मनुष्य-समाज अथवा राज्यकी स्वास्थ्यरक्षाके लिये विद्या, बल, धन और धर्म्माचारोंकी समान रूपसे आवश्यकता है। इन चारों गुणोंमेंसे जितने गुणोंकी न्यूनता होगी, उतनीही मनुष्यसमाज और राज्यकी जीवनशक्ति दुर्बल समझी जायगी और यह भी निश्चय है कि इन गुणावलियोंमेंसे एक एकके अपव्यवहारसे मनुष्य-समाज या राज्य नष्टभ्रष्ट हो सकता है। उदाहरणके तौरपर समझ सकते हैं कि केवल विद्याको इन्द्रियसुख और लोकनाश आदि अहितकर कार्यों में लगानेसे, बल्कि अपव्यवहारसे, धनको इन्द्रियसुख और अधर्म्ममें लगानेसे और सब कार्योंमें धर्मका लक्ष्य छोड़ देनेसे अथवा इनमेंसे किसी एकके अपव्यवहारसे ही मनुष्यजाति या राज्य अपनी जीवन-शक्तिका नाश कर डालता है इसमें सन्देह ही नहीं। इसी प्रकारसे प्रजातन्त्र राज्यशासन प्रणालीकी प्रजा अपनी स्वाभाविक शक्तियोंके अपलापसे क्रमशः अपने राजानुशासनमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता रखनेमें असमर्थ हो जाती है; ठीक इसी तरह स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र प्रणालीमें स्वेच्छाचारी राजा पूर्वकथित मानवीय दुर्बलताके कारण स्वयं विलासी, स्वेच्छाचारी, आलसी, असंयमी और अधार्मिक होकर अपनी राज्यशासन प्रणालीमें आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता नष्ट कर डालता है। ये सब बातें केवल कल्पना ही नहीं हैं किन्तु विज्ञान सिद्ध, मनुष्य प्रकृतिके अनुकूल और प्राचीन इतिहाससे सप्रमाणित हैं। इस कारण बहुदर्शी अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगीगण इन दोनों राज्यशासन प्रणालियोंको अन्तमें दुःखदायी, असम्पूर्ण, अल्पदिनस्थायी और क्रमशः मनुष्य-समाजको अधार्म्मिक और बहिर्दृष्टिसम्पन्न बनाने वाली समझते हैं।

सूक्ष्म विचारके अनुसार अनुसन्धान करनेसे यही समझा जायगा कि अवशिष्ट दोनों राज्यशासनप्रणाली अर्थात् वर्त्तमान यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली (Limited monarchy) और हिंदुओंकी प्राचीन राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली, दोनों एक ही जातिकी राज्यशासन प्रणाली

हैं। वर्त्तमान युरोपीय राजतन्त्र राज्यशासनप्रणालीमें प्रत्येक प्रजाको अपने राजाकी भक्ति होनेपर भी राजाके अनुशासन कार्य्यको नियमबद्ध करनेके अर्थ अपने देशकी प्रतिनिधि सभा संघटन करनेमें पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। प्रत्येक प्रजा स्वतन्त्र स्वतन्त्र सम्मति देती है, सब प्रजाकी समवेत सम्मतिमें मताधिक्यके विचारसे उस राज्यकी प्रतिनिधि सभाका चुनाव होता है। यूरोपीय राज्यसमूहमें और विशेषतः हमारे ब्रिटिश सम्राट्की राज्यशासन प्रणालिमेंसे एक प्रतिनिधिसभामें केवल ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका चुनाव होता है कि जो वंशानुगत रीतिपर राजसन्मानके अधिकारी हैं, इस शैलीसे जन्मगत और वंशानुगत मर्य्यादाकी भी प्रतिष्ठा रक्खी गई है। येही प्रजाकी दोनों प्रतिनिधिसभाएं राजानुशासनकी व्यवस्था करती हैं, इन्हींमेंसे मन्त्री समाजका संघटन होकर राज्य कार्य्य चलाया जाता है। अतः इस राजानुशासनशैलीमें राजभक्ति, वंशानुगत मर्य्यादा आदिके साथही साथ प्रजाकी यथेष्ट शक्ति विद्यमान है और राजशक्ति और प्रजाशक्ति दोनोंमें आकर्षण शक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेके लिये बहुत कुछ यत्न किया गया है। धर्म्मके सहारेसे ये सब बातें हिन्दुओंकी प्राचीन राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें स्वाभाविक तौरसे उपस्थित थीं। शास्त्रोंके पाठ करनेसे सबको भलीभाँति प्रतीत हो सकेगा कि हिन्दुओंकी ग्राम्यपंचायत प्रणाली, नगर प्रान्त जनपद आदिकी पंचायती व्यवस्था और सम्राट्के मन्त्री समाजगठनकी व्यवस्थामें आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी समताकी व्यवस्था पूर्णरीत्या रक्खी गई है। राजाको साक्षात् भगवान्का अवतार माननेकी रीति जिस प्रकार हिन्दुशास्त्रमें है वैसी पृथिवीके और किसी देशके किसी शास्त्रमें नहीं पाई जाती। राजाको भी प्रजाके लिये स्वार्थत्याग करनेकी और प्रजाको अपने पुत्रवत् प्रतिपालनकरनेकी जिस प्रकारकी आज्ञा हिन्दूधर्म्मशास्त्रमें पाई जाती है वैसी प्रबल आज्ञा और कहीं नहीं पाई जाती। एक ओर प्रजामें राजभक्तिकी पूर्णता और दूसरी ओर राजामें प्रजावात्सल्यकी पूर्णता हिन्दूशास्त्रमें अतुलनीय है। पारिवारिक सदाचाररूपी धर्म्ममें एक गृहस्वामीही हिन्दूशास्त्रके अनुसार एक छोटासा राजा समझा गया है। प्रथम तो पारिवारिक सुप्रबन्ध ही व्यष्टिरूपसे राज्यको सुरक्षित करता है। इस प्रकार धर्म्मरज्जुसे बंधा हुआ पारिवारिक अनुशासन पृथिवीकी किसी जातिमें विद्यमान नहीं है। द्वितीयतः हिन्दूसमाजके सामाजिक नेताके माननेके सदाचार हिन्दू समाजसे शास्त्र द्वारा संरक्षित हैं। इन दोनोंके द्वारा राजानुशासन प्रणालीमें

स्वतः ही बड़ी भारी सहायता मिलती है। प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म इन दोनोंका हिन्दूजातिके साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसके द्वारा एक वर्ण अन्य वर्णका, एक आश्रम अन्य आश्रमका पोषण करता हुआ समाज और राज्यको पूर्णरूपसे आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापन करनेमें सहायता करता है। वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्मकी शैली ऐसा अपूर्व और दैवी विज्ञानसे जकड़ी हुई है कि इसके द्वारा स्वतः ही न प्रजा अपनी मर्य्यादाको छोड़ सकती है और न राजा अपनी मर्य्यादाको छोड़ सकता है। वर्ण गुरु ब्राह्मण जिस प्रकार वर्णोंको नियमबद्ध रखते हैं उसी प्रकार आश्रमगुरु संन्यासी अपने आध्यात्मिक उपदेश द्वारा वर्ण और आश्रम दोनोंमें किसी प्रकारका विप्लव होने नहीं देते और ये दोनों वर्ण और आश्रमकी विभूतियां राजाको अपने राजधर्म्मसे कदापि निरंकुश नहीं होने देतीं और साथ ही साथ ये दोनों प्रजाको अपने धर्म्मपालन करानेके लिये स्वतः ही भारप्राप्त हैं। राजाकी दिनचर्य्या, राजाका आचार, राजाका प्रजापालन, राजाकी मन्त्री-समाज संघटनप्रणाली, राजाकी राजनीति, राजाकी युद्धनीति और राजाकी धर्मनीति आदि जिस प्रकार वेद और शास्त्रके द्वारा सुदृढ़ और सुरक्षित कर दी गई हैं उसके द्वारा आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता स्थापनमें कभी विप्लव हो ही नहीं सकता। यूरोपीय वर्त्तमान राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली और प्राचीन हिन्दु राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली इन दोनोंमें विलक्षणता इतनी ही है कि यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें केवल प्रजाशक्ति अपने विचारके फलको राजाके मुखसे कहलवाकर आकर्षणशक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता चिरस्थायी रखनेका यत्न करती है और प्राचीन हिन्दू राज्यतन्त्र राज्यशासन प्रणालीमें पूर्वकथित सब सिद्धान्त वेदाज्ञा रूपसे धर्मशास्त्र द्वारा धर्म्मत्वरूपेण जकड़े हुए हैं। यूरोपीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणाली मानवीय विचारानुसार परिवर्तनशील है; परन्तु प्राचीन भारतीय राजतन्त्र राज्यशासन प्रणालीके नियम अपरिवर्तनीय और चिरस्थायी हैं, वे सब वेदवत् पालनीय होनेके कारण हिन्दू राजा और प्रजा उनको अपने इहलोक और परलोक दोनों प्रकारके कल्याणके लिये माननेको बाध्य हैं। यद्यपि एक राजानुशासन प्रणाली केवल राजनीतिकी भित्तिपर और दूसरी राजानुशासन प्रणाली केवल धर्मनीतिकी भित्तिपर स्थित है; परन्तु दोनोंमें सादृश्य विद्यमान होनेके कारण भगवान्‌ने भारतकी हिन्दूजातिकी इस अधःपतित दशामें ऐसी ही नीतिज्ञ

यूरोपीय राजानुशासन प्रणालीकी सहायता दी है कि जिसके द्वारा आकर्षण-शक्ति और विकर्षणशक्तिकी समता यथासम्भव स्थापित रहकर हिन्दूजातिके अभ्युदयका मार्ग रुके नहीं ।

आर्यशास्त्रमें राजा और प्रजाके स्वरूप तथा परस्परके प्रति कर्तव्योंके विषयमें अनेक उपदेश किये गये हैं । श्रीभगवान् मनुजीने कहा है:—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुतं भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

संसार अराजक होनेसे सभी लोग भयसे व्याकुल हो जाते हैं इसलिये चराचर जगत्की रक्षाके अर्थ परमात्माने राजाको उत्पन्न किया । इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुवेर इन अष्ट दिक्पालोंके अंशोंसे राजाकी सृष्टि होनेसे राजा निजतेजके द्वारा समस्त प्राणियोंको अभिभूत करते हैं । राजा सूर्यकी तरह चक्षु और मनको उत्तप्त करते हैं इसलिये संसारमें कोई भी राजाके सामने आँख उठाकर देख नहीं सकता । राजा प्रभावमें अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण और महेन्द्रके तुल्य है । राजा बालक होनेपर भी साधारण मनुष्य जानकर उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि वे नररूपधारी महान् देवता हैं । इन सब देवताओंके अंशोंसे राजशरीर उत्पन्न होता है इसलिये इन देवताओंके गुण भी राजामें विद्यमान हैं, यथा—शुक्रनीतिमें:—

जङ्गमस्थावराणां च ह्रीशः स्वतपसा भवेत् ।
भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा ॥

वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः।
धर्मप्रवर्त्तकोऽधर्मनाशकस्तमसो रविः॥
दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद्द दण्डकृद्द यमः॥
अग्निः शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक्॥
पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः।
करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः॥
कोषाणां रक्षणे दक्षः स्यान्निधीनां धनाधिपः॥

राजा इन्द्रकी तरह निज तपस्याके द्वारा स्थावरजङ्गमजीवसे युक्त संसारके अधीश्वर रक्षाकार्यमें दक्ष होते हैं और जिस प्रकार इन्द्र यज्ञभागको ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा भी प्रजाकी सम्पत्तिके भागगृहीता होते हैं। जिस प्रकार वायु गन्धके प्रेरक होते हैं उसी प्रकार राजा भी सदसत्कार्यके प्रेरक होते हैं। जिस प्रकार सूर्यके द्वारा प्रकाशका विस्तार और अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार राजा भी धर्मके प्रवर्त्तक और अधर्मके नाशक होते हैं। जिस प्रकार यमराज पापकर्मके दण्ड दिया करते हैं उसी प्रकार राजा भी दुष्कर्मके दण्डदाता हैं। अग्निदेवकी तरह राजा पवित्र होते हैं और रक्षा करनेके हेतु सकल भागके भोक्ता होते हैं। जिस प्रकार वरुण जलके द्वारा समस्त संसारकी पुष्टि करते हैं उसी प्रकार राजा भी निज धनके द्वारा प्रजाको पुष्ट करते हैं। जिस प्रकार चन्द्रदेव किरणजालके द्वारा जीवगणको आनन्दित करते हैं उसी प्रकार राजा भी निज गुणकर्मके द्वारा प्रजाको आनन्द दान करते हैं। जिस प्रकार कुबेर समस्त रत्नधनोंकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार राजा भी निज कोषकी रक्षामें निपुण हुआ करते हैं। इस प्रकारसे देवताओंके अंशसे संसारकी रक्षाके लिये जगत्पालक श्रीभगवान्‌के प्रतिनिधिरूपसे प्रकट राजा अष्टलोकपालोंकी सद्गुणावलीके द्वारा विभूषित होते हैं। ऊपर कथित दैवी शक्तियोंके केन्द्र होनेसे तत्तत्शक्तिके अनुसार प्रजाके प्रति राजाका क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषयमें भगवान् मनुजी कहते हैं:—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्तकाले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥

राजाको इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वीके वीर्यानुरूप चरित्रका अवलम्बन करना चाहिये। इन्द्रदेव चौमासेमें जिस प्रकार यथेष्ट जल वृष्टि करते हैं उसी प्रकार राजाको इन्द्रका व्रत धारण करके प्रजाके द्वारा प्रार्थित सकल विषयोंकी वृष्टि करनी चाहिये। सूर्यदेव आठ मास तक अपनी किरणोंसे जिस प्रकार जलशोषण धीरे धीरे करते हैं, उसी प्रकार सूर्यका व्रत धारण करके प्रजासे राजाको धीरे धीरे कर ग्रहण करना चाहिये। वायुदेव जिस प्रकार भूतमात्रमें प्रविष्ट होकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार जासूसोंको चारों ओर भेजकर राजाको वायुका व्रत धारणकर राजकार्यका निरीक्षण करना चाहिये। समय आपड़नेपर यम जिस प्रकार प्रिय अथवा अप्रियका विचार नहीं करते, उसी प्रकार राजाको दण्डविधानके समय प्रिय वा अप्रियका नहीं किन्तु न्यायका विचार करना चाहिये। इस व्रतका नाम यमव्रत है। वरुणका पाश बड़ा दृढ़ होता है, राजा भी पापी पुरुषोंको बांधकर वरुणव्रतका पालन करें। पूर्ण चन्द्रके दर्शनसे जिस प्रकार लोग प्रसन्न होते हैं, उस प्रकार जिसकी प्रजा अपने राजाको देख आनन्दित होती है, वह राजा चन्द्रव्रतधारी है। जो राजा पापियोंपर प्रताप दिखानेवाला, नित्य तेजस्वी और दुष्ट सामन्तोंके लिये हिंसाशाली हो, उसे आग्नेय व्रतधारी कहते हैं। पृथ्वी जिस प्रकार सब भूतोंको

समान भावसे धारण करती है, उसी प्रकार जो राजा सकल प्रजाको समान भावसे पालन करता है, उसे पार्थिव व्रतधारी समझना चाहिये। केवल इतना ही नहीं शुक्रनीतिकार और भी लिखते हैं—

पिता माता गुरुर्भ्राता बन्धुर्वैश्रवणो यमः।
नित्यं सप्तगुणैरेषां युक्तो राजा न चाऽन्यथा॥

गुणसाधनसंदक्षः स्वप्रजायाः पिता यथा।
क्षमयित्र्यपराधानां माता पुष्टिविधायिनी॥

हितोपदेष्टा शिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः।
स्वभागोद्धारकृद्भ्राता यथाशास्त्रं पितुर्धनात्॥

आत्मस्त्रीधनगुह्यानां गोप्ता बन्धुस्तु मित्रवत्।
धनदस्तु कुबेरः स्याद्यमः स्याच्च सुदण्डकृत्॥

प्रवृद्धिमति सुराज्ञि निवसन्ति गुणा अमी।
एते सप्तगुणा राज्ञा न हातव्याः कदाचन॥

पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु, कुवेर तथा यम इन सातोंके सद्गुणोंके द्वारा राजा सदा ही युक्त रहते हैं। राजा पिताके सदृश निज प्रजाके सुगुण सम्पादनमें निपुण होते हैं। माताके सदृश अपराधके क्षमा करनेवाले और पोषणकर्त्ता होते हैं। गुरुके सदृश प्रजाके हितोपदेष्टा तथा सुविद्यादानकारी होते हैं। भ्राता जिस प्रकार शास्त्रनियमके अनुसार पिताके धनके अंशभागी होते हैं उसी प्रकार राजा भी प्रजाकी सम्पत्तिके शास्त्रानुसार अंशभाग ग्रहण-कारी होते हैं। जिस प्रकार बन्धु आत्मा, स्त्री, धन तथा गुप्त विषयोंके रक्षक तथा एकप्राण होते हैं उसी प्रकार राजा भी प्रजाके आत्मा, स्त्री, धन तथा गुप्त विषयोंके रक्षक तथा प्रजाके साथ दुःखसुख अनुभव करनेवाले और एक प्राण-तासे युक्त होते हैं। राजा कुवेरकी तरह धनदाता और यमकी तरह उचित दंड-कारी होते हैं। उन्नतिशील धार्मिक राजामें ये सब गुण अवश्य ही विराजमान रहते हैं। ऊपर उक्त सप्त गुणोंसे राजाको कभी च्युत नहीं होना चाहिये। राजामें इन सब गुणोंके होनेसे ही राजा धर्मके साथ संसारकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं जैसा कि बृहस्पतिजीने कहा है—

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥

राजा ह्येवाऽखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥
यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥
विमथ्याऽतिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नाऽत्र संशयः ॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥
हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥
पतेद्बहुविधं शास्त्रं बहुधा धर्मचारिषु ।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद् यदि राजा न पालयेत् ॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥
अनयाः सम्प्रवर्त्तेरन् भवेद्व वर्णसंकरः ।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ।
विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥
धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृह्णन्ति चाऽन्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥
यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथक्विधैः ।
युक्ताश्चाऽधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥
यदा राजा धुरं श्रेष्ठमादाय वहति प्रजाः ।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥

संसारमें धर्म-व्यवस्थाके ठीक रखनेके विषयमें राजा ही कारण हैं। प्रजागण राजाके ही भयसे परस्परका अनिष्ट नहीं करते हैं। मर्यादाविहीन, परस्त्रीगामी मनुष्योंको दण्ड द्वारा प्रकृतिस्थ करके राजा ही धर्म और शान्तिकी

रक्षा करते हैं। जिस प्रकार चन्द्रसूर्यके अभावसे समस्त जीव घोर अन्धकारमें निमग्न हो जाते हैं, कोई किसीको नजर नहीं आता है, जिस प्रकार अल्पजलमें मत्स्यगण तथा हिंस्रभयरहित स्थानमें पक्षिगण यथेच्छ परस्परकी हिंसा करके शीघ्रही सम्पूर्ण नाशको प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार विना राजाके समस्त प्रजा नष्ट हो जाती है रक्षकविहीन पशुओंकी तरह घोर अन्धकारमें मग्न हो जाती है। बलवान् दुर्बलपर आक्रमण करके उसके गृहादि सब कुछ छीन लेते हैं और रक्षार्थ यत्न करनेपर उसे मार डालते हैं। धर्मपरायण सज्जनोंपर अस्त्राघात होता है और अधार्मिक जन अनायास सुख भोग करते हैं। माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु इनपर अत्याचार होता है, वे अत्यन्त कष्टको भोग करते हैं। राजनीतिके नाश होनेसे लोग यथेच्छ पापादिमें रत होते हैं जिससे वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होती है और राज्यमें दुर्भिक्षका प्रबल आक्रमण हो जाता है। राजा अपनी महती शक्तिके द्वारा इन सब दोषोंका निराकरण करके राज्यमें शान्ति विधान करते हैं। राजाके द्वारा रक्षित होकर समस्त प्रजा निर्भयचित्त हो गृहद्वार उन्मुक्त रखकर ही सो जाती है। सबलोग हिंसा छोड़ धर्मका आश्रय करके परस्परके प्रति कृपापरायण होते हैं। द्विजगण महायज्ञका अनुष्ठान तथा सद्विद्याका अध्ययन करते हैं। इस प्रकारसे राजा राज्यभाव ग्रहणपूर्वक जब धर्म और नीतिके साथ प्रजापालन करते हैं तब उनके प्रतापसे सर्वत्र शान्ति और आनन्द विराजमान रहता है। संसारमें इस प्रकार आनन्द तथा शान्तिकी प्रतिष्ठा करनेके लिये श्रीभगवान्‌ने राजाको एक अपूर्व वस्तु प्रदान की है जिसका वर्णन मनुजीने निम्नलिखित रूपसे किया है।

अस्याऽर्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥
तद्देशकालौ शक्तिञ्च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥
दण्डः शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाऽभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥
यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवाऽपक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥
अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वावलिह्याद्धविस्तथा ।
साम्यञ्च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्त्तेताऽधरोत्तरम् ॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ।
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्द दण्डस्य विभ्रमात् ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥

राजाके हितार्थ ही परमात्माने आदिकालमें सकल-प्राणि रक्षक, धर्म-स्वरूप, आत्मज और ब्रह्मतेजोमय दण्डकी सृष्टि की थी। इसी दण्डके भयसे ही चराचर समस्त जगत् अपने अपने भोगमें प्रतिष्ठित है और कोई भी धर्मसे विचलित नहीं हो सकता है। देश, काल, शक्ति तथा विद्या इन चारोंको यथार्थ-रूपसे जांच करके अन्यायकारीके प्रति राजाको योग्य दण्ड विधान करना चाहिये। वास्तवमें दण्ड ही राजा, दण्डही पुरुष, दण्डही नेता तथा शासन-कर्त्ता है। महर्षिगणने दण्डकोही चार आश्रम तथा धर्मके लिये जिम्मेवार कहा है। दण्ड ही समस्त प्रजापर शासन करता है, दण्डही प्रजाकी रक्षा करता है, समस्त संसारके सोनेके समय एकमात्र दण्डही जाग्रत रहता है, पण्डितोंने दण्डको ही सकल धर्मका मूल कहा है। यही दण्ड विचारपूर्वक धारण होनेसे प्रजारञ्जन कर सकता है और अन्यथा प्रजाओंका नाश करता है। यदि राजा सचेष्ट होकर दण्डयोग्यके प्रति दण्डदान न करते तो बलवान् लोग दुर्बलको शूलपर चढ़ी हुई मछलीकी तरह दुःख देते, यज्ञीय चरु काक भक्षण कर लेता, मंत्रपूत हवि श्वान भक्षण कर लेता, सभी अपने अधिकारसे च्युत हो जाते और नीच जाति श्रेष्ठ जातिको पराभूत कर देती। केवल दण्डके भयसे ही मनुष्यगण न्यायपथमें रहते हैं क्योंकि स्वभावतः पवित्र लोग संसारमें दुर्लभ हैं। दण्डकेही

भयसे समस्त जगत् निज निज भोग्य भोगनेमें समर्थ हैं। देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, विहङ्ग और सर्प ये सब केवल दण्डके भयसे ही कर्त्तव्य पक्षमें रहते हैं। अन्यायरूपसे दण्ड देनेपर अथवा दण्डके अभावसे ब्राह्मणादि सभी वर्ण दुष्ट होकर मर्यादाका अतिक्रमण करते हैं और चोरी आदिके कारण सबके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न होता है। जहांपर श्यामवर्ण तथा लालनेत्र दण्ड, पापनाशके लिये भ्रमण करता है और जहांपर न्यायानुसार दण्डका विधान होता है। वहांपर प्रजा कभी दुःख नहीं पाती है। इस प्रकार देवांशसे उत्पन्न, तेजस्वी, न्यायदण्ड-दाता, प्रजापालक राजाके प्रति प्रजाका क्या क्या कर्त्तव्य है सो आर्यशास्त्रमें वर्णित किया गया है, यथा–मनुसंहितामें:—

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥
तं यस्तु द्वेष्टि सम्मोहात् स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः॥
तास्माद्ध धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टञ्चाऽप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥

जिनके प्रसन्न रहनेसे महती श्रीका लाभ होता है, जिनके पराक्रमसे विजयलाभ होता है और जिनका क्रोध मृत्युका निवासस्थान है ऐसे राजा निश्चय ही सर्वतेजोमय हैं। जो मनुष्य मोहवश राजाके साथ द्वेष करता है वह निश्चय ही विनाशको प्राप्त होता है। राजा उसके नाशके लिये शीघ्र ही मनःसंयोग करते हैं। अतः शिष्टपालन तथा दुष्टदमनके वास्ते राजा जो कुछ धर्मनियम संस्थापित करते हैं उनका उल्लङ्घन करना प्रजाके लिये कदापि कर्त्त-व्य नहीं है। राजाके प्रति प्रजाके कर्त्तव्यके विषयमें भीष्मपितामहजीने भी महाभारतमें बहुत कुछ उपदेश किया है, यथा–शान्तिपर्वमें:—

यस्याऽभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत्॥

यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाऽप्यनुचिन्तयेत्।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्याऽपि नरकं व्रजेत्॥

नास्याऽपवादे स्थातव्यं दक्षेणाऽक्लिष्टकर्मणा।
न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात्॥

तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत् ।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥

जिनके न रहनेसे सर्वत्र जीवोंका अभाव और रहनेसे जीवोंकी स्थिति रहती है ऐसे राजाकी कौन नहीं पूजा करेगा ? जो मनुष्य ऐसे राजाके लिये मनसे भी पापचिंता करेगा वह निश्चय ही इहलोकमें क्लेशयुक्त और परलोकमें नरकमें जायगा। बुद्धिमान् पुरुषको राजाके किसी प्रकारके अपवादमें भी संश्लिष्ट नहीं रहना चाहिये। उनकी इच्छाके विपरीत आचरण करनेसे प्रजाको कभी सुख नहीं प्राप्त होता है। उनकी सम्पत्तिके प्रति कदापि लोभ नहीं करना चाहिये। राजधन हरणसे यमराजकी तरह डरना चाहिये। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें राजाके प्रति प्रजाका कर्त्तव्य बताया गया है। राजभक्त प्रजा इन धर्मोंका अनुष्ठान अकपट चित्तसे करनेपर प्रजाधर्मपालन द्वारा अवश्य ही इहलोक और परलोकमें सुख शान्तिको प्राप्त करेगी।

अतः पर संक्षेपसे राजधर्मका वर्णन किया जाता है। मन्वादि शास्त्रमें राजधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है जो उन ग्रन्थोंके पाठ करनेसे परिज्ञात हो सकेगा। यहाँपर संक्षेपसे प्रधान प्रधान विषयोंका उल्लेख किया जाता है। मनुजीने लिखा हैः—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि सभी राजाके द्वारा होते हैं; अतः राजाको युग कह सकते हैं। राजा जब प्रजाकी श्रीवृद्धिके प्रति आँखें मूँद लेता है, तब कलि, जब वह राजकार्यमें जागृत रहता है तब द्वापर, जब राजकर्म अनुष्ठानमें अवस्थित रहता है तब त्रेता और जब यथाशास्त्र कार्यानुष्ठान करते हुए स्वच्छन्द विचरण करता है तब सत्ययुग होता है। महाभारतके शांतिपर्वमें राजाके साथ कालका अपूर्व सम्बन्ध बताया गया है, यथाः—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम् ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्त्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्त्तते ॥

ततः कृतयुगे धर्मो नाऽधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां नाऽधर्मे रमते मनः ॥

योगक्षेमाः प्रवर्त्तन्ते प्रजानां नाऽत्र संशयः ।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणाञ्च स्वरवर्णमनांसि च ॥

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाऽल्पायुर्दृश्यते क्वचित् ।
विधवा न भवत्यत्र कृपणो न तु जायते ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥

नाऽधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् ।
इति कार्त्तयुगानेतान्धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्त्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्त्तते ॥

अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्त्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥

अर्द्धं त्यक्त्वा यदा राजा नित्यार्थमनुवर्त्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्त्तते ॥

अशुभस्य यदा त्वर्द्धं द्वावंशावनुवर्त्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्द्धफला तथा ॥

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्त्तेत तदा कलिः ॥

कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥

शूद्रा भैक्ष्येण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्त्तते वर्णसंकरः ॥

वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥

ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥
विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद्व वर्षति पर्जन्यः क्वचित् शस्यं प्ररोहति ॥
रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः ।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग्दण्डनीतिसमाहितः ॥
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नाऽत्यन्तमश्नुते ।
प्रवर्त्तनाद्द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्त्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥
ततो वसति दुष्कर्म्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्त्तिं पापं च विन्दति ॥

काल राजाका कारण है अथवा राजा कालका कारण है इस प्रकार सन्देह होनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि राजा ही कालका कारण है। जिस समय राजा पूर्ण धर्मानुसार दण्डनीतिके द्वारा राज्य पालन करते हैं उसी समय कालकी प्रेरणासे सत्ययुगका उदय होता है। सत्ययुगके उदय होनेसे सभी वर्णोंकी प्रजाओंका मन धर्मपर होता है और अधर्मका नाम भी नहीं रहता है। प्रजाओंका योगक्षेम निःसन्देह निर्वाह होता है और सभी गुण वेदानुकूल होते हैं समस्त ऋतु सुखमय तथा रोगरहित होते हैं और मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन प्रसन्नतासे युक्त रहते हैं। देशमें किसी प्रकारकी व्याधि और अल्पायु नहीं देखा जाता है, नारी विधवा नहीं होती है और कृपणता भी किसीमें नहीं होती है। पृथिवी कर्षण किये बिना ही शस्य प्रदान करती है और औषधिसमूह भी स्वतः उत्पन्न होते हैं। त्वक्, पत्र, फल तथा मूल वीर्यवान् होते हैं। उस समय कहीं भी अधर्म नहीं होता है और सर्वत्र केवल धर्म ही रहता है। कृतयुगके ये ही सब लक्षण जानने चाहिये। जिस समय राजा दण्डनीतिके तीन अंशका पालन करते हैं और चतुर्थांशका परित्याग करते हैं उस समय त्रेता युगका उदय होता है। त्रेतायुगके उदय होनेसे एक अंश अशुभ और तीन अंश शुभ रहता है। पृथिवी और औषधियां कर्षणके द्वारा ही फल प्रसव करती हैं।

जिस समय राजा दण्डनीतिके दो अंशका त्याग कर प्रजापालन करते हैं उस समय द्वापर युगका उदय होता है। उस समय दो भाग शुभ और दो भाग अशुभ होता है और पृथिवी कर्षण करनेपर भी अर्द्ध फलको उत्पन्न करती है। जिस समय सम्पूर्ण दण्डनीतिको त्याग करके राजा प्रजाको कष्ट दिया करते हैं उस समय कलियुगका उदय होता है। कलियुगमें अधर्म बहुत होता है। कहींपर धर्म नहीं दिखता है। समस्त वर्णोंका मन धर्मसे च्युत हो जाता है। उस समय शूद्र भिक्षावृत्ति द्वारा और ब्राह्मण सेवावृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, सर्वत्र योगक्षेमका नाश तथा वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होती है। समस्त वैदिक कर्म गुणहीन हो जाता है, ऋतुओंका ठीक ठीक सुखकर उदय नहीं होता है और सर्वत्र रोग फैलता है। मनुष्योंका स्वर, वर्ण और मन दुर्बल हो जाता है, व्याधिकी उत्पत्ति होती है और लोग अल्पायु होकर मर जाते हैं। नारी पतिहीना और प्रजा नृशंस हो जाती है, वर्षा और शस्यका अभाव हो जाता है और समस्त रसोंका क्षय हो जाता है, इस प्रकारसे राजा ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगके कारण होते हैं। सत्ययुगकर्त्ता राजाको अक्षय स्वर्ग मिलता है, त्रेतायुगकर्त्ता राजाको सक्षय स्वर्ग लाभ होता है। द्वापर युगकर्त्ता राजाको कर्मानुसार फल मिलता है और कलियुगकर्त्ता राजा विशेष पापभागी होते हैं। एतादृश दुष्कर्मी राजा अनन्तकाल तक नरकमें वास करता है और अकीर्ति तथा पाप दोनों ही प्राप्त करता है। अतः जब राजाके राज्यशासनपर ही धर्माधर्म तथा युगपरिवर्त्तन आदि समस्त ही निर्भर करता है तो उनका कर्त्तव्य है कि अपनी जिम्मेवारीको समझ कर धर्मानुकूल दण्डनीतिका प्रयोग करें अन्यथा वे स्वयं भी राजधर्मसे च्युत होकर पापपङ्कमें निमग्न होंगे और प्रजाको भी अनन्त दुःख सागरमें निमग्न करेंगे। महाभारतमें लिखा है—

लोकरञ्जनमेवाऽत्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चाऽऽर्जवम्॥
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः।
धर्मे चाऽर्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः॥
अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव॥
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥

सत्यरक्षा, व्यवहारमें सरलता और प्रजारञ्जन ही राजाका सनातनधर्म है। आत्मवान्, क्रोधहीन, शास्त्रार्थके द्वारा निश्चय करनेवाले, धर्मार्थकाममोक्षमें सदा तत्पर, व्यसनदोषशून्य, मृदुदण्ड देनेवाले और जितेन्द्रिय राजा सभीके विश्वासपात्र होते हैं। पितृगृहमें पुत्रकी तरह जिनके राज्यमें प्रजा निर्भर होकर विचरण कर सकती है वही राजा सर्वश्रेष्ठ है। राजधर्मके विषयमें महाभारतमें और भी कहा है—

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नाऽमात्यानवमन्यते।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते॥
संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्ब्बलान्नरान्।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्मजायते॥
यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते॥
यदा सारणिकां राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते॥
यदाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते॥
कृपणाऽनाथवृद्धानां यदाऽश्रु परिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते॥
विवर्द्धयति मित्राणि तथाऽरींश्चाऽपि कर्षति।
सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते॥
सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते॥

जब अपनी सम्पत्ति प्रजाओंमें विभक्त करके राजा भोग करते हैं, मन्त्रियोंकी अवमानना नहीं करते हैं और बलवान् दर्पदुष्ट पुरुषोंका निधन करते हैं तभी राजधर्मका यथार्थ पालन होता है। राजाके दुर्बल पुरुषोंकी सहायता करनेसे राज्यमें बलवान् जन उत्पन्न होते हैं, यही राजाका धर्म है। जब राजा राष्ट्ररक्षा, दस्युदमन और संग्राममें विजय लाभ करते हैं तभी राजधर्मका पालन होता है। जब राजा सम्पत्ति-विस्तारकारी वणिक्जनोंकी पुत्रवत् रक्षा करते हैं और किसी प्रकारसे भी मर्यादा भंग नहीं करते हैं तभी राजधर्म-पालन

यथार्थ रूपसे होता है। जब राजा काम और द्वेषको त्याग करके श्रद्धाके साथ दक्षिणायुक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं तभी राजधर्मका पूरा पालन होता है। जब राजा दीन, अनाथ और वृद्धोंका दुःखाश्रु मार्जन करते हैं और समस्त प्रजाओंका आनन्द वर्द्धन करते हैं तभी यथार्थ राजधर्म होता है। मित्रोंकी वृद्धि, शत्रुओंका नाश और साधुजनोंकी पूजाके द्वारा राजधर्मका पालन होता है। प्रीतिके साथ सत्यपालन, नित्य भूमिदान और अतिथि और भृत्योंके प्रतिपालन द्वारा यथार्थ राजधर्मका अनुष्ठान होता है। धर्मके साथ प्रजा-वृद्धिका अमोघ सम्बन्ध रहनेसे राजाके लिये धर्म तथा धर्मयोनि ब्राह्मणोंका प्रतिपालन परम राजधर्मरूपसे महाभारतमें बताया गया है, यथाः—

धर्मे वर्द्धति वर्द्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद्ध धर्मं न लोपयेत्॥
प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात् प्रवर्त्तयेद्ध धर्मं प्रजाऽनुग्रहकारणात्॥
धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात्तान् पूजयेत् सदा।
ब्राह्मणानाञ्च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी॥
ब्रह्मक्षत्त्रो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रु पापञ्च वर्षति॥
ब्रह्म वर्द्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्द्धते।
एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा॥

धर्मको वृद्धिसे भूतोंकी वृद्धि और धर्मके ह्राससे भूतोंका नाश होता है इसलिये धर्मको लुप्त नहीं करना चाहिये। भूतोंकी पुष्टिके लिये ही श्रीभगवान्ने धर्मका प्रकाश किया है। अतः प्रजानुग्रह-हेतु राजाको अपने राज्यमें धर्मकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये। शास्त्रमें ब्राह्मण ही धर्मयोनि कहा गया है इसलिये द्वेषशून्य होकर राजाको ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मक्षत्त्रकी रक्षाके द्वारा मधु और स्वर्णकी वर्षा होती है और अरक्षासे अश्रु और पापकी वर्षा होती है। ब्राह्मण क्षत्रियकी पुष्टि करते हैं। क्षत्रिय भी ब्राह्मणकी पुष्टि करते हैं। दोनोंमें परस्पर सम्बन्ध विद्यमान है इसलिये राजाका कर्त्तव्य है कि विशेष रूपसे ब्राह्मणोंकी सेवा करे। यदि राजा धर्म और उसके मूलधन ब्राह्मणोंकी सेवा न करेंगे तो इसका क्या फल होगा सो महाभारतमें वर्णित हैः—

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः सञ्जायते महान्।
अधर्माः सम्प्रवर्द्धन्ते प्रजासङ्करकारकाः॥
अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाऽप्याविशेत् प्रजाः॥
नक्षत्र्याण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते।
उत्पाताश्चाऽत्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः॥
अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चाऽपि न रक्षति।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति॥

क्षत्रिय राजाके प्रमत्त होनेसे महान् दोष उत्पन्न होता है। अधर्मकी वृद्धि होती है और प्रजाओंमें वर्णसङ्करता फैलती है। असमयमें शीत और शीतके समय शीत नहीं होता है, अनावृष्टि, अतिवृष्टि और प्रजाओंमें व्याधि उत्पन्न होती है। अनिष्टकर ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदिका अत्याचार देखनेमें आता है जिससे राज्यनाशकी शङ्का होने लगती है। इस प्रकारसे अरक्षितात्मा जो राजा प्रजाकी भी रक्षा नहीं करते हैं उनका प्रजा-क्षय होता है और तदनन्तर वे भी नाशको प्राप्त होते हैं। राजधर्म सम्बन्धमें महर्षि याज्ञवल्क्यजीने लिखा हैः—

नाऽतः परतरो धर्मो नृपाणां यदुपार्जितम्।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाऽभयं तथा॥
य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा॥
पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम्।
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्॥
तवाऽहं वादिनं क्लीवं निर्हेतिं परसङ्गतम्।
न हन्याद्व विनिवृत्तञ्च युद्धप्रेक्षणकादिकम्॥
ब्राह्मणेषु शमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता॥
पुण्यात् षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानां परिपालनम्॥
अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित् किल्विषं प्रजाः।
तस्माच्च नृपतेरर्द्धं यस्माद्ग गृह्णात्यसौ करान्॥

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वकोषं योऽभिवर्द्धयेत् ।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥
प्रजापीडनसन्तापसमुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणान् नाऽदग्ध्वा विनिवर्त्तते ॥

ब्राह्मणोंको धनदान और प्रजाओंको अभयदानसे अधिक उत्तम धर्म राजाओंके लिये और कुछ भी नहीं है। राज्यरक्षाके लिये सम्मुख संग्राममें निहत राजा योगियोंकी तरह ऊर्द्ध्व गति लाभ करते हैं। निज सैन्योंके युद्धमें विमुख होनेपर भी जो राजा शत्रुओंके अभिमुखीन होते हैं उनको प्रतिपदक्षेपमें अश्वमेध यज्ञका फल लाभ होता है। मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहनेवाले, क्लीव, निरस्त्र, अन्यके साथ युद्धमें रत, युद्धविमुख, युद्धदर्शी और चारणादिको युद्धके समय आघात नहीं करना चाहिये। राजा ब्राह्मणगणके प्रति क्षमा, प्रेमपात्रके प्रति सरलता शत्रुके प्रति क्रोध और सेवक और प्रजाओंके प्रति पिताकी तरह आचरण करेंगे। न्यायानुसार प्रजापालनकारी राजाको प्रजाके पुण्यका षष्ठांश प्राप्त होता है क्योंकि प्रजापालन भूमि आदि समस्त वस्तुओंके दानसे अधिक फलका देनेवाला है। प्रजापालनाभावसे अरक्षित प्रजागण जो कुछ असत्कार्य करते हैं, राजा उसके अर्द्धांशके भागी होते हैं क्योंकि रक्षाहेतु ही राजा प्रजासे कर ग्रहण करते हैं अन्याय पूर्वक राज्यसे अर्थसंग्रह करके जो राजा निज राजकोष वृद्धि करते हैं, वे शीघ्र ही श्रीभ्रष्ट होकर सबान्धव नाशको प्राप्त होते हैं। प्रजापीडनके सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राजाका वंश, लक्ष्मी तथा प्राण पर्यन्त दग्ध न करके निवृत्त नहीं होती है। मनुसंहिताके सप्तम और अष्टम अध्यायमें राजधर्मके विषयमें बहुत कुछ वर्णन किया गया है जिसमेंसे कुछ कुछ प्रमाण नीचे उद्धृत किये जाते हैंः—

तस्याऽऽहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामाऽर्थकोविदम् ॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाऽभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥
ततो दुर्गञ्च राष्ट्रञ्च लोकञ्च सचराचरम् ।
अन्तरीक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ।
स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु ।

सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥
एव वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनाऽपि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥

महर्षियोंने सत्यवादी, विचारवान्, प्राज्ञ और धर्मार्थकाम-तत्त्ववित् राजाको ही यथार्थ दण्डदानकर्त्ता कहा है। विचारपूर्वक दण्डविधान करनेसे धर्मार्थकामरूप त्रिवर्गोंकी वृद्धि होती है और क्षुद्र, कामात्मा तथा विषय-स्वभावयुक्त राजा दण्डापराधसे स्वयं ही निधन प्राप्त होते हैं। अन्याय दण्ड राज-दुर्ग, स्थावर अस्थावर सम्पत्ति, समस्त राज्य और ऊर्द्ध्वलोकके ऋषि और देवताओंको भी दुःख प्रदान करता है। अपने राज्यमें न्यायानुसार दण्डविधान, शत्रुको कठिनदण्डदान, आत्मीय स्वजनोंके प्रति सरल व्यवहार और ब्राह्मणोंके प्रति क्षमाशीलता, इन सब सद्गुणोंसे विभूषित नृपति यदि उञ्छ वृत्तिके द्वारा भी जीविका निर्वाह करें तथापि उनका यश जलमें तैलकी बिन्दुकी नाईं विस्तारको प्राप्त हो जाता है।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद्दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चाऽऽत्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः ॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥
दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्षाऽसूयाऽर्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजञ्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥

त्रिवेदके ज्ञाता ब्राह्मणोंसे वेदत्रय शिक्षा और अर्थशास्त्रज्ञ पण्डितोंसे दण्डनीतिकी शिक्षा, तार्किक और वैदान्तिकोंसे तर्कशास्त्र और ब्रह्मविद्याकी शिक्षा और कृषि वाणिज्य और पशुपालनादि द्वारा धनोपार्जनकी शिक्षा राजा अवश्य प्राप्त करें। इन्द्रियोंपर आधिपत्य लाभ करनेके लिये राजाको सर्वदा

सचेष्ट रहना चाहिये; क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही अपनी प्रजाओंको वशीभूत रख सकते हैं। दशविध कामज व्यसन और अष्टविध क्रोधज व्यसनका राजाको अवश्य ही त्याग करना चाहिये। कामज व्यसनमें आसक्त नृपति धर्म और अर्थसे वञ्चित होते हैं और क्रोधज व्यसनमें आसक्त नृपपि प्राणसे भी वञ्चित हो सकते हैं। मृगया, पाशक्रीड़ा, दिवानिद्रा, परदोषकथन, स्त्रियोंमें आसक्ति, मदजनितमत्तता, वाद्य, नृत्य, गीत और वृथा भ्रमण ये दश दोष कामज हैं। पिशुनता (वृथा दोष कल्पना), दुःसाहस, द्रोह, ईर्षा, द्वेष, परधनहरण, कठिन वाक्य और कठिन दण्ड प्रदान, ये आठ क्रोधज दोष हैं।

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाऽष्टौ च प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥

पुरुषानुक्रमसे राजकर्मचारी, वेदादि धर्मशास्त्रमें पारदर्शी, स्वयं शूर, युद्ध विद्यामें निपुण, सत्कुलोद्भव और परीक्षित, सात या आठ मन्त्री राजाके पास रहने चाहियें। सन्धि, विग्रह, चतुर्विध सेनाओंका पोषण, राजधनवर्द्धन, प्रजारक्षण और उपार्जित अर्थका सत्पात्रमें दान, इन सब विषयोंमें मन्त्रियोंके साथ राजाको सत्परामर्श करना चाहिये।

समोत्तमाधमे राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥
संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानाञ्चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥
यच्चाऽस्य सुकृतं किञ्चिदमुत्राऽर्थमुपार्जितम्।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥

प्रजापालक राजा समबल, हीनबल अथवा अधिकबल विपक्ष नरपति द्वारा युद्धके लिये बुलाये जानेपर, युद्ध ही क्षत्रियका धर्म है इस

वाक्यको स्मरण करके कभी युद्धसे विरत नहीं होंगे। ब्राह्मणसेवा, प्रजापालन और संग्राममें विमुख न होना ये सब राजाके परम श्रेयस्कर धर्म हैं। रणक्षेत्रमें यथाशक्ति परस्पर हननकारी अविमुख युद्धनिरत नरपतिगण देहान्तमें स्वर्गलाभ करते हैं। रणमें भयभीत और रण छोड़कर पलायनोद्यत योद्धाके शत्रुहस्तसे निधन प्राप्त होनेपर वह उसके प्रतिपालक नरपतिके समस्त पाप-राशिको प्राप्त करता है और उसका परलोकलाभ तथा समस्त पुण्य उसके भर्त्ताको प्राप्त होता है।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्राऽनुसार्यरेः॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्चपराक्रमेत्।
वृकवच्चाऽवलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः
तानानयेद्वशं सर्वान् सामाऽऽदिभिरुपक्रमैः॥

सर्वदा सेनाओंको सुशिक्षाप्रदान करना, सदा पौरुष दिखाना, गोपनीय विषयोंको सदा गोपन करना और शत्रुओंका छिद्रान्वेषण करना राजाका कर्त्तव्य है। बककी तरह अर्थचिंता, सिंहकी तरह पराक्रम प्रदर्शन, व्याघ्रकी तरह शिकार और दुर्बल होनेपर शशककी तरह पलायन करना चाहिये। इस प्रकारसे विजयके लिये सर्वथा प्रस्तुत राजाका जो विरुद्धाचरण करेगा उसे साम, दाम भेद, दण्ड, इन चतुर्विध उपायोंसे वशीभूत करना राजाका कर्त्तव्य है।

नोच्छिद्यादात्मनो मूलं परेषाञ्चाऽतितृष्णया।
उच्छिदन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमांगतिम्॥

प्रजाओंके प्रति अति स्नेहवश कुछ भी कर न लेकर अपना मूल-च्छेदन अथवा अतितृष्णासे प्रजाका सर्वस्व ग्रहण करके उनका मूलच्छेदन करना राजाका कर्त्तव्य नहीं है। कार्य्यके अनुरोधसे राजाको कभी मृदु और कभी तीव्र होना चाहिये। इस प्रकार मृदु और तीव्र भावधारी राजा सभीके प्रिय

होते हैं। इस प्रकारसे शास्त्रनिर्दिष्ट समस्त राजधर्मका अनुष्ठान करनेसे राजा सर्वपापनिर्मुक्त होकर अन्तमें परम गतिको प्राप्त करते हैं।

यही संक्षेपसे राजा और प्रजाधर्मका वर्णन किया गया। इसका विस्तृत वर्णन मन्वादि शास्त्रमें देखना उचित है।

तृतीय काण्डकी सप्तम शाखा समाप्त हुई।

प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म ।

विशेष धर्म्मके अनेक अङ्गोंमेंसे प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म ये दोनों बहुत ही आवश्यकीय अङ्ग हैं। इन दोनोंके रहस्यको समझे बिना विशेष धर्म्मका स्वरूप ठीक ठीक समझमें नहीं आ सकता। सृष्टिप्रवाहके द्वन्द्व मूलक होनेके कारण जिस प्रकार सृष्टिके सब स्थूल और सूक्ष्म अङ्ग द्वन्द्व स्वरूप होकर दो दो रूपको धारण करते हैं उसी प्रकार प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्मको भी समझना उचित है। जिस प्रकार सूक्ष्म राजमें क्लिष्ट-वृत्ति और अक्लिष्टवृत्ति, पाप और पुण्य, सुख और दुःख, स्वर्गलोक और नरक लोक, सप्त अधोलोक और सप्त ऊर्द्ध्वलोक, प्रेतलोक और पितृलोक, असुर और देवता आदि द्वन्द मूलकसृष्टि है उसी प्रकार स्थूलराज्यमें भी उजेला और अन्धेरा, दिन और रात, दुःखदायी विषय और सुखदायी विषय, शत्रु और मित्र, द्वेषमूलक पदार्थ और रागमूलक पदार्थ, स्त्रीसृष्टिप्रवाह और पुरुषसृष्टि-प्रवाह, सात्त्विक सृष्टिप्रवाह, यथा—गाय घोड़ा आदि, तामसिक सृष्टिप्रवाह, यथा-भैंस गधा आदि, उद्भिज्ज आदिकी विषमयी प्रकृति और अमृतमयी प्रकृति आदि द्वन्द्वमूलक सृष्टि है; ठीक इसी शैली पर अनादि अनन्त रूपधारी धर्म्म रूपी महासमुद्रमें प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति धर्म्मकी दो धाराएँ अखिल मानव सृष्टिकी कल्याणप्रद हैं।

प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्मकी क्रियाशैलीके अनुसार ये दोनों द्वन्द्वमूलक होनेपर भी लक्ष्यके अनुसार दोनों ही एक हैं। संसारकी अन्यान्य सृष्टि जिस प्रकार एक दूसरेसे विरुद्ध पथगामी होनेके कारण एक दूसरेसे बिल्कुल विरुद्ध है, फलके विचारसे प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म वैसे नहीं हैं। यद्यपि प्रवृत्तिधर्म्मकी क्रिया निवृत्तिधर्म्मकी क्रियासे एक वारही विरुद्ध है, यद्यपि प्रवृत्तिधर्म्मके साधकके आचारसे निवृत्ति धर्म्मके साधकका आचार एक वार ही विपरीत प्रतीत होता है और यद्यपि प्रवृत्तिधर्म्मके अधिकारी और निवृत्तिधर्म्मके अधिकारी इन दोनोंके अन्तः करणका भाव एक दूसरेसे विरुद्ध रहता है; परन्तु दोनों प्रकारके धार्म्मिक अन्तमें एक ही लक्ष्य स्थलपर पहुँच जाते हैं, अवश्य दोनोंकी गतिमें और दोनोंके देशकालमें बहुत अन्तर है, परन्तु दोनोंका गन्तव्य स्थल एकही है। प्रवृत्तिमार्गका अधिकारी धार्म्मिक कामनाको मुख्य रख

कर आचार्य्य गुरु और शास्त्र आदिके उपदेशके अनुसार धीरे धीरे चलता हुआ भावशुद्धिपूर्वक अपनी वासनाओंको घटाता हुआ धर्मकी अलौकिक और अपरिमित शक्तिके बलसे अध्यात्म राज्यमें पहुंच कर बहु देश कालमें फिरता हुआ पर वैराग्य भूमिमें पहुंच कर मुक्तिका अधिकारी हो जाता है और निवृत्तिधर्म्मका अधिकारी विषयवैराग्यशील धार्मिक व्यक्ति पहले हीसे कामना-त्यागका अभ्यास करता हुआ विषय भोगसे मुँह फिरा कर शीघ्रही अध्यात्म राज्यमें पहुँच कर पर वैराग्यका अधिकारी होता हुआ मुक्त हो जाता है। धर्मत्वरूपसे धर्म्म व्यापक होनेसे वह भगवच्छक्तिरूप धर्म्म जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्म्मपथगामी पथिकको उन्नत करता जाता है उसी प्रकार निवृत्तिमार्गके पथिकको भी उन्नत करता जाता है, पहुंचते हैं दोनों एक ही मुक्ति भूमिपर, केवल भेद इतना ही है कि दोनोंकी गति और दोनोंके मार्ग अलग अलग हैं। लक्ष्यके विचारसे दोनों ही धर्ममार्ग होनेपर भी साधकके अधिकार, साधकके अन्तःकरणका भाव और साधकके आचारके सम्बन्धसे दोनों एक दूसरेसे विरुद्ध होनेके कारण ये धर्म्म द्वन्द्वमूलक हैं।

वर्णधर्म्म और आश्रमधर्म्मके अध्यायमें पहले ही कहा गया है कि वर्ण धर्म्म तो प्रवृत्ति रोधक है और आश्रमधर्म्म निवृत्ति पोषक है। वर्णधर्म्म प्रधानतः प्रवृत्तिधर्म्मको ही निभाता हुआ क्रमशः मनुष्योंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकता हुआ आर्य्य जातिके मनुष्योंको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है; उसी प्रकार आश्रम धर्म्म क्रमशः आर्य्यजातिके मनुष्योंमें निवृत्तिधर्म्मकी वृद्धि करता हुआ आर्य्यजातिको मुक्ति भूमिमें पहुंचा देता है।

वेदने मनुष्योंके देहान्तके अनन्तर उनकी क्रमोन्नतिकी दो गति स्पष्ट रूपसे वर्णन की है, यथाः—

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाँ स्तान्। मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति। अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासाँ स्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाऽध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। —छान्दोग्य ५ प्रपाठक १० खण्ड।

निवृत्तिपरायण जो तपस्विगण श्रद्धाके साथ अरण्यमें निवास करके उपासना और ज्ञानमार्गमें अग्रसर होते हैं उनकी गति देहावसानमें अर्चिरादि लोक अर्थात् सूर्य द्वार पंथाके आश्रयसे होती है। वे अर्चिरभिमानिनी देवताके लोकसे दिवसाभिमानिनी देवताके लोक, तदनन्तर आपूर्यमाणपक्ष देवता, षण्मास देवता, संवत्सर देवता, आदित्य देवता, चन्द्रमा देवता, विद्युत् देवता, इस क्रमसे भिन्न भिन्न देवताओंके लोक अतिक्रम करनेके बाद उनको एक अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। यही देवयान पन्था है जहांसे उपासकको संसारमें पुनरावर्तन करना नहीं पड़ता है; किन्तु ब्रह्मलोकसे ही निःश्रेयस पदकी प्राप्ति हो जाती है। दूसरी ओर जो गृहस्थ लोग अपने गृहस्थाश्रममें ही रह कर इष्टापूर्त्तादिका अनुष्ठान करते हैं वे मृत्युके बाद धूमयान अर्थात् पितृयान मार्गसे ऊपर जाते हैं। उनको क्रमशः धूमाभिमानिनी देवता, रात्रिदेवता, कृष्ण पक्षदेवता, मासदेवता और दक्षिणायन देवताके लोकको अतिक्रम करके संवत्सराभिमानिनी देवताके, लोक प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे पितृलोक और आकाशके भीतरसे गति होकर अन्तमें उनको चन्द्रदेवताका लोक प्राप्त होता है जहांपर चन्द्र राजा है। चन्द्रलोकमें वे जीव वहांके देवताओंके उपयोग्य बन कर उनके साथ क्रीड़ा करते हैं। वहांपर कर्मक्षय-कालपर्यन्त निवास करके जिस मार्गसे चन्द्रलोक प्राप्त हुआ था उसी मार्गसे जीव संसारमें पुनः आ जाते हैं।

श्रीगीताजीमें भी भगवान्ने कहा है किः—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया ऽऽवर्तते पुनः ॥

जिस कालमें गमन करनेसे योगियोंको लौटना या नहीं लौटना पड़ता है सो बताया जाता है। अग्निरभिमानिनी देवता, ज्योतिरभिमानिनी देवता, दिवसाभिमानिनी देवता, शुक्लपक्ष देवता और उत्तरायणदेवता, इन सबके द्वारा

अधिष्ठित मार्गोंको अतिक्रम करके जो देवयान गति है उससे ब्रह्मनिष्ठ योगिगण पुनः न लौटकर क्रमोर्द्ध्वगति द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं, परन्तु दूसरी गति जो पितृयान या धूम्रयानगति कहलाती है उसमें धूमाभिमानिनी देवता, रात्र्यभिमानिनी देवता, कृष्णपक्ष देवता तथा दक्षिणायन देवता, इन सबके द्वारा अधिष्ठित मार्गोंको अतिक्रम करके चन्द्रलोकमें जाना होता है। इस प्रकार गतिके प्राप्त होनेसे योगीको भोगके अन्तमें पुनः संसारमें लौटना पड़ता है। यही लौटने तथा न लौटनेकी कृष्णा और शुक्का गति विश्वजगत्में अनादि प्रसिद्ध है।

इस वर्णनसे स्पष्ट होता है कि प्रेतत्व नरक आदि अधोगामी गतिको छोड़ देनेसे ऊर्द्ध्वगामी गति जो मनुष्योंको पुण्यकर्मोंसे प्राप्त होती हैं सो दो हैं। दोनोंमें मनुष्योंको उत्तरोत्तर सुख ही प्राप्त होता है, केवल चन्द्रगतिके सुखमें ज्ञानकी कमी है और सूर्यगतिके सुखमें ज्ञानकी अधिकता है। दोनों गतियोंमें ही मनुष्य नीचेकी ओर नहीं उतरता है ऊपरकी ओर ही चढ़ता रहता है; भेद इतना ही है कि चन्द्रगतिमें मनुष्य पितृलोक तथा स्वर्गलोक आदिमें पहुँच कर वहांका सुख भोगकर पुनः पृथ्वी लोकमें ही जन्म लेता हुआ प्रवृत्ति जनित शुभकर्म्म करते करते पुनः उसी प्रकार स्वर्गादि उच्चलोकमें आना जाना जारी रख कर क्रमशः आत्मोन्नति करता है और सूर्य्यगतिमें मनुष्य निवृत्ति प्रधान कर्म करता हुआ ऐसे उन्नत लोकोंको प्राप्त करता है कि जहांसे पुनरावृत्ति (लौटना) नहीं होती किन्तु वह अधिकारी क्रमशः उन्नत होता हुआ आध्यात्मिक उन्नत अधिकारको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। चन्द्रगतिमें स्वर्गसुख और उन्नततर सकाम कर्म करते करते आध्यात्मिक उन्नतिकी अवस्थामें अग्रसर होना होता है और सूर्य्य गतिमें एक वार ही ऐसे उन्नत लोकोंमें पहुँचना होता है कि जहाँ-से पुनरावृत्ति नहीं होती और स्वतः आध्यात्मिक उन्नति होती रहती है। दोनों ही मार्ग उन्नतिके हैं, एकमें सकामभावकी अधिकताके साथ भोग परायणता बनी रहती है और दूसरेमें भोगपरायणता पहले हीसे नहीं रहती और कामनाकी कमीके साथ ज्ञानकी अधिकता रहती है; ठीक इसी उदाहरणके अनुसार प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति धर्मको समझना उचित है।

श्रीगीताजीमें श्रीभगवान्‌ने मुक्तिकी अवस्था और मुक्तिके पथकी शैली दो प्रकारसे वर्णन की है। एक कर्मयोग द्वारा और एक सांख्ययोग द्वारा, उनका वर्णन इस प्रकारसे है:—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

मुक्तिपथमें अग्रसर हो उन्नति प्राप्त होनेके लिये ज्ञाननिष्ठ साधकके लिये ज्ञानयोग तथा कर्मनिष्ठ साधकके लिये कर्मयोग ये दो साधन विहित हैं। इनमेंसे ज्ञानयोगका लक्षण, यथाः—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियाऽर्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

ज्ञानयोगी महात्मा मनसे समस्त कर्मको त्याग करके नवद्वारसे युक्त पुरीरूप शरीरमें निष्क्रिय होकर सुखसे अवस्थान करते हैं। जिस प्रकार प्रज्वलित वह्नि काष्ठको भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान रूप अग्निके द्वारा समस्त कर्म भस्म हो जाता है। ज्ञानके सदृश पवित्र वस्तु संसारमें और कुछ भी नहीं है। इस ज्ञानके योगमें सिद्धिलाभ करके महात्मा योगी बहुकालके अनन्तर आत्मामें

प्राप्त होते हैं। द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठतर है, ज्ञानमें समस्त कर्मोंका लय होता है। जो महात्मा आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट रहते हैं उनको कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। उनके लिये न तो किसी क्रियासे प्रयोजन ही रहता है और न अक्रियासे ही कोई प्रयोजन रहता है। समस्त संसारमें किसी मनुष्यके साथ इनका कोई प्रयोजन-सम्बन्ध भी नहीं रहता है। तत्त्वदर्शी महात्मा स्वरूपस्थित रह कर समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टा करनेपर भी "इन्द्रियोंका विषय इन्द्रियोंसे हो रहा है, मुझसे उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है" इस प्रकार अनुभव द्वारा श्रवण, दर्शन स्पर्शन, ग्रहण, घ्राण, त्याग आदि विषयोंके अनुष्ठानमें निर्लिप्त रह सकते हैं। जो योगी पुरुष आत्माके सुखसे सुखी आत्मानन्दमें रमनेवाले और आत्मज्योतिःसम्पन्न होते हैं वे ब्रह्मरूप होकर निर्वाणमुक्तिको प्राप्त करते हैं। उसीप्रकार कर्मयोगके विषयमें लिखा हैः—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वाऽतीतो विमत्सरः ॥
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाऽम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

कर्मका अनुष्ठान न करनेसे पुरुषको निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती है और कर्मत्यागके द्वारा सिद्धि नहीं प्राप्त होती है। सदा ही कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये, कर्मके न करनेसे करना ही अच्छा है क्योंकि कर्म न करनेपर शरीरयात्रा भी नहीं सिद्ध हो सकती है। यज्ञके लिये कर्म न करके स्वार्थभावसे

कर्म करनेपर बंधन प्राप्त होता है इसलिये यज्ञबुद्धिसे सङ्गरहित होकर कर्म करना चाहिये। अनासक्त होकर कर्मानुष्ठान द्वारा परम पदको पुरुष प्राप्त होते हैं। जो कुछ मिल जाय उसीमें संतुष्ट, द्वंद्वसे अतीत, मत्सर हीन और सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न महात्मा कर्म करनेपर बंधनप्राप्त नहीं होते हैं। निःसङ्ग होकर ब्रह्ममें सर्वकर्म समर्पण पूर्वक कार्य करनेसे जलमें स्थित कमलदलकी तरह कर्मयोगी बंधनको प्राप्त नहीं होते हैं। योगीगण आत्मशुद्धिके लिये सङ्ग रहित होकर शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते हैं। इस प्रकारसे युक्त कर्मयोगी कर्मफल त्याग करके कर्मयोग द्वारा स्वरूपकी शान्तिको प्राप्त करते हैं, परन्तु अयुक्त पुरुष सकाम कर्म द्वारा कर्मफलमें आसक्त होकर संसारमें बद्ध हो जाते हैं।

इन दोनों योग मार्गोंके द्वारा साधकोंको अन्तमें एकही स्थान प्राप्त होता है, इस विषयमें श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा हैः—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपिगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

अज्ञानी लोग ही ज्ञानयोग तथा कर्मयोगको पृथक् पृथक् कहते हैं, ज्ञानी लोग ऐसा नहीं कहते हैं; क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसीका भी आश्रय करनेपर दोनोंका ही फल मिल जाता है। ज्ञानयोगके द्वारा जो पद प्राप्त होता है, कर्म योगके द्वारा भी वही पद मिलता है। जो महात्मा इन दोनों योगोंको एक समझते हैं वे ही यथार्थदर्शी हैं।

अब इन दोनों मार्गोंके द्वारा प्रकृति तथा प्रवृत्तिके अनुसार भिन्न भिन्न संस्कारके आश्रयसे विविध दशाओंको प्राप्त होते हुए कर्मयोगी और सांख्ययोगी अन्तमें कैसे निर्वाण पदवीको लाभ करते हैं, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

इन दोनों शैलियोंपर विशेषरूपसे ध्यान देनेसे प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति-धर्म्मके स्वरूप और गतिके समझनेमें सुगमता होगी। अनादि वासनाका स्वरूप वैचित्र्यपूर्ण होनेके कारण मनुष्योंकी प्रकृति और प्रवृत्ति एक ढंगकी नहीं होती, विशेषतः श्रीभगवान्ने निज मुखसे गीतामें कहा है कि जिसकी जैसी प्रकृति पूर्व संस्कारोंसे बनती है वह प्रकृति बलपूर्व्वक कार्य करा लिया करती है, यथा-श्रीमद्भगवद्गीतामेंः—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

कर्म न करके क्षणभर भी कोई नहीं रह सकता है। प्राकृतिक गुणोंसे बद्ध जीवोंको विवश होकर कार्य करना पड़ता है। प्रकृतिके गुणोंमें मुग्ध होकर जीव कर्ममें आसक्त हो जाता है इसलिये तत्त्ववेत्ता लोग इस प्रकार अधिकारीको अपने अधिकारके अनुकूल मार्गसे विचलित न करें। ज्ञानी लोग भी अपनी प्रकृतिके अनुरूप कार्य करने लगते हैं। समस्त जीव प्रकृतिके ही अधीन होकर चलते हैं उसमें निग्रह क्या करेगा?

अतः प्रकृति वैचित्र्यके कारण धर्मके पथमें चलने वाला पथिक अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार कोई सांख्ययोग और कोई कर्मयोगके अवलम्बनसे मुक्तिभूमिमें अग्रसर होता है। सांख्ययोगके अवलम्बनसे अग्रसर होने वाले योगी पहलेहीसे कर्ममें रुचि कम रखते हैं और कर्मयोगी कर्ममें ही विशेष रुचि रखता है। वासना वैचित्र्यके कारण पहिलेहीसे सांख्ययोगी विचारको अधिक प्रिय समझ कर विचारके अवलम्बनसे अपनी ज्ञानशक्तिको बढ़ाता हुआ कर्मसे सावधान बना रहता है और जो कुछ कर्म करता है सो ज्ञानके अवलम्बनसे विचारके सहित करता है। दूसरी ओर कर्मयोगी विचारका विशेष प्रयोजन नहीं समझता और कर्ममें ही स्वाभाविक रुचि रखता है, वह केवल वासनाका त्याग करनेमें स्वभावतः रुचि रखता है और जैसा अवसर आता है वैसे ही कर्तव्य बुद्धिसे कर्म करता हुआ निश्चिन्त रहता है। सांख्ययोगी एक प्रकारसे कर्मत्यागी परन्तु ज्ञानसे सावधान होता है; परन्तु कर्मयोगी कर्महीमें रत, परन्तु सर्वथा निश्चिन्त रहता है। इन दोनों पथोंको इस प्रकारसे समझ सकते हैं कि कर्मचक्रमें भ्रमण करते हुए मनुष्य जब उन्नततर भूमिमें पहुंच जाते हैं उस समय अनादि वासनाके वैचित्र्यके कारण मनुष्योंकी प्रकृति दो प्रकारकी बन जाती है, उसी समय किसीमें प्रवृत्तिधर्म और किसीमें निवृत्तिधर्म पालनकी प्रवृत्ति और शक्ति अपने आपही उत्पन्न हो जाती है। प्रवृत्तिधर्मका अधिकारी व्यक्ति धर्मोन्नति चाहता

है, परलोकको इस लोकसे अधिक समझता है, उसमें विषय वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है, परन्तु वह जो कुछ धर्म साधन करता है उसमें धर्मोन्नतिकी इच्छा रखता हुआ पुण्य और पुण्यफलरूपी पारलौकिक सुखकी ओर विशेष दृष्टि रखता है और निवृत्तिधर्मका अधिकारी व्यक्ति धर्मोन्नति चाहता है, इस लोकसे परलोकको भी अधिक समझता है, परन्तु विषय वैराग्यकी अधिकताके कारण धर्मोन्नति करनेमें इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके सुखोंकी ओर विशेष दृष्टि नहीं रखता। यद्यपि सांख्ययोगी और कर्मयोगी दोनों ही जीवन्मुक्त दशामें पहुंच सकते हैं और उस सर्वश्रेष्ठ पदपर पहुंच कर एक ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त और दूसरे ईस कोटिके जीवन्मुक्त (जिनका विस्तारित वर्णन किसी दूसरे अध्यायमें आवेगा) हो जाते हैं, परन्तु यदि मुक्ति भूमिमें अग्रसर होनेपर भी जीवन्मुक्त पदवीपर पहुँच न सकें तो ऐसी उन्नततम दशामें भी उनको अपने अपने प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म संस्कारके अनुसार उस अति उन्नत अवस्थामें भी बड़ी ही भोग वैचित्र्यता रहती है। प्रवृत्तिधर्म पालन करने वाले कर्मयोगी हो क्रमशः तीव्र वासनावेगके कारण देव-पद और इन्द्रादिक उच्च दैवी अधिकारोंको प्राप्त करके ब्रह्मपदादि प्राप्त करते हुए एक ब्रह्माण्डके महाप्रलयके साथ मुक्त होते हैं। सांख्ययोगीकी कुछ और ही विचित्रता है, निवृत्तिधर्म पालन करने वाले सांख्ययोगी यदि जीवन्मुक्त पदवीको न पहुँच सकें तो सूर्य्यगतिके अवलम्बन द्वारा सूर्य्यलोक भेदन करते हुए कालान्तरमें सप्तमलोकसे मुक्त हो जाते हैं, ऐसे महात्माओंको देवलोकके बड़े बड़े दैवी अधिकारोंके भारको वहन करना नहीं होता है। ये सब प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मके अधिकारोंकी वैचित्र्य पूर्ण विभूतियाँ हैं। इन दोनों अवस्थाके वर्णन तथा वेदविहित सकाम यज्ञादि द्वारा इन्द्रादि पदवी प्राप्तिके वर्णन वेदादि शास्त्रोंमें अनेक पाये जाते हैं, यथाः—

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियंच॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमान स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम्।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार समाहितः संशितात्मा यथावत्॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि तेन देवानामगमद्ग गौरवं सः।
तथा नक्षत्राणि कर्मणाऽमुत्र भान्ति रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे॥

यतो राजा वैश्रवणः कुबेरो गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यक्रियाश्च निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति॥

(महाभारत)

"यस्ते नूनꣳ शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः"

सामवेद।

"यज्ञेन हि देवा दिवं गताः!" श्रुतिः।
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च॥

(महाभारत)

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(श्रुतिः)

इन सब श्लोक तथा मन्त्रोंका भावार्थ यह है कि इन्द्र, बृहस्पति आदि देवतागणने संयमशील तथा जितेन्द्रिय होकर, मनके प्रिय सुखोंको त्याग करके सत्य, धर्म्म, दम, तितिक्षा और प्रबल तपस्याओंका आचरण किया था जिसके ही फलसे इनको स्वर्गराज्य तथा अन्यान्य दैवजगत्की विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं। रुद्र, आदित्य, वसु, यम, कुबेर, गंधर्व, यक्ष आदि देवपदवी तथा ऋषि-पदवी समस्तही इह लोकमें सत्कर्मानुष्ठानका फलरूप है। इन्द्रका इन्द्रत्व शतक्रतु होनेकाही फल है। देवताओंका देवत्व यज्ञानुष्ठानकाही फलरूप है। यही सब प्रवृत्ति पथगामी कर्मयोगी साधकोंका वासना-वैचित्र्यानुसार गतिका तारतम्य है। इसके अतिरिक्त जो निवृत्ति पथसेवी ज्ञानयोगिगण भिक्षाचर्यावलम्बन करते हुए अरण्यमें तपस्या और ज्ञानोन्नति करते हैं उनकी गति उत्तरायण मार्गसे सप्तमलोक तक होती है। जहांपर पूर्णज्ञान प्राप्त होकर उनको निर्वाण मुक्ति लाभ हो जाता है।

जैसे कर्मयोगी बनना और सांख्ययोगी बनना प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति-धर्मकेही उच्चतम फल हैं, जैसे ईशकोटिके जीवन्मुक्त बनना और ब्रह्म कोटिके जीवन्मुक्त बनना प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मके ही उन्नत अधिकार हैं, जैसे इन्द्रादि दैवी पद प्राप्त करना और सप्तमलोकमें पहुँच

कर त्यागकी पराकाष्ठाको प्राप्त करते हुए आध्यात्मिक तेजके बलसे सूर्य्यलोक भेदन करते हुए मुक्तिभूमिमें पहुँचना प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्मकी शक्तिकाही परिचायक है, वैसेही दैवी शक्तिय के प्राप्त करनेमें भी अनेक भेद हैं। कर्म्म वैचित्र्यके कारण देवलोकमें और सूक्ष्मराज्यमें भी ऐसेही दो भेद पाये जाते हैं। कर्म्मयोगमें प्रीति रखनेवाले देवलोक प्राप्त किये हुए योगी देवता बन जाते हैं और सांख्ययोगमें अधिक रुचि रखनेवाले योगी सूक्ष्मराज्यमय देवलोकमें पहुँचकर ऋषि बन जाते हैं। जिन महात्माओंमें प्रवृत्तिधर्म जनित आधिभौतिक सुखभोगको वासनाका बीज रहता है वे देवता और जिन महान् आत्माओंमें निवृत्तिधर्म जनित आध्यात्मिक सुख पानेकी वासनाका बीज रहता है वे ऋषि बन जाते हैं। ये सब प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मकी अन्तिम विभूतियाँ है।

ऊपर लिखित रहस्योंसे यह प्रकट हुआ कि मनुष्य जब धर्मकी ओर झुक कर धर्मका पथ ढूँढने लगता है उस समय उसके अन्तःकरणके वासनावैचित्र्यके कारण स्वभावसे ही कोई प्रवृत्तिधर्मका अधिकारी और कोई निवृत्तिधर्मका अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार बननेमें अघटनघटनापटीयसी महामायाकी माया ही कारण है और यह भी प्रकट हुआ कि प्रवृत्ति धर्म और निवृत्तिधर्मके पालन करते करते दोनों पथके पथिक कैसी कैसी विभूतियोंको प्राप्त कर सकते हैं। दोनों पथोंमेंसे प्रवृत्तिधर्मका पथ अति विस्तृत है। विचार करनेसे यही सिद्ध होगा कि जहां कामना है, जहां प्रवृत्ति है, वहां एकसे अनेक शाखाएँ हैं; परन्तु जहां कामनाके अभावपर दृष्टि है, जहां निवृत्ति है, वहाँ चित्तकी गति एकही होती है इसी कारण श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा हैः—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

वासनारहित निवृत्तिपर निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है; परन्तु प्रवृत्ति परायण द्वैतभावमय जीवोंकी बुद्धि बहुशाखायुक्त और अनन्त है।

यही कारण है कि उच्चतम दैवी अधिकारोंको प्राप्त करनेमें भी देवताओंके दैवी कर्म कितने विस्तृत और विचित्रतासे पूर्ण हैं। शास्त्रमें कहा है कि प्रधान तीन देवता, उनसे तेतीस मुख्य और उनसे तेतीस करोड, यथा—

"तिस्रो देवताः" "त्रयस्त्रिंशत्ततः प्रसूताऽपि कार्यवैलक्षण्यात्"

(दैवीमीमांसादर्शनम्)

प्रधान देवता तीन हैं, उनसे तैंतीस और कर्म विचित्रताके अनुसार उसीसे अनन्त देवता हुए हैं।

उसी शैलीके अनुसार ईशकोटीके जीवन्मुक्तही ब्रह्माण्ड केन्द्रसे चालित होकर अनेक विचित्र भोग भोगते हुए लोकहितकर अनेक विचित्र कर्म किया करते हैं। प्रवृत्तिधर्मका महान् स्वरूप ही अवतारादिकके आविर्भावका रहस्य प्रतिपादक है। निर्लिप्त निष्क्रिय सर्वतत्त्वातीत श्रीभगवान् भी लीला विग्रह धारण करके प्रवृत्तिधर्मकी शक्तिसे ही जगत्में अनेक लीला करते हैं इसी कारण भगवद्वाक्यरूप वेदोंमें प्रवृत्तिधर्मका वर्णन अधिक है, यथा गीतामें —

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन"

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।"

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

वेदमें त्रिगुणपर कर्मोंका ही वर्णन है परन्तु जीवका अन्तिम लक्ष्य त्रिगुणातीत होना है। कर्म वेदसे उत्पन्न हैं और वेद अक्षरपुरुष परमात्मासे उत्पन्न हैं। वेदमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन है। ये सभी प्रवृत्तिपर कर्मसे सम्बन्धयुक्त हैं। ऐसा ज्ञान होनेपर जीवका मोक्ष होता है। पूर्व मीमांसामें भी लिखा है: —

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"

वेद कर्मकाण्डका ही प्रतिपादक है। उपनिषद्में भी लिखा है: —

एतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि
त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः
पन्था सुकृतस्य लोके॥

वैदिक मन्त्रोंमें जो कर्मोंके वर्णन मिलते हैं वे सब कर्म त्रेतायुगमें बहुत ही विस्तारको प्राप्त होगये थे। उन सब कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा पुण्यपाकरूप उन्नत स्वर्गादि लोक प्राप्त होते हैं।

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म ऐसे व्यापक हैं कि सब धर्माङ्गोंके साथ और सब सम्प्रदाय और पन्थोंके साधन और आचारके साथ इनका सम्बन्ध है। राजसिकदान प्रवृत्तिधर्ममूलक और सात्विक दान निवृत्तिधर्ममूलक है ऐसा कह सकते हैं। उसी प्रकार राजसिक तप प्रवृत्तिधर्ममूलक और सात्विक तप निवृत्तिधर्ममूलक कहा जायगा। काम्यकर्म प्रवृत्तिधर्ममूलक और नित्यकर्म निवृत्ति

धर्ममूलक समझा जायगा। इहलौकिक और पारलौकिक सुखप्रार्थी उपासक तथा सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला उपासक प्रवृत्ति धर्मपरायण और कामना-रहित भक्तिमान् उपासक निवृत्तिधर्मपरायण समझा जायगा। वैराग्यहीन ज्ञान मार्गका पथिक प्रवृत्तिधर्मका अधिकारी और वैराग्यवान् ज्ञानमार्गका पथिक निवृत्तिधर्मका अधिकारी समझा जायगा। जो धर्मसम्प्रदाय अथवा धर्मपन्थ वर्णाश्रमधर्मको नहीं भी मानते हो उनमें भी प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्मके अधिकार स्वभावतः मिलेंगे। किसी धर्मसम्प्रदाय या धर्मपन्थमें जब कामिनी काञ्चनादि वैषयिक सुखको भोगते हुए अथवा इन भोगोंकी कामनाको रखकर जो साधक उक्त सम्प्रदाय वा पन्थके धर्म्मानुसार चलते हैं वे प्रवृत्ति धर्मके अधिकारी और जो उक्त धर्ममें चलते हुए विषय वैराग्यका अभ्यास करते हैं वे निवृत्ति धर्म्मके अधिकारी समझे जायंगे। अतः प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म सब धर्म्माङ्गोंमें, सब धर्म्मोपाङ्गोंमें, सब धर्म्मसम्प्रदाय और सब धर्म्म पन्थमें व्यापक है।

यह भी विज्ञानसिद्ध होगा कि जिस धर्म्माङ्गमें प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म दोनोंके अधिकार समानरूपसे मिलते हों वही धर्म्माङ्ग सर्व्वथा पूर्ण समझा जायगा। उदाहरणके लिये नारीधर्म्मपर विचार किया जाता है। सहधर्म्मिणी सती जब पतिके लिये ही अपनी शरीर-यात्रा निर्व्वाह करती हुई पतिसेवासुखमें रत रहती है, वह सब धर्म्म प्रवृत्ति धर्म्ममूलक है, यथा-धर्मशास्त्रमें:—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चदप्रियम्॥
भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या॥
मुदिते मुदितात्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्वमेव प्रबुद्ध्यते।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता॥
तैलाऽभ्यङ्गं तथा स्नानं शरीरोद्वर्त्तनक्रियाम्।
मार्जनञ्चैव दन्तानां कुर्यात् पतिमुदे सती॥

यच्च भर्त्ता न पिबति यच्च भर्त्ता न चेच्छति ।
यच्च भर्त्ता न चाऽश्नाति सर्वं तद्ध वर्जयेत्सती ॥
छायेवाऽनुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु ।
दासीवाऽऽदिष्टकार्येषु भार्या भर्त्तुः सदा भवेत् ॥
पतिर्नारायणः स्त्रीणां व्रतं धर्मः सनातनः ।
सर्वं कर्म वृथा तासां स्वामिनां विमुखाश्च याः ॥

स्त्री जातिके लिये यज्ञ व्रत या उपवास रूपसे पृथक् अनुष्ठेय धर्म कुछ भी नहीं है, केवल पतिसेवाधर्म द्वारा ही उनको उन्नत लोक प्राप्त होता है। पतिलोक चाहनेवाली सती स्त्री अपने पतिके जीवित या मृत किसी अवस्थामें भी अप्रियाचरण नहीं करेगी । पतिके भोजनके बाद भोजन करनेवाली, उनके दुःखमें दुःखिनी, सुखमें सुखिनी, प्रवास जानेपर मलिन वसन धारिणी, निद्रित होनेके पश्चात् निद्रित होनेवाली, जागृत होनेके पूर्व जागनेवाली और पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषको चित्तमें भी न चाहनेवाली स्त्री पतिव्रता कहलाती है। सती स्त्री तैलमर्दन, स्नान, शरीरप्रसाधन, दन्तधावन आदि सभी कुछ केवल पतिदेवताके प्रसन्नता सम्पादनके अर्थ ही करे। वे जो कुछ नहीं चाहते हैं, न पीते हैं या न खाते हैं उन सभीका सती स्त्री त्याग करे। छायाकी तरह पतिकी अनुगामी, पवित्रा, हितकार्यमें सखीकी तरह और आज्ञा किये हुए कार्यमें दासीकी तरह सती स्त्रीका पतिके प्रति आचरण होना चाहिये। स्त्रीके लिये पति नारायणरूप समस्त व्रत तथा सनातनधर्मरूप हैं। पतिविमुखा स्त्रीका समस्त कार्य निष्फल हो जाता है।

जब वही सती पतिके लोकान्तरित होनेपर सब सुखको तिलाञ्जलि देकर ब्रह्मचारिणी संन्यासिनी विधवा धर्म्मको पालन करती है तो त्रिलोक पवित्र-कर वे विधवाके धर्म्मसमूह निवृत्ति धर्म्म मूलक हैं इसमें सन्देह ही नहीं। निम्नलिखित विधवाके कर्त्तव्योंपर ध्यान देनेसे ही नारीधर्म्ममें निवृत्ति धर्म्मका स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होगा।

कामं तु क्षपयेद्द देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
आसीताऽऽमरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ॥

केशरञ्जनताम्बूलगन्धपुष्पादिसेवनम् ।
भूषणं रङ्गवस्त्रं च कांस्यपात्रेषु भोजनम् ॥
द्विवारभोजनञ्चाक्ष्णो रञ्जनं वर्जयेत्सदा ।
स्नात्वा शुक्लाम्बरधरा जितक्रोधा जितेन्द्रिया ॥
न कल्पकुहका साध्वी तन्द्राऽलस्यविवर्जिता ।
सुनिर्मला शुभाचारा नित्यं सम्पूजयेद्धरिम् ॥
क्षितिशायी भवेद्रात्रौ शुचौ देशे कुशोत्तरे ।
ध्यानयोगपरा नित्यं सतां संगे व्यवस्थिता ॥
तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत् ।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद्व यदि रजस्वला ॥
नाऽङ्गमुद्वर्त्तयेद्व वासैर्ग्राम्याऽऽलापमपि त्यजेत् ।
देवव्रता नयेत्कालं वैधव्यं धर्ममाश्रिता ॥

विधवा स्त्रीके लिये पुष्प, मूल, फल द्वारा कष्टसे जीवन यापन करना श्रेयस्कर है; परंतु पतिकी मृत्युके बाद परपुरुषका नाम तक लेना भी पाप है। विधवा स्त्रीको मृत्युपर्यन्त संयमशीला, ब्रह्मचारिणी और शान्तिगुणवती होकर एक पतिव्रताका धर्म पालन करना चाहिये। केशरञ्जन, ताम्बूल सेवन, गंध-पुष्पादि सेवन, अलंकार धारण, रङ्गवस्त्रपरिधान, कांसेके पात्रमें भोजन, दो वार भोजन, आखोंमें अञ्जनधारण, यह सब विधवाको त्याग करना चाहिये। उनको स्नानानन्तर शुभ्रवस्त्रधारिणी, जितक्रोधा, जितेन्द्रिया, तन्द्रालस्यवर्जिता, सुनिर्मला और शुभाचरणशीला होकर पूजापरायण होना चाहिये। उनको पवित्र स्थानमें धराशायिनी, ध्यानयोग-परायणा, सत्सङ्गकारिणी और तपश्चरणशीला होकर यावज्जीवन रहना चाहिये। रजस्वला होनेपर स्वल्पाहारशीला होना चाहिये। वस्त्रके द्वारा शरीरमार्जन, विषयसम्बन्धीय बातचीत आदि परित्याग करके देवव्रता होकर कालयापन करना चाहिये।

नारीधर्म्म तपःप्रधान है, यह हम नारीधर्म्मके अध्यायमें विस्तारित रूपसे कह चुके हैं। अतः तपमूलक नारीधर्म्म प्रवृत्ति धर्म्मको लेकर किस पराकाष्ठा तक पहुँचता है, पुनः वही तपोमूलक नारीधर्म्म निवृत्ति धर्म्मको साथ लेकर किस किस काष्ठा तक पहुंचता है, यह ऊपरके वर्णनसे भलीभांति प्रकट होगा।

जो धर्म्माङ्ग अथवा धर्म्मोपाङ्ग या कोई विशेष धर्म जब सर्व्व शक्तिसे पूर्ण हो वही पूर्ण कहावेगा। जिसमें न्यूनता रहे वही असम्पूर्ण कहावेगा। जिस मनुष्य जातिके नारी-धर्म्ममें प्रवृत्ति धर्म्मकी पराकाष्ठा और निवृत्ति धर्म्मकी पराकाष्ठा दोनों ही पाई जायँ उसी मनुष्यजातिका नारीधर्म्म पूर्ण है। जिस मनुष्य जातिमें दोनोंकी पराकाष्ठा न पाई जाय वह अपूर्ण है इसमें सन्देह ही क्या है। जिस मनुष्य जातिमें सतीत्व धर्म्मके सब लक्षण न पाये जायँ, जिस मनुष्यजातिमें पति सेवाके सब प्रकारके सदाचार न पाये जायं, जिस मनुष्य जातिमें स्त्री-पुरुषका विवाह इहलोक और परलोक दोनोंसे ही सम्बन्ध रखने वाला न हो और जिस मनुष्य जातिमें विधवा धर्म्मकी त्रिलोक पवित्रकर कठोर तपस्याका चिह्न विद्यमान न हो उस मनुष्य जातिमें स्वर्गीय नारी-धर्म्मकी पूर्णता विद्यमान नहीं है ऐसा कहना ही पड़ेगा। यदि किसी मनुष्य जातिकी स्त्रियोंमें हमारे वेदोक्त सतीत्वधर्म्मकी पराकाष्ठाके लक्षण न पाये जाँय तो सम्भव है कि स्वाभाविक दाम्पत्यप्रेमकी प्रबलशक्तिसे उस मनुष्य जातिमें कभी कभी सतीत्व धर्म्मके बहुतसे लक्षण प्रकाशित हो सकते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रथम तो प्रवृत्ति धर्म्म मनुष्यकी स्वाभाविकी वृत्तिके साथ मिला हुआ है। द्वितीयतः स्त्री-पुरुषका प्रेम भी कामादि वृत्ति मूलक होनेके कारण स्वाभाविक है और तृतीयतः सात्विक स्त्रीमें प्रेमका प्रबल उच्छ्वास प्रकट होनेसे पवित्र सतीत्व-धर्म्मके लक्षण स्वतः ही प्रकाशित हो सकते हैं। इस कारण आर्य्य सदाचार रहित जातियोंमें प्रवृत्ति धर्म्म मूलक सतीत्वके लक्षण कहीं कहीं प्रकाशित हो सकते हैं; परन्तु जिस मनुष्य जातिमें विधवा-विवाह प्रचलित है उस जातिमें निवृत्ति धर्म्म मूलक निष्काम भावसे पूर्ण त्रिलोकपवित्रकर आर्य्य विधवा धर्म्म कदापि प्रकट नहीं हो सकते। अतः जिस मनुष्य जातिमें नारीधर्म्म सम्बन्धीय प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म दोनों ही नहीं प्राप्त हो सकें उस जातिका नारीधर्म्म असम्पूर्ण है इसमें सन्देह नहीं।

जिस प्रकार नारीधर्म्ममें प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्ति धर्म्मका स्वरूप समझानेके लिये ऊपर प्रयत्न किया गया है उसी प्रकार पुरुषधर्म्ममें प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्मके प्रवाहके समझानेके लिये वर्ण और आश्रम धर्म्मकी आलोचना करना उचित है। साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्मका प्रवाह जिस प्रकार अलग अलग बहता हुआ उसी अद्वितीय निर्विकार निष्क्रिय तत्वातीत सच्चिदानन्दमय परमपदमें पहुंच जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति धर्म्म और

निवृत्ति धर्म्मका प्रवाह भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे बहता हुआ उसी वाङ्मनसे अगोचर मुक्तिपदमें पहुंच जाता है। साधारण धर्म्मप्रवाह महान् ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, सूर्य्यलोक आदिसे लेकर क्षुद्र परमाणु तक और स्थावर सृष्टिसे लेकर जङ्गम सृष्टि पर्य्यन्त सबमें समानरूपसे विद्यमान है। साधारण धर्म्म महान् सृष्टिसे लेकर क्षुद्र सृष्टि पर्य्यन्त तथा जड़से लेकर चेतन पर्य्यन्त सबके अस्तित्वकी समान रूपसे रक्षा करता हुआ सब प्रकारकी सृष्टिको क्रमशः नीचेकी ओरसे ऊपरकी ओर अग्रसर करता है, इस कारण साधारण धर्म्मके प्रवाहमें कहीं गम्भीरता अधिक हो अथवा कहीं गम्भीरता कम हो परन्तु वह प्रवाह सबमें समान रूपसे बहता रहता है इसमें संदेह नहीं। विशेष धर्म्म भी सबमें है परन्तु विशेष विशेष अधिकारके अनुसार विशेष धर्म्मके स्वरूपका पार्थक्य होता है। उदाहरणके तौरपर समझ सकते हैं कि गृहस्थका विशेष धर्म्म सन्न्यासीके विशेष धर्म्मसे एक वार ही पृथक् होगा; परन्तु धर्म्मत्वरूपसे पृथक् धर्म्म सबमें पृथक् पृथक् रूपसे रहता हुआ भी सबको अपने अपने स्वतन्त्र अधिकारके अनुसार मुक्तिभूमिकी ओर अग्रसर करता रहेगा। उसी उदाहरण पर समझना उचित है कि प्रवृत्ति धर्म्म और निवृत्ति धर्म्म भी अपने अपने स्वरूपके अनुसार अपने अपने अधिकारमें मनुष्योंको क्रमशः कैवल्यपदकी ओर ही ले जाते हैं। भेद इतना ही है कि प्रवृत्ति धर्म्मका पथ पृथक् है और निवृत्ति धर्म्मका पथ पृथक् है। धनका सुख भोगना, राजा होकर राज्य सुख भोगते हुए अग्रसर होना, गृहस्थ ब्राह्मण होकर सात्त्विक सुख भोगना, देहान्त होनेपर स्वर्गादि सुख भोगना, क्रमशः अधिदैव राज्यमें अग्रसर होते हुए देवता बनना अथवा आध्यात्मिक राज्यमें अग्रसर होते हुए ईश कोटिके जीवन्मुक्त हो जाना ये सब प्रवृत्तिधर्म्म द्वारा क्रमोन्नतिके उदाहरण हैं। विषय वैराग्यका सुख अनुभव करना, सन्न्यास धर्म्मका सुख अनुभव करना, मुनि अथवा ऋषि होकर आध्यात्मिक राज्यको सुशोभित करना, देहान्त होनेपर सत्यलोकमें पहुँचकर क्रमशः सूर्य्य मण्डल भेदन द्वारा कृतकृत्य होना, अथवा इसी जन्ममें शरीर रहते हुए ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त बन जाना ये सब निवृत्ति धर्म्म द्वारा क्रमोन्नतिके उदाहरण हैं।

आर्य्यजातिके वर्णधर्मकी पर्य्यालोचना करनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके धर्म्ममें प्रवृत्ति धर्म्मका प्रवाह और निवृत्तिधर्म्मका प्रवाह अलग अलग प्रतीत होता है। जब स्वभावके वशवर्ती हो ब्राह्मण केवल कर्त्तव्य-परायण होते हुए निवृत्ति संस्कार उत्पन्नकारी धर्मोंका पालन करते हैं, यथाः—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम्॥

उस समय शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता, इन निवृत्तिधर्म्मवर्द्धक वृत्तियोंको क्रमशः अपने चित्तमें बढ़ाते हुए जगत्पूज्य ब्राह्मणगण क्रमशः निवृत्ति आश्रम संन्यासके अधिकारी वन जाते हैं और जब वे अपनी वृत्तिके विचारसे निम्नलिखित धर्मोंका पालन करते हैं, यथाः—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

अध्ययन, अध्यापन, यजन याजन, दान देना और प्रतिग्रह करना रूप धर्म्मसाधनके द्वारा ब्राह्मणगण अपनी यशोवृद्धि, इहलौकिक उन्नति और स्वर्गादि सुख कामनाके वशवर्ती होकर प्रवृत्तिधर्म्मको पालन करते हुए अभ्युदयको प्राप्त होते हैं।

क्षत्रियधर्म्मके विचारनेसे भी इसी प्रकारका उदाहरण मिलता है, यथाः—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
शौर्य्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम्॥

जब क्षत्रिय राजागण प्रजाका रक्षण करते हैं, दान करते हैं, यज्ञ करते हैं, अध्ययन करते हैं और विषयसे मनको हटाकर राज्यकी रक्षामें प्रवृत्त होते हैं तो उस समय वे इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयको प्राप्त करते हुए प्रवृत्ति धर्मकी सहायतासे राज्यसुख और स्वर्गसुख भोगनेके अधिकारी होते हैं और जब क्षत्रिय नरपतिगण केवल अपने स्वभावके वशवर्ती होकर निष्काम भावकी वृद्धि करते हुए अपने अन्तःकरणके शौर्य्य, क्षात्रतेज, सात्त्विक धृत्ति, साम्राज्य रक्षाका चातुर्य्य, धर्मयुद्धमें निर्भयता, सात्त्विकदानमें प्रवृत्ति और अपने प्रभु भावकी मर्य्यादाका ज्ञान, इन सात्त्विक वृत्तियोंकी यथावत् वृद्धि करते हैं तो उस समयमें वे अपनेमें निवृत्ति धर्मकी वृद्धि करते हुए मुक्तिपथमें अग्रसर होते हैं।

ठीक उसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि वैश्य और शूद्रगण अपेक्षाकृत क्षुद्रधर्म्मके अधिकारी होनेसे श्रीगीताजीमें यद्यपि पापयोनिरूपसे अभिहित हुए हैं, यथाः—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

हे पार्थ! पापयोनिसंभूत स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र भी मेरा आश्रय लेनेसे परमगतिको प्राप्त होते हैं; परंतु वे भी स्वधर्म्म पालन करते हुए दोनों ही मार्गोंमें अग्रसर हो सकते हैं। वैश्य और शूद्रको पापयोनि कहनेका तात्पर्य्य यह है कि इनमें मलिन प्रवृत्ति अधिक होती है। प्रवृत्ति मार्गके भी दो भेद हैं, यथाः-शुद्ध प्रवृत्ति और मलिन प्रवृत्ति। जिस प्रवृत्तिधर्म्ममें पारलौकिक उन्नति होना निश्चय हो, जिस प्रवृत्तिधर्म्मके पालन करनेसे जीवका जन्मान्तरमें क्रमोन्नति होना निश्चय हो और जिस प्रवृत्तिधर्म्मके पालन करनेसे क्रमशः विषयतृष्णाकी निवृत्ति होती रहे उसीको शुद्ध प्रवृत्ति कहते हैं और जिस प्रवृत्तिधर्म्मके मार्गमें पड़ा हुआ जीव जब एक प्रकारकी स्थितिमें पड़ा रहे, जल्दी आगे बढ़ न सके और इन्द्रियप्रवृत्तिमें क्रमशः फँसताही जाय उसको मलिन प्रवृत्ति कहते हैं। स्त्री, वैश्य और शूद्र इस प्रकारसे मलिन प्रवृत्तिके अधिकारी होनेके कारण श्रीगीताजीमें उनको पापयोनि करके वर्णन किया है। स्त्रीजातिकी क्रमोन्नतिका अलौकिक रहस्यपूर्ण वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। सतीधर्म्मके पालन करनेसे पापयोनि-सम्भूत नारीगण त्रिलोकपवित्र-कारिणी देवी बन जाती हैं। तपस्विनी विधवागण तो अपने निवृत्तिधर्म्मके पालनसे संन्यासियोंकी परमकाष्ठाको कैसे प्राप्त होती हैं सो हम पहले कह चुके हैं। उसी उदाहरणके अनुसार हम कह सकते हैं कि वैश्य और शूद्रगण पापयोनिसंभूत होनेपर भी जब वैश्यगण अपने कृषि और वाणिज्य कर्म्मको केवल आजीविकाके लिये करते हों और जब शूद्रगण अपनी सेवावृत्तिको आजीविकाके लिये करते हों तो उस समय वे प्रवृत्तिधर्म्मके निम्नस्तरमें पड़े हुए पापयोनि कहावेंगे परन्तु जब वैश्यगण अपने कृषि और वाणिज्य धर्म्मको अपने कर्त्तव्य-पालनकी बुद्धिसे, समाज और देशसेवाकी बुद्धिसे और धार्मिक रूपसे अपनी जीवनयात्रा-निर्वाहकी बुद्धिसे करते हों तो वे निवृत्तिधर्म्मके अधिकारी होंगे और पापयोनिके कलंकसे रहित होंगे। ठीक उसी प्रकार शूद्रगण जब अपनी सेवावृत्तिको केवल जीविकानिर्व्वाहके लिये ज्ञानरहित पशुके तुल्य करते हों तो वे अतिनिम्नश्रेणीके प्रवृत्तिधर्म्मका आचरण करेंगे और पापयोनि कहावेंगे; परन्तु वही शूद्रगण जब अपनी सेवाप्रवृत्तिको आत्मो-त्सर्गकारी कर्तव्यबुद्धिसे करेंगे तो वे निवृत्तिधर्म्मके अधिकारी होंगे और

पापयोनिके कलङ्कसे ही नहीं बचेंगे अधिकन्तु पुण्यात्मा कहावेंगे। जिनका समस्त शरीर, समस्त मन, वड़ोंकी सेवाके लिये है, जिनका अपने जीवनका समस्त कर्त्तव्य द्विजगणकी शुश्रूषारूप होमाग्निमें आहुतिरूपसे समर्पित है, वे चाहे नीचसे नीच योनिमें ही क्यों न हो, उनके शरीर और मन चाहे प्रकृतिके नीचेके स्तरमें ही क्यों न उत्पन्न हों, सेवाधर्मकी महिमा तथा आत्मोत्सर्गकरनेवाली कर्त्तव्यबुद्धिके गौरवके बलसे वे शीघ्र ही पूर्वजन्मकी समस्त असुविधाओंको दूर करते हुए उन्नत योनि और उन्नत दशाको प्राप्त हो जायँगे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सनातन वर्णधर्मकी यही अनुपम उदारता है जिसकी दिव्य छायाको अवलम्बन करके कितने ही पापयोनिमें उत्पन्न शूद्र पुण्य तथा महिमामय जीवनको प्राप्त हो गये हैं। दृष्टान्तरूपसे महाभारतमें वर्णित धर्मव्याधकी जीवनीका विचार कर सकते हैं। धर्मव्याध, व्याध ही थे, शरीरसे अवश्य ही पापयोनिके थे परन्तु अपने जीवनके समस्त कर्त्तव्यको स्वार्थसिद्धिकी लघुतासे मुक्त करके वर्णानुकूल सेवाधर्ममें सदा लगानेके कारण कैसी उत्तम गति उनको प्राप्त हो गई थी। इसी प्रकार परममुनि सूत तथा धर्मप्राण विदुरका जीवनचरित्र भी इतिहासमें प्रसिद्ध है। वे दोनों पापयोनिमें उत्पन्न होनेपर भी सेवा धर्मकी अपूर्व महिमाके फलसे परमगतिको प्राप्त हो गये थे। श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंसे उत्पन्न होनेके कारण शूद्रवर्णके प्रति श्रीभगवान्‌की ऐसी ही कृपा है कि इनकी क्रमोर्द्ध्वगति और निवृत्ति मार्गमें प्रतिष्ठाके विषयमें अन्य वर्णोंकी तरह कोई भी बाधा नहीं रक्खी गई है। मनुष्य प्रकृतिके अहङ्कारयुक्त तथा अधोमुखी होनेके कारण कर्मस्वतन्त्रताको पाकर अन्य वर्णोंमें अधोगतिकी विशेष सम्भावना हो जाती है। इसके सिवाय अनेक कर्त्तव्यके साथ अनेक विरुद्धवृत्तिका उदय होना स्वाभाविक होनेसे अन्य वर्णोंमें पद पदमें भ्रान्ति तथा गिरनेकी सम्भावना रहती है; परन्तु शूद्रवर्णमें न तो कर्म-स्वतन्त्रता ही है और न अनेक शाखामय कर्त्तव्यकी ही व्यवस्था है इस लिये अन्य वर्णकी तरह अधोगतिकी सम्भावना श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंसे उत्पन्न शूद्रवर्णमें कुछ भी नहीं है। वे अपने जीवनके समस्त कार्यको द्विजगणके आज्ञाधीन करके तथा समर्पणबुद्धि द्वारा समस्त कर्त्तव्यको एकमात्र द्विजसेवामें लय करके निवृत्तिके उन्नत पथमें अनायास ही जा सकते हैं इसी लिये श्रीभगवान् मनुजीने शूद्रोंके लिये कहा है:—

स्वर्गाऽर्थमुभयाऽर्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेमञ्चाऽमुञ्च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥

इहलौकिक उन्नति तथा उर्द्ध्वगतिलाभके लिये शूद्रवर्णको ब्राह्मणका सेवक ब ाना चाहिये । केवल ब्राह्मणसेवारूप धर्मपालन द्वारा ही शूद्र कृतकृत्य हो सकते हैं । असूयाशून्य होकर इस प्रकारसे अपने वर्णानुसार धर्माचरण करनेसे शूद्रगण इहलोकमें उन्नति और परलोकमें उर्द्ध्वगति लाभ कर सकते हैं। फलतः वर्णधर्मकी कठोरता तथा सुगमताके विचारसे शूद्रधर्म सबसे प्रधान है और क्रमोन्नतिमें शीघ्र सफलता प्राप्तिके विचारसे शूद्रधर्म सर्वश्रेष्ठ है ।

अदूरदर्शी व्यक्तिगण ही शूद्रधर्मका विचार करते हुए ऋषियोंके पक्षपात-की वृथा कल्पना किया करते हैं। प्रवृत्तिधर्मकी सहायतासे आध्यात्मिक राज्यमें और मुक्तिपदकी ओर अग्रसर होनेके लिये शूद्रधर्ममें बड़ी ही सुगमता है। अन्यान्य वर्णोंकी अपेक्षा शूद्र अतिसुगमताके साथ जन्मान्तरमें उन्नत वर्णाधिकार और उन्नत लोक-अधिकारको तुरन्त ही प्राप्त कर लेते हैं। यही सब बातें वर्णधर्मके साथ प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मकी गतिको सिद्ध करती हैं।

जिस प्रकार वर्णधर्मके साथ प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्मका मिला जुला सम्बन्ध है उसी प्रकार आश्रमधर्ममें भी प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्मका सम्बन्ध है । मीमांसाशास्त्रमें कहा है कि "प्रवृत्ति रोधको वर्णधर्मः" "निवृत्तिपोषक-श्चाऽपरः" वर्णधर्ममें वर्णाचाररूप प्रवृत्तिधर्मकी प्रधानता रहनेपर भी प्रवृत्तिको रोककर निवृत्तिको क्रमशः बढ़ानेकी युक्ति भरी हुई है। मनुष्यका अंतःकरण एक परिच्छिन्न पदार्थ है इस कारण उसमें जितनी वृत्ति रह सकती है सो नियम और संख्यापूर्वक ही रह सकती है। इस कारण मनुष्यके अंतःकरणमें जितना प्रवृत्ति संस्कार घटेगा स्वभावतः ही निवृत्ति संस्कारसे वह स्थान भर जायगा क्योंकि वृत्तिसे खाली अन्तःकरण रह नहीं सकता है। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि मनुष्य-अन्तःकरणमें दोसौ वृत्तिके ठहरनेका स्थान है। प्रवृत्तिकी वृत्ति भी दोसौ होती हैं और निवृत्तिकी वृत्ति भी दोसौ होती हैं अतः वर्णधर्मके अधिकारी मनुष्योंमें शास्त्रोक्त आश्रमाचारके साधन द्वारा क्रमशः एक आश्रमधर्मी-मनुष्य जिसका अन्तःकरण उसकी प्रकृतिके अनुसार दोसौ प्रवृत्तिकी वृत्तियोंसे भरा हुआ है, वह यदि राजदण्ड, समाज-दण्ड, शास्त्रानुशासन अथवा आचार्यानुशासनके भयसे अपने वर्णधर्मका यथावत् पालन करे तो स्वभावतः उसकी निज प्रकृतिसे उत्पन्न प्रवृत्तिमूलक

वृत्ति कुछ कुछ घट जायगी। यदि वैसे मनुष्यका अन्तःकरण पचीस फी सैकड़ा प्रवृत्तिमूलक वृत्तिसे शून्य हो गया तो अगत्या उसके अन्तःकरणकी उस खाली जगहमें अपने आप ही निवृत्तिमूलक वृत्तियां जो उसमें नहीं थीं आकर उस खाली स्थानको भर लेंगीं। इस प्रकारसे क्रमशः आश्रमधर्म माननेवाले और उक्त आचारोंपर चलनेवाले मनुष्योंमें अपने अपने अधिकार और पुरुषार्थके अनुसार कुछ कुछ प्रवृत्तिका रोध हो जायगा। उसी प्रकार आश्रमधर्मके अनुसार क्रमशः निवृत्तिधर्मकी उन्नति हुआ करती है। आश्रमधर्मके जो आचार पूज्यपाद महर्षियोंने बांधे हैं वे इसी नियमसे बांधे हैं कि जिससे निवृत्तिके बढ़नेकी ओर ही प्रत्येक आश्रमकी गति बनी रहती है। शास्त्रमें कहा है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमोंमेंसे ब्रह्मचर्याश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्ति सिखाई जाती है और गृहस्थाश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्ति कराई जाती है। उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रममें शास्त्रोक्त निवृत्ति सिखाई जाती है और संन्यासाश्रममें शास्त्रोक्त निवृत्ति कराई जाती है। शास्त्रोक्त इस सिद्धान्तका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्याश्रममें निवृत्तिको प्रधान रखकर प्रवृत्ति मार्गका आचरण कैसे किया जाता है सो सिखाया जाता है और गृहस्थाश्रममें उसी निवृत्तिमूलक शिक्षाको प्रधान रखकर प्रवृत्तिकी चरितार्थता की जाती है। यदि यह शङ्का हो कि गृहस्थाश्रम तो प्रवृत्तिमूलक ही है, इसमें निवृत्तिके लक्षण कहां हैं। तो इस शङ्काके समाधान करनेमें यह कहा जा सकता है कि गृहस्थधर्मके सदाचार ही जीवकी अनर्गल प्रवृत्तिमूलक वृत्तियोंके रोकनेमें समर्थ होते हैं। उदाहरणरूपसे कुछ धर्माचारोंकी समालोचना की जाती है। गृहस्थका वात्सल्य, गृहस्थकी आत्मीय परिजन-सेवा आदि उसकी अनर्गल सुखेच्छाका बीजनाश करती है। गृहस्थकी अतिथिसेवा, गृहस्थकी स्वदेश तथा स्वसमाज आदिकी सेवा-प्रवृत्ति उसके स्वाभाविक अनर्गलभावको दूर करती है। गृहस्थका एक पत्नीव्रत, गृहस्थकी मातृभक्ति और कन्या स्नेह आदि उसकी अनर्गल कामप्रवृत्तिको छिन्न विच्छिन्न करके रोक देता है। गृहस्थका धर्मशास्त्रानुकूल धनका विभाग और धनव्यय और दान करनेकी आज्ञा उसकी अनर्गल धनलोलुपतासे उसको बचा देती है और गृहस्थका पञ्चमहायज्ञ साधन उसके अन्तःकरणकी क्षुद्रताका नाश करके उसको भगवत् राज्यमें पहुँचा देता है। इन सब धर्मोंका मौलिक-सिद्धान्त हम पहले वर्णन कर चुके हैं। सिद्धान्त यह है कि गृहस्थमें निवृत्तिको ही सामने रखकर भावशुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिधर्मके चरितार्थ करनेकी योग्यता पूर्ण रीतिसे सिखाई जाती है। आयुर्वृद्धिके साथ ही साथ जब

मनुष्यका शरीर और इन्द्रियां स्वभावसे ही निवृत्ति चाहने लग जाती हैं तब उसको यथाक्रम निवृत्तिधर्ममूलक वानप्रस्थाश्रम और सन्न्यासाश्रमका अधिकार दिया जाता है। वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमके आचरणोंपर ध्यान देकर यह न समझा जाय कि वानप्रस्थके तपोमूलक धर्म और संन्यासके त्यागमूलक धर्मोंसे एकाएक मनुष्य मुक्तिको ही प्राप्त कर लेता है। अनेकबार गृहस्थ सन्न्यासी होते हैं और जन्मान्तरमें पुनः सन्न्यासी गृहस्थ हुआ करते हैं। मनुष्यके मुक्त होने पर्यन्त यही आवागमन चक्र बना रहता है; परन्तु इसी आवागमन चक्रमें घूमता हुआ मनुष्य उन्नत आध्यात्मिक अधिकारोंको क्रमशः प्राप्त करता जाता है। यही पूज्यपाद महर्षियोंकी अलौकिक शास्त्रप्रणयनशक्ति और आचारनिर्माणकौशलका रहस्य है।

निवृत्ति धर्मका विस्तार कुछ भी अधिक नहीं है; परन्तु प्रवृत्ति धर्मका बहुत कुछ विस्तार है। इस सिद्धान्तका ज्वलन्त दृष्टान्त वेद है। इस सिद्धान्तका कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण दिया जाता है। निवृत्तिधर्मका आदर्श दृष्टान्त एक ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्तमें मिलता है और मूक, स्तब्ध, निष्क्रिय, जड़वत् होना ही उनका अन्तिम लक्ष्य है; परन्तु प्रवृत्तिधर्मके आदर्श स्थापनके लिये अगणित दृष्टान्त हैं। प्रवृत्ति मार्गका पथिक अगणित दृष्टान्तोंमेंसे किसीकी छविको अपने सम्मुख रखकर उस मार्गमें अग्रसर हो सकता है। सेवा धर्मके विचारसे रुद्रावतार श्रीहनुमान्‌का चरित्र आदर्श है। दानधर्मके विचारसे रघु, हरिश्चन्द्र, मयूरध्वज, शिबि, दधीचि आदिका चरित्र आदर्श है। तपोधर्मके विचारसे वाल्मीकि, विश्वामित्र, वसिष्ठ, नन्दिकेश्वर आदिका चरित्र आदर्श है। नारीधर्मके विचारसे सीता, सावित्री, अरुन्धती, शशिकला, मदालसा आदिका चरित्र आदर्श है। पुरुष-धर्मके विचारसे भीष्म, जनक, शंकराचार्य आदिका चरित्र आदर्श है। क्षात्रधर्मके विचारसे रामचन्द्र, अर्जुन, महाराणा प्रताप आदिका चरित्र आदर्श है। ब्राह्मण धर्मके विचारसे व्यास, वशिष्ठ आदि अनेक महर्षियोंका चरित्र आदर्श है। ब्रह्मचर्यधर्मके विचारसे शुक, कपिल आदिका चरित्र आदर्श है। गृहस्थधर्मके विचारसे मयूरध्वज, जनक, वशिष्ठ आदिका चरित्र आदर्श है। वानप्रस्थधर्मके विचारसे तो अनेक महर्षियोंके आदर्श चरित्र शास्त्रमें मिलते ही हैं। संन्यासधर्मके विचारसे प्राचीन युगमें याज्ञवल्क्य और नवीन युगमें शङ्कराचार्य आदिका चरित्र आदर्श है। पितृलोकके आदर्श अर्यमा, अग्निष्वात्ता आदि हैं। देवलोकके आदर्श इन्द्र, ब्रह्मा आदि हैं। ऋषि लोकके आदर्श सप्त ऋषि आदि नित्य ऋषिगण हैं। भोगलोकके आदर्श सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य आदि भोग

देह प्राप्त महात्मागण हैं। अध्यात्म आनन्दके विचारसे ऊर्द्ध्वलोकमें सत्यलोकके ज्ञाननिष्ठ महात्मा और इस लोकके निष्काम व्रतपरायण ईशकोटिके जीवन्मुक्त शंकराचार्य आदि हैं। यह सब प्रवृत्तिधर्मके फलसम्भूत अधिकारोंमेंसे बहुत थोड़ेसे ही कहे गये हैं। इन उदाहरणोंपर लक्ष्य डालनेसे विज्ञानवित् पण्डितगण स्वतः ही जान सकेंगे कि प्रवृत्तिधर्मका अधिकार कितना विस्तृत है। इस मीमांसाका सिद्धान्त यह है कि निवृत्तिधर्म्मका लक्ष्य केवल एक होनेसे उसकी गति केवल एक ही है; इसी कारण केवल निवृत्तिमूलक शास्त्र भी अल्प ही हैं; परन्तु प्रवृत्तिधर्म जो वेदानुकूल और आर्यजातिसे अनुमोदित है उसका अन्तिम लक्ष्य निवृत्ति और अध्यात्म लक्ष्ययुक्त होनेपर भी उसका पथ बहुशाखायुक्त है।

प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनोंका यथार्थ स्वरूप और दोनोंका यथार्थ रहस्य बिना समझे दोनोंके अन्तिम लक्ष्यरूप परमपदमें पहुंचनेसे पहले अपने अपने पथमें दोनोंसे अपने अपने सिद्धांतके अनुसार अनेक प्रकारके भ्रम प्रमाद हो सकते हैं क्योंकि शास्त्रमें कहा है:—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽऽवृताः"

प्रवृत्तिमूलक हो या निवृत्तिमूलक हो सकल प्रकारके आरम्भ ही धूमसे आवृत अग्निकी तरह दोषयुक्त हुआ करते हैं। यथाः—

उदाहरणके साथ इस अलौकिक कर्मरहस्यको कुछ समझानेकी चेष्टा की जाती है जिससे दोनों मार्गके पथिकको सावधानता प्राप्त हो सके। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि निवृत्तिमार्गका धर्म संन्यास लेते ही कोई जीवन्मुक्त नहीं हो सकता है। शास्त्रमें आज्ञा है कि तीन तीन वर्षमें कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस इन चार आश्रमोंमेंसे प्रथम तीनोंसे आगे बढ़कर परमहंस हो सकते हैं, यथाः—

व्रतं त्रयाणामाद्यानां प्रत्येकं तु त्रिवत्सरम् ।
व्रते पूर्णेऽधिकारे च लब्धे गुरुदयाबलात् ॥
आद्यो द्वितीयो भवितुं द्वितीयस्तु तृतीयकः ।
एवं तृतीयश्चरमः शक्नोति योग्यतां गतः ॥

इससे यह तात्पर्य नहीं है कि नौ वर्षके बाद संन्यास आश्रमको प्राप्त किया हुआ साधक परमहंस आश्रमको प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो सकता है।

परन्तु इससे तात्पर्य यही है कि इन धर्मोंका अभ्यास करते हुए संन्यासी उत्तरोत्तर निवृत्ति मार्गमें अग्रसर होता है और जन्मान्तरमें उक्त संन्यासियोंके आत्मा अपने निवृत्तिधर्ममूलक संस्कारोंको संग्रह करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं; क्योंकि शास्त्रमें कहा है:—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'

अनेक जन्मोंके संस्कारसमूहके बलसे सिद्धिलाभ करके तभी साधकको परम पद प्राप्त होता है।

इस प्रकारसे संन्यास संस्कारको उत्तरोत्तर अनेक जन्मोंमें बढ़ाते समय जो लोग त्यागवृत्तिसे आगे बढ़ते हुए प्रवृत्तिधर्ममूलक और निवृत्तिधर्ममूलक रहस्योंको भूल जाते हैं वे जन्मान्तरमें कर्मप्रवृत्तिहीन होकर प्रमाद-ग्रस्त हो सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे दिखाया जाता है कि यदि निवृत्ति-पथसे जानेवाले पथिक इस लोकमें संन्यासाश्रमको धारण करके निवृत्ति धर्मका पक्षपाती बना और बहुतसे विषयोंमें उसने निवृत्तिसंस्कार संग्रह किये और साथ ही साथ प्रवृत्ति धर्मपर अरुचि होनेसे उसपर उपेक्षाके संस्कार संग्रह किये परन्तु निवृत्तिकी पूर्णता न होनेसे और पुराने प्रवृत्ति संस्कार प्रबल रहनेसे उसको पुनः गृहस्थ होना पड़ा तो उस जन्ममें वह गृहस्थ होनेपर भी गृहस्थाश्रमके उन्नति करने वाले अनेक योग्य प्रवृत्तिधर्मोंकी ओर उसकी उपेक्षा रहेगी। उस स्वधर्म उपेक्षासे उसकी पुनः अधोगति होनेकी सम्भावना है। इसी प्रकारसे प्रवृत्तिमार्गगामी पथिक भी अनेक भ्रम प्रमाद कर सकता है; क्योंकि प्रत्येक धर्माङ्गके साथ सावधान न होनेसे प्रमाद होना स्वतःसिद्ध है। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि ज्ञानका उन्माद अहंकार है। ज्ञानीको अहंकार होना सम्भव है। उपासनाका उन्माद आलस्य है, उपासक अर्थात् भक्तको आलस्य होना सम्भव है। कर्मका उन्माद दम्भ है, कर्मीको दम्भ होना सम्भव है। तपका उन्माद क्रोध है। तपस्वीके लिये क्रोधी होना सम्भव है। इसी प्रकार जैसे प्रकाशके नीचे अन्धकार रहता है वैसे हरेक धर्माङ्गके साथ प्रमाद या उन्माद होना स्वतःसिद्ध है। इस कारण निवृत्तिधर्मपरायण और प्रवृत्तिधर्मपरायण उभय धार्मिकोंका जबतक वे अंतिम लक्ष्यरूप परमपद पर न पहुंचें प्रवृत्तिधर्म-रहस्य और निवृत्ति-धर्मरहस्यपर पूरा ध्यान रखना उचित है।

तृतीय काण्डकी आठवीं शाखा समाप्त हुई।

आपद्धर्म्म ।

साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म नामक अध्यायमें दिखाया गया है कि अधिकार और अधिकारीके निर्णयके साथ सर्व जीवहितकर सर्वव्यापक धर्म्मके जिस अङ्गोपाङ्गके आचरणका निर्णय होता है उसको विशेष धर्म्म कहते हैं। उसके बादके अध्यायोंमें अनेक विशेष विशेष धर्म्मोंका वर्णन क्रमशः किया गया है। आपद्धर्म्म भी विशेष धर्म्मके विराट् शरीरका एक प्रधान विभाग है। देश काल पात्र और भावके विचारानुसार आपद्धर्म्मका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्म्मनिर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित हैं; इस कारण इसको आपद्धर्म्म कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सन्मुख रखकर वर्त्तमान देश, वर्त्तमान काल और वर्त्तमान पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म्म निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म्म कहते हैं।

ज्ञान और विज्ञान निर्णीत जितने प्रधान तत्त्व हैं सब तत्त्वोंमें भावतत्त्व सबसे प्रधान है। अनुभवगम्य तत्त्वोंमें भाव सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म है इसी कारण परब्रह्मको भावातीत कहा है। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि सूक्ष्माति सूक्ष्म जो भाव रूपी अन्तिम तत्त्व है उस तत्त्वसे भी परे परब्रह्मका अनुभव है। भावतत्त्वका अनुभव स्पष्ट करनेके अर्थ विचार किया जाता है। पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है किः—

गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ता भावैस्तदनुभवः।

इस सूत्रका तात्पर्य्य यह है कि महामायाके विलासरूप इस दृश्यमय प्रपञ्चकी सृष्टि, उसकी स्थिति और उसका लय रज, सत्त्व और तमोगुणके अनुसार यथाक्रम होता है और इस प्रपञ्चमय दृश्यका अनुभव भावसे होता है, अर्थात् भावतत्त्वकी सहायतासे दृश्य पदार्थका ज्ञान द्रष्टाको होता है। साधारण तौरपर भी इस संसारमें देखनेमें आता है कि मनुष्य जिस भावके अधीन रहता है दृश्यरूपी विषय उस द्रष्टारूपी मनुष्यको उसी प्रकारके स्वरूपमें दिखाई देने लगता है। विषयी मनुष्यको यह संसार विषय-सुखसे भरा हुआ प्रतीत होता है और वैराग्यवान् व्यक्तिको यह संसार दुःखमय प्रतीत होता है।

दूसरा उदाहरण समझा जाय कि स्त्रीरूपी एक ही विषय कामी व्यक्तिके लिये कामभोगका यन्त्र, विचारवान् व्यक्तिके लिये माया और सौन्दर्य्यका आधार तथा ज्ञानी व्यक्तिके लिये जगत्प्रसविनी महामायाकी स्थूल प्रतिकृति (नमूना) दिखाई देता है। तीन पृथक् पृथक् भावोंके अनुसार स्त्रीरूपी एक ही विषय तीन पृथक् व्यक्तियोंको तीन पृथक् रूपमें दिखाई देने लगता है। सिद्धान्त यह है कि सृष्टि स्थिति लयात्मक यह संसार या इसके प्रत्येक पदार्थ भावकी सहायतासे ही अनुभूत होते हैं इस कारण भाव अन्तिम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है।

भावतत्त्वके स्वरूपको पूर्णरूपसे स्पष्ट करनेके अर्थ अन्तःकरण विज्ञानका स्वरूप समझने योग्य है। अन्तःकरणके चार भेद हैं, यथा—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार, इसी कारण इसको अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। संकल्प-विकल्प जिस तत्त्वसे उठता है उसको मन कहते हैं। विना कारण जब वृत्ति नाचती रहती है और नाना इच्छाएं एकके बाद एक उठती रहती हैं और किसी सिद्धान्तपर नहीं ठहरतीं, यह मनतत्त्वका कार्य्य है। मनके नचाने वाले संस्कार अथवा और भी पूर्वार्जित अनन्त संस्कारोंके चिह्न जहाँ अङ्कित रहते हैं उस तत्त्वको चित्त कहते हैं। जो तत्त्व सत् और असत् विचार करके सिद्धान्त निश्चय करता है उसको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिकी सहायतासे ही मनुष्य अपने अधिकारके अनुसार अच्छा बुरा, हेय उपादेय और पाप पुण्य आदि निर्णय करनेमें समर्थ होता है और अहङ्कारतत्त्व उसका नाम है कि जिसके बलसे जीव अपने आपको इस विराट् ब्रह्माण्डसे एक स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें मानता है। अहङ्कारतत्त्वके बलसे ही मनुष्य अपने आपको मनुष्य, स्त्री या पुरुष, दरिद्र या धनी, राजा या प्रजा इत्यादि रूपसे समझनेमें समर्थ होता है। अन्तःकरणके इन मन चित्त बुद्धि और अहङ्काररूपी चार तत्त्वोंमेंसे चित्ततत्त्व मनतत्त्वका और अहङ्कारतत्त्व बुद्धितत्त्वका अन्तर्विभाग है। चित्तमें कर्म्मके बीजरूपी संस्कार अङ्कित हैं और वह पीछेसे पड़दा दिखाता है इस कारण मन अहर्निश चञ्चल होकर नाचा करता है अतः स्पष्ट रूपसे निश्चित हुआ कि चित्त, मनका अन्तर्विभाग है। उसी प्रकार बुद्धितत्त्वकी चालना अहङ्कारतत्त्वकी सहायतासे होती है, जिस जीवमें जैसा अहङ्कार रहता है वह केवल उसीके अनुसार अपनी बुद्धिकी चालना कर सकता है। जो स्त्री है वह स्त्रीत्वके अहङ्कारसे, जो पुरुष है वह पुरुषत्वके अहङ्कारसे, जो गृहस्थ है वह गृहस्थके अहङ्कारसे, जो सन्न्यासी है वह संन्यासीके

अहंकारसे, जो प्रजा है वह प्रजाके अहङ्कारसे और जो राजा है वह राजाके अहङ्कारसे अपने अहङ्कारके अनुसार सत् असत् और हेय उपादेय आदिका सिद्धान्त निश्चय कर सकता है अतः निश्चय हुआ कि अहङ्कारतत्त्व बुद्धि-तत्त्वका अन्तर्विभाग है; परंतु अहङ्कारतत्त्वके भेद अलौकिक हैं। मैं मनुष्य हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं धनी हूँ, मैं दरिद्र हूं, मैं दुर्बल हूँ, मैं शक्तिशाली हूं, मैं प्रजा हूँ, मैं राजा हूं, यह सब मलिन अर्थात् अशुद्ध अहङ्कार हैं। मैं वेदज्ञ हूँ, मैं तत्त्वज्ञ हूं, मैं ब्रह्मज्ञ हूं और मैं ब्रह्म हूँ, यह शुद्ध अहङ्कार हैं। मलिन अहङ्कार जीवको इन्द्रियोंमें लगाकर गिरा देता है और शुद्ध अहङ्कार साधकको आत्माकी ओर अग्रसर करके मुक्तिभूमिमें पहुंचा देता है। मन-तत्त्वको अभिभूत करने वाला जैसा चित्ततत्त्व है उसी प्रकार बुद्धितत्त्वको अभिभूत करने वाला अहंकार तत्त्व है। संसारी मनुष्यको जिस प्रकार स्त्री मायारज्जुसे बांधकर संसारका कार्य्य कराती है उसी प्रकार चित्त मनको और अहंकार बुद्धिको फँसाकर कार्य्य कराया करते हैं।

जीव संस्कारोंका दास है, वासनासे उत्पन्न संस्कार ही मनुष्योंको जकड़ कर रखते हैं। आसक्ति ही इस बन्धनका मूल कारण है। वासनासे संस्कार, संस्कारसे कर्म्म, कर्म्मसे पुनः वासना, वासनासे पुनः संस्कार, इस प्रकारसे वासनाका चक्र और जीवका आवागमन बना रहता है। पूर्व्वजन्मार्जित कर्मसंस्कार अथवा इस जन्मकी संगकी स्मृति जैसी मनुष्यके चित्तमें अङ्कित रहती है उसी प्रकारकी आसक्ति उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उसी आसक्तिके अनु-सार मनुष्य उसी आसक्तिसम्बन्धीय विषयमें जकड़ा रहता है। आसक्ति चित्तकी सहायतासे मनमें उत्पन्न होती है, चित्त और मनरूपी स्त्री पुरुषके सङ्गम-से आसक्तिका जन्म होता है। पुत्र जिस प्रकार पिताके प्रजातन्तुको रक्षा करके पिताके अधिकारको प्राप्त होता है उसी प्रकार आसक्तिके बलसे मन खिंचकर आसक्तिसे सम्बन्धयुक्त विषयको धारण कर सृष्टिको अग्रसर करता है। दूसरी ओर बुद्धिराज्यका सिद्धान्त कुछ और ही है। वहां अहङ्कार और बुद्धिके सङ्गमसे भावतत्त्वका उदय होता है। अशुद्धभाव बुद्धिको विषयवत् कर देता है और शुद्ध भाव क्रमशः अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचा देता है। मनुष्य केवल दो तत्त्वकी सहायतासे ही शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म्म करनेमें समर्थ होते हैं। या मनुष्यगण आसक्तिके वशीभूत होकर कर्म्म करते हैं या किसी भावसे प्रेरित होकर कर्म्म करते हैं। आसक्तिमें विवशता है परन्तु भावमें स्वाधीनता है। आसक्तिकी

बहुशाखा हैं क्योंकि विषय अनन्त हैं; परन्तु शुद्ध भाव एक अद्वैत दशाको प्राप्त हो सक्ता है क्योंकि ब्रह्मपद अद्वैत है। आसक्तिसे काम करनेवाले मनुष्य प्रारब्धकी सहायता, गुरुकी सहायता या देवताओंकी सहायतासे ही बच सकते हैं नहीं तो उनका फँसना निश्चित है; परन्तु शुद्ध भावकी सहायतासे कर्म्म करनेवाले भाग्यवान् कदापि नहीं फंसते। उत्तरोत्तर उनकी ऊर्द्ध्वगति ही होती रहती है। मनुष्यने पूर्वजन्मोंमें जैसे संस्कार संग्रह किये हैं उसीके अनुसार उसमें आसक्ति होगी। उसी आसक्तिके अनुसार उसको हेय और उपादेयका विचार होगा, क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही आसक्तिमूलक हैं। जिस मनुष्यमें पूर्व्वजन्मार्जित जिस प्रकारकी आसक्ति है उसी आसक्तिके अनुसार वह विषयमें सुख दुःख अनुभव करेगा और उसी संस्कारके अनुसार उसके निकट जो विषय सुख देगा वही उपादेय और जो दुःख देगा वही हेय समझा जायगा। उपादेय विषयमें राग और हेय विषयमें द्वेष होना स्वतः सिद्ध है इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि जो मनुष्य केवल आसक्तिके द्वारा चालित होते हैं वे सब समय बंधे रहते हैं, वे कदापि मुक्तिकी ओर अग्रसर नहीं हो सकते। हां, यदि कोई और शक्ति उनको सहायता करे और बलपूर्व्वक खेंचे तभी वे उस जकड़ी हुई अवस्थामें भी कुछ आगे बढ़ सकते हैं। यदि पूर्व्वजन्मार्जित कोई विशेष कर्म्म बलवान् हो कि जो कर्म्म उसके प्रारब्धबलसे सामने आकर उसको रोके अथवा उसपर करुणामय गुरुकी कृपा हो अथवा उसको दैवी सहायता हो तभी वह आसक्तिसे जकड़ा हुआ व्यक्ति ऊपरकी ओर कुछ चल सक्ता है, नहीं तो उसका नीचेकी ओर गिरना और बन्धनदशामें बना रहना सदा सम्भव है। अशुद्धभाव तो आसक्ति राज्यमें ही रखने वाला तत्त्व है। आसक्तिमें बंधे हुए जो जीव चलते हैं अशुद्धभाव उनका स्वतः ही साथी है क्योंकि बिना भावके विषयका अनुभव नहीं होता है; परन्तु शुद्धभावकी सहायता लेकर चलनेवाले सज्जनोंकी गति कुछ विलक्षण ही है। शुद्धभाव ब्रह्मसे युक्त होनेके कारण उसमें नीचेकी ओर गिरनेकी कोई सम्भावना भी नहीं है।

सब तत्त्वोंका अन्तिम तत्त्व तथा साधकको ब्रह्मपदवी दिलाने वाला भाव तत्त्व है, उसके विषयमें श्रीसंन्यासगीतामें इस प्रकार लिखा है:—

भाव एवाऽत्र सूक्ष्माऽग्निसूक्ष्मतत्त्वं निगद्यते।
भावात्सूक्ष्मतरं किञ्चित्तत्त्वं न परिलक्ष्यते॥

भावाऽतीतमपि ब्रह्म ज्ञायते योगिभिः सदा।
साहाय्येनैव भावस्य प्रथमं तत्त्ववेदिभिः॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतौ भावमन्तिमालम्बनं विदुः।
सारूप्यावस्थितौ वृत्तेः सदसद्भावभेदतः॥
उत्पद्येते तु भावेन पुण्यपापे उभे अपि।
सूक्ष्मावस्था तु भावस्य त्रैविध्यमवलम्बते॥
आध्यात्मिकाऽऽधिदैवाऽऽधिभौतिकानीति शास्त्रतः।
ज्ञानिना भक्तराजेन तत्त्रयस्याऽवलम्बतः॥
ब्रह्मेश्वरविराट्रूपैर्भगवान् दृश्यते क्रमात्।
ब्रह्माण्डेषु च सर्वत्र ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
भावांस्त्रीन् सततं सम्यक् वीक्षन्ते सर्ववस्तुषु।
भावो हि स्थूलाऽवस्थायां सदसद्रूपमास्थितः॥
स्वर्गञ्च नरकञ्चैव प्रापयत्यत्र मानवान्॥

इस संसारमें भाव ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, भावकी अपेक्षा सूक्ष्मतर कोई तत्त्व नहीं है। भावातीत भी ब्रह्म भावकी सहायतासे ही तत्त्ववेत्ता योगियोंके द्वारा पहले जाने जाते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार करनेमें अन्तिम अवलम्बन भाव ही है। वृत्तिसारूप्यमें भावके सत् और असत् इन दो भेदोंसे क्रमशः पुण्य और पापका उदय हुआ करता है। भावकी सूक्ष्म अवस्था तीन प्रकारकी होती है; यथाः - आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। भक्तराज ज्ञानी महापुरुष इन तीनों भावोंके अवलम्बनसे ब्रह्म ईश्वर और विराट्रूपोंमें भगवान्के दर्शन करते हैं। तत्त्वदर्शी ज्ञानी सब ब्रह्माण्डोंकी सब वस्तुओंमें तीनों भावोंको अच्छी तरह देखा करते हैं। स्थूलावस्थामें भाव सत् और असद्रूपोंका आश्रय करके स्वर्ग और नरकको प्राप्त कराता है।

भावके साथ आसक्ति और आसक्तिके साथ भावका भी रहना स्वतःसिद्ध है; क्योंकि आसक्तिके विना कर्म्म नहीं हो सकता और विना भावके विषय अनुभवमें नहीं आ सकता। आसक्तिकी जहाँ प्रधानता होती है वहां असद्भाव गौणरूपसे रहता है; परन्तु जहां शुद्ध भावकी प्रधानता होती है वहां आसक्ति भी बहुत क्षीणता धारण करके छिपी हुई रहती है, किन्तु इस दशामें आसक्ति बलहीन हो जाती है। सद्भावमें आसक्तिका रहना सम्भव है इसी कारण

भक्तिशास्त्रमें शुद्धभावयुक्त रागात्मिका भक्तिके भेदोंको आसक्ति कहते हैं, यथाः—दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति इत्यादि। शुद्ध भावकी प्रधानतामें विलक्षणता यह है कि शुद्ध भावकी सहायतासे पापकार्य्य पुण्यकार्य्यमें और प्रवृत्तिधर्म्म निवृत्तिधर्म्ममें परिणत हो सकता है। इसी कारण आपद्धर्ममें पूज्यपाद महर्षियोंने भावतत्त्वकी प्रधानता मानी है। केवल शुद्ध भावकी सहायतासे मनुष्य प्रवृत्तिधर्म्मके साधनोंको अभ्यास करते हुए क्रमशः शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण हो जाता है। शुद्ध भावकी सहायतासे प्रवृत्तिधर्म्मका साधन करते रहनेपर भी उन्नत अधिकारी क्रमशः भुव, स्वः, जन, तप आदि उन्नत भोगलोकोंको प्राप्त कर सकता है। शुद्ध भावकी सहायतासे ही आध्यात्मिक उन्नति लाभ करता हुआ पुण्यात्मा उच्च अधिकारी देवत्व ऋषित्व आदि उन्नत दिव्य अधिकारोंको प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, व्यास, वसिष्ठादि दिव्यपद, ये सब शुद्ध भावकी सहायतासे ही प्राप्त होते हैं। इस विज्ञानका विस्तारित रहस्य प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म्म नामक अध्यायमें वर्णन किया गया है। यह केवल शुद्ध भावकी सहायतायुक्त साधनका ही फल है कि जिससे प्रवृत्तिके अधिकार निवृत्तिमें परिणत हो जाते हैं और भावशुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त किया हुआ तपस्वी या यज्ञपरायण साधक या तो अन्तिम सत्यलोकमें पहुंच कर निवृत्तिधर्म्मके पूर्ण अधिकारको प्राप्त करता हुआ सूर्य्यमण्डल-भेदन द्वारा ब्रह्मसायुज्यरूपी मुक्ति पदको प्राप्त कर लेता है अथवा इसी देहमें सहजगतिको प्राप्त करके ईशकोटिके जीवन्मुक्तकी सर्व्वश्रेष्ठ पदवीको प्राप्त कर लेता है। भावशुद्धि द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है, भावशुद्धिमें उत्तरोत्तर उन्नति लाभ करता हुआ मुमुक्षु मुनि क्रमशः अपने अन्तःकरणको पूर्णरूपसे रज-तमके मलसे विशुद्ध कर लेनेमें समर्थ होता है और इसी शैलीके अनुसार शुद्ध भावके प्रभावसे प्रवृत्तिमूलक आचरणसमूह भी साधकको निवृत्तिके आचरणका फल प्रदान किया करते हैं। प्रवृत्तिमूलक भाव जब निवृत्तिभावमें परिणत होते हैं तो उस दशाको अन्तर्द्रष्टा योगिगणने चार भागमें विभक्त किया है। प्रथम अवस्था वह कहाती है कि जब मलिन भावकी प्रधानता रहनेके कारण प्रवृत्तिकी ही प्रधानता रहे। दूसरी अवस्था वह कहाती है कि जब मलिन भाव कुछ शुद्ध होने लगा हो परन्तु वृत्ति प्रवृत्तिकी ओर ही झुकती हो और कभी कभी निवृत्तिके संस्कार मनमें उदय होते हों। तीसरी अवस्था वह कहाती है कि जब मलिन भाव और अधिक शुद्धताकी ओर अग्रसर हुआ हो और उस समय निवृत्ति अच्छी

लगती हो परन्तु प्रवृत्तिका आनन्द भी समय समयपर मनको प्रवृत्तिके सुखकी ओर खींच लेता हो और चौथी उत्तम अवस्था वह कहलाती है कि जिस समय मनमें शुद्ध भावकी प्रधानताके कारण निवृत्ति ही मनमें स्थापित हो गई हो और प्रवृत्तिकी ओर मन झुकता ही नहीं हो। इस प्रकारसे भावशुद्धि-की सहायतासे अन्तमें अन्तःकरण निवृत्तिमय हो जाता है और उस समय साधकमें प्रवृत्तिमूलक कर्म्म भी निवृत्तिके अधिकारके फल प्रदान किया करते हैं। कर्म्मयोग विज्ञान इसी सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखता है।

शुद्ध भावकी सहायतासे किस प्रकारसे पापकर्म्म पुण्यकर्म्ममें परिणत हो सकता है इसके समझनेके लिये कर्म्म-रहस्यका कुछ वैज्ञानिक तात्पर्य्य समझने योग्य है। कर्म्ममीमांसा दर्शनमें कहा है:—

"कर्म्मबीजं संस्कारः"

"संस्कारशुद्ध्या क्रियाशुद्धिः"

"तया मोक्षोपलब्धिः"

इन सूत्रोंका तात्पर्य्य यह है कि कर्म्मका बीज संस्कार है और संस्कार-शुद्धिसे क्रियाशुद्धि होती है एवं क्रियाशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे एक वृक्ष जब अपने समयपर फूल और फल देकर मर जाता है तो उसका बीज यदि रह जाय तो उस बीजको जमीनमें बोनेसे पुनः वैसे ही वृक्षकी उत्पत्ति हो जाती है। वह बीज बरसों तक सुरक्षित रह सकता है और जब बोया जाय तब ही वैसा ही वृक्ष उत्पन्न कर सकता है। ठीक उसी प्रकार मनुष्यके शारीरिक वाचनिक और मानसिक कर्म्म जैसे जैसे वह मनुष्य करता है वैसे वैसे कर्म्म बीजरूपी संस्कार उस मनुष्यके चित्ता-काशमें जमा होकर सुरक्षित होते जाते हैं और कालान्तरमें उनकी अङ्कुरित होनेकी वारी आनेपर वे बीजरूपी संस्कार जन्मान्तर उत्पन्न करके जाति, आयु और भोगरूपी फल उत्पन्न करते हैं। पुनः उन्हीं फलोंके साथ ही साथ नये कर्म्मसे नये बीज बनकर जीवके चित्ताकाशमें एकत्रित होते हैं, इस प्रकारसे जीवका आवागमनचक्र बराबर बना रहता है। यदि शुद्ध भाव द्वारा संस्कारोंकी शुद्धि की जाय तो कर्म्मकी शुद्धि होती है और यदि कर्म्म-की शुद्धि हो जाय तो वे कर्म्म पुनः जीवको बन्धनप्राप्त नहीं कराते और इसी प्रकार निष्काम कर्म्मरूपी कर्म्मशुद्धिसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। यही कर्म्म-मीमांसाका सिद्धान्त है। जब शुद्ध भावोंके द्वारा संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि

होकर मोक्षकी प्राप्ति तक मनुष्यको हो सकती है तब शुद्ध भावोंके प्रभावसे असत् पापकर्म सत् पुण्यकर्ममें परिणत होंगे इसमें संदेह ही क्या है? इस विज्ञानको कुछ और भी स्पष्ट करनेके लिये उदाहरण दिया जाता है कि वैदिक सोमयज्ञमें छागपशुकी बलि होती है, छाग बलिदानरूप पशुहनन कार्य साधारणरूपसे असत् अधर्मकार्य्य है, क्योंकि एक जीवको अपने नियमित आयुसे पहले मारकर प्रकृतिके नियममें बाधा देनेसे और हिंसाकार्य्य द्वारा तामसिक वृत्तिके संग्रह करनेसे अवश्य ही अधर्म्म होता है; परन्तु सोमयज्ञमें देवताओंकी प्रसन्नता और यजमानकी अपनी इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयरूपी धर्मवासनाके रहनेसे उसके अन्तःकरणके शुद्धभाव द्वारा संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि होकर पशुहननरूपी अधर्मकार्य्य भी यज्ञका अङ्ग होनेके कारण धर्मकार्य्य हो जाता है। यदि यजमान सकाम हो तो उसके सकाम आसक्ति और धर्म्मजनित शुद्धभावके कारण उसको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। स्वर्ग पुण्यकर्मका फल है इस कारण सोमयज्ञरूपी धर्म साधन द्वारा उसको पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है और यदि यजमान निष्काम हो और केवल देवताओंकी प्रसन्नता, जगत् कल्याणबुद्धि अथवा कर्त्तव्य परायणतासे वह सोमयज्ञ करता हो तो वह यज्ञ उसके मोक्षका कारण होगा। प्रथम दशामें धर्म भावरूपी शुद्धभावके कारण अर्थात् यजमानके अन्तःकरणकी भावशुद्धिके कारण उसके अन्तःकरणमें संस्कार शुद्धि होकर उसको पशुयागरूपी सोमयज्ञ द्वारा पुण्यफलरूपी स्वर्गकी प्राप्ति होती है। यही संस्कारशुद्धि द्वारा क्रियाशुद्धि है और यदि यजमान निष्काम व्रतपरायण हो तो अधिकता यह होगी कि उसकी वह यज्ञरूपी क्रिया नवीन बीज उत्पन्न करनेमें असमर्थ होगी, उसके अन्तःकरणका यह संस्कार बीज भर्जित बीजके सदृश हो जायगा। उस दशामें वह पशुयज्ञरूपी यज्ञकर्म उस यजमानके मुक्तिका कारण होगा। यही क्रियाशुद्धिसे मोक्षप्राप्तिका विज्ञान है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यह स्पष्ट निश्चित हुआ कि शुद्ध भावकी सहायतासे मनुष्य असत् पाप करता हुआ भी पवित्र पुण्य कर्म्मका फल लाभ कर सकता है। सुतरां वर्णाश्रम आदि विशेष धर्मके अनुसार अयोग्य कार्य भी आपत्ति विचारसे धर्म्मरूपमें परिणत हो सकता है यदि आवश्यकता हो।

आपद्धर्म्मके निर्णय करनेमें पात्र, भाव और देश काल इनके सम्बन्धके विचार करनेकी आवश्यकता होती है। भावका स्वरूप हम वर्णन कर चुके हैं अब पात्रका स्वरूप यथावश्यक कहा जाता है। अधिकारनिर्णयके साथ

पात्रका सबसे प्रधान सम्बन्ध है। योग्यता, प्रकृति, प्रवृत्ति आदिके विचारसे अधिकारनिर्णय होता है। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि कर्त्ता तीन प्रकारके होते हैं, यथाः—

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विशादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥

इन वचनोंका तात्पर्य्य यह है कि मुक्तसंग, निरहंकार, धृति और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार कर्त्ता सात्त्विक है। अनुरागवान्, कर्म्मफलकी इच्छा करने वाला, लोभी, हिंसक, अशुचि और हर्षशोकसे युक्त कर्त्ता राजसिक है और असावधान, प्राकृत, स्तब्ध, शठ, निकम्मा, आलसी, विशाद करने वाला और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस है।

ऊपर लिखित सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्त्ताके तीनों अधिकारोंके अनुसार क्रियाका अवश्य ही भेद होना सम्भव है; क्योंकि सात्त्विक कर्त्ता जिस प्रकार एक धर्म्मके साधन करनेमें समर्थ है राजसिक कर्त्ता उस प्रकार करनेमें समर्थ नहीं हो सकता और राजसिक कर्त्ता जिस धर्म्मको अच्छी तरहसे निर्वाह कर सकता है तामसिक कर्त्ता उसको नहीं कर सकता। प्रथम तो कर्त्ताके इन तीनों भेदोंके अनुसार योग्यता भी अलग अलग होगी, प्रकृति भी अलग अलग होगी और प्रवृत्ति भी अलग अलग होगी। ये सब बातें सत्त्व रज तम इन तीन गुणोंके अनुसार निर्णय करने योग्य हैं। द्वितीय पूर्व्व अध्यायोंमें कथित विशेष धर्मके अनुसार विशेष विशेष पात्रके विशेष विशेष धर्म्मानुरूप अधिकारोंको देखकर आपद्धर्म्म निर्णय करना होगा। ब्राह्मणधर्म्म, क्षत्रियधर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म, नारीधर्म्म, पुरुषधर्म्म, ब्रह्मचारीधर्म्म, गृहस्थधर्म्म, वानप्रस्थधर्म्म, संन्यासधर्म्म, राजधर्म्म, प्रजाधर्म्म, आर्य्यजातिधर्म्म, अनार्य्यजातिधर्म्म और नेताधर्म्म आदिका विचार रखकर देशकालकी आवश्यकताके अनुसार भावशुद्धिपूर्व्वक आपद्धर्म्म निर्णय करनेका आवश्यकता होती है।

देश और कालका अधिकार निर्णय करनेके लिये देश और कालका

२५

विस्तारित स्वरूप हृदयङ्गम कर लेना प्रधान आवश्यक है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामाया इन दोनोंकी साक्षात् विभूति काल और देश है इसी कारण काल और देश विस्ताररूपसे अनादि और अनन्त है। अतः श्रीभगवान्के सिवाय ऋषि, देवता, पितर तथा स्थावरजङ्गमात्मक इस विश्वके सब विषय और पदार्थ देश कालसे परिच्छिन्न हैं। श्रीभगवान् ही केवल देशकालसे अतीत हैं; अर्थात् केवल सर्व्वशक्तिमान् भगवान्के अधीनहीं देश काल हैं और भगवान् उनसे बाहर हैं एवं यह त्रिगुणात्मक सृष्टि और उसके स्थावर जङ्गमात्मक सब वैभव देश कालके अधीन हैं। सुतरां देश कालके विचारसे धर्म्माधर्म्म निर्णयमें विशेषत्व होना स्वतःसिद्ध है। देशका स्वरूप साधारण विचार द्वारा समझनेके लिये यह सोचना चाहिये कि हमारे चारों ओरकी दश दिशाएँ, यथा—ऊर्द्ध्व, अधः, पूर्व्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्नि, नैर्ऋत्य, वायु और ईशान, ये कहां तक विस्तृत हैं और इनका अन्त कहां है? इस शङ्काके उत्तरमें यही सिद्धान्त होगा कि हमारी इस पृथिवीकी दशों दिशाओंमें आदि अन्त रहित आकाश-व्यापी देश विद्यमान है। उसी आदि अन्तरहित आकाशमें विविध ग्रह, उपग्रह सूर्य्य चन्द्रसे व्याप्त अनन्त ब्रह्माण्डसमूह एक दूसरेके बाद कहां तक फैले हुए हैं इसका पता नहीं चल सकता। आदि अन्तरहित देश जो हमारे सकल ओरकी दश दिशाओंमें विभुरूपसे विद्यमान हैं उसके विस्तारका कुछ भी पता नहीं चल सकता। श्रीभगवान्की साक्षात् विभूतिरूप आदिअंतरहित देशका यही अलौकिक अनुभव है; ठीक उसी प्रकार आदिअंतरहित कालका भी अनुभव समझने योग्य है। पलसे घड़ी, घड़ीसे प्रहर, प्रहरसे दिनरात, दिनरातसे पक्ष, पक्षसे मास, माससे वर्ष, वर्षसे युग, युगसे कल्प, इस प्रकारसे यद्यपि कालके अंतर्विभागका स्वरूप बांधा जा सकता है परन्तु यह नहीं अनुभवमें आ सक्ता कि यह काल कबसे प्रकट हुआ है और कब इसका अन्त होगा। इस अनादि अनन्त कालके गर्भमें स्थावरजङ्गमात्मक तिर्यक् मनुष्य आदि लौकिक सृष्टिसे सुशोभित और ऋषि देवता पितृ आदि दैवीसृष्टिसे समलंकृत अनेक ग्रह उपग्रहोंसे सुसज्जित अनन्त ब्रह्माण्डसमूह उत्पत्ति और लयको प्राप्त होते आये हैं, हो रहे हैं और होंगे परंतु कालका आदि और अन्त किसीको भी ज्ञात नहीं होगा। श्रीभगवान्की साक्षात् विभूतिरूप आदि और अंत रहित कालका यही अलौकिक अनुभव है। वैदिक-विज्ञानके अनुसार श्रीभगवान् देश और कालके स्रष्टा होनेपर भी जीवकी दृष्टिमें देश और कालका आदि अन्त दिखाई नहीं दे सकता। जिस प्रकार सगुणब्रह्मरूपी श्रीभगवान्के दो स्वरूप

हैं एकका नाम परमपुरुष और दूसरेका नाम मूलप्रकृति कहते हैं उसी प्रकार शास्त्रकारोंने देशको स्त्री और कालको पुरुष करके वर्णन किया है। जैसे स्त्री और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही पुत्र उत्पन्न होता है उसी प्रकार देश और काल दोनों ही दृश्यरूपी प्रपञ्चके सृष्टिस्थितिलयमें सहायक होते हैं। इसी कारण देश और कालकी सेवासे किस प्रकार मनुष्योंको लाभ पहुंचता है उसका वर्णन मीमांसादर्शनमें इस प्रकारसे किया गया है किः—

"विभूतित्वात्सेव्याः पितृकालमहाकालाः"

"मातृदेहजन्मभूमयश्च"

"तथात्वात्पुण्यशक्तिमुक्तयः"

श्रीभगवान्की विभूति होनेसे पिता, काल और महाकाल सेवनीय है और उसी प्रकारसे माता, देह और जन्मभूमि सेवनीय है। पिता और माताकी सेवाके द्वारा पुण्य, काल और देहकी सेवाके द्वारा शक्ति और महाकाल और जन्म भूमिकी सेवाके द्वारा मुक्ति होती है। इस विज्ञानका तात्पर्य्य यह है कि पिता, काल और महाकाल तथा माता, देह और जन्मभूमि ये तीनो यथाक्रम काल और देशसे सम्बन्धयुक्त हैं। निर्लिप्त, सर्वव्यापक काल और देशके ही ये तीन तीन अलग स्वरूप विभूतिरूपसे प्रकट हुए हैं। नहीं तो दोनोंका स्वरूप अचिन्त्य है।

महाकाल और देशका विराट् स्वरूप, ये दोनों सर्वव्यापक स्वरूप हैं। इन्हींके साक्षात् विभागरूप काल और देशका वर्णन अन्य दर्शनोंमें है। उस विषयमें वैशेषिकदर्शनमें कहा है कि—

"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"

"द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते"

"तत्त्वं भावेन"

"नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति"

"इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्ग"

"द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते"

"तत्त्वं भावेन"

"कार्यविशेषेण नानात्व"

"आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची"

"तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च"
"एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि"

इन सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि जो एकदम प्रतीन हो, औरमें और प्रतीत हो तथा थोड़ा या बहुत समय विशिष्ट हो इत्यादि लक्षणोंसे कालका स्वरूप जाना जाता है, वह द्रव्यत्व और नित्यत्वरूपसे वायुके समान है। वह भावके समान एकत्व सम्बन्ध युक्त है। वह नित्य पदार्थमें अभावरूपसे और अनित्य पदार्थमें भावरूपसे प्रतीत होता है। इसी प्रकारसे देशको भी समझना उचित है। उसमें कालके समान ही कुछ बातें होनेपर भी कार्यविशेषसे उसका नानात्व होता है और प्रत्येक ब्रह्माण्डके केन्द्र सूर्यगोलककी स्थितिके सम्बन्धसे देशकी दसों दिशाओंका विभाग कल्पित होता है। इस विज्ञानसे तात्पर्य यह है कि विराट् काल और विराट् देश सर्वव्यापक और आदि अन्त रहित विराट् मूर्त्तिसे युक्त होनेपर भी उन दोनोंकी साक्षात् विभूति-रूप काल और देश कर्मसे उत्पन्न नाना उपाधियोंके सम्बन्धसे नाना रूप धारण कर लेते हैं। वास्तवमें काल और देश सबसे अलग और सबमें व्यापक होनेपर भी जैसे ब्रह्ममें मायाके प्रभावसे दृश्यरूपी जगत् प्रपञ्चका भान होता है उसी प्रकार कर्मसे उत्पन्न समष्टि और व्यष्टि सृष्टिके कारण विराट् काल और विराट् देशमें परिच्छिन्न काल और परिच्छिन्न देशका अलग अलग भान होता है। उसी कारण उक्त विशेष विशेष कर्मपुञ्जसे सबन्ध रखने वाले विशेष विशेष काल और विशेष विशेष देशकी शक्तिका भी तारतम्य हो जाता है। जब उनमें शक्तिका तारतम्य होता है तो शक्तिके तारतम्यहेतु, उस विशेष विशेष काल और विशेष विशेष देशमें उत्पन्न हुए अधिकार तथा पुरुषार्थमें भी भेद पड़ना अवश्य सम्भव है। इसी अधिकार तथा पुरुषार्थ शक्तिके तारतम्यानुसार भिन्न भिन्न देश और कालमें भिन्न भिन्न पात्रके लिये निर्णीत धर्मको आपद्धर्म कहते हैं। स्वाधिकारानुसार भावशुद्धिपूर्वक देश तथा कालके विचारसे आपद्धर्मका पालन करनेपर सभी मनुष्य कल्याणके अधि-कारी हो सकते हैं। अब नीचे विविध शास्त्र लिखित काल, देश तथा पात्र-भेदा-नुसार आपद्धर्म पालनके कुछ दृष्टान्त और प्रमाण दिये जाते हैं। महाभारतके शान्तिपर्वमें आपत्कालमें जीवनोपाय वर्णन करते समय श्रीभगवान् भीष्म-पितामहने कहा है—

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ॥

विद्वान् व्यक्ति आपद्ग्रस्त होनेपर सभी प्रकारके उपायोंसे अपनेको आपद्से मुक्त करे क्योंकि प्राणकी रक्षा होनेपर मनुष्य पुण्यसञ्चय द्वारा आपत्कालीन अवैधकर्मसे उत्पन्न समस्त अनिष्टको दूर करके कल्याणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके अनन्तर धर्माधिकारीको सावधान करनेके लिये उन्होंने कहा है—

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः ॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्।

देवता, विश्वदेव, साध्य, ब्राह्मण और महर्षिगण आपत्कालमें मृत्यु भयसे भीत होकर मुख्यकल्पके स्थानपर अनुकल्प द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु मुख्यकल्प पालनमें समर्थ होनेपर भी जो अनुकल्पके द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहते हैं उनको परलोकमें कोई भी सुफल नहीं प्राप्त होता। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥

जो द्विज अनापत् कालमें भी आपद् धर्मका अनुष्ठान करते हैं वे परलोकमें उस कर्मका फल नहीं पाते हैं इसलिये सब ओर विचार करके महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा हैः—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥

ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय अथवा वैश्य-जनोचित कर्मानुष्ठान द्वारा जीवनमात्र निर्वाह करेंगे; परन्तु आपन्मुक्त होते ही अनुकल्प वृत्तिको परित्याग करके उस दीनदशासे अपने आत्माको मुक्त करेंगे। पात्रके विचारसे आपत्कालीन कर्तव्यनिर्णय प्रसङ्गमें श्रीभगवान् मनुजीने कहा हैः—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वै वैश्यस्य जीविकाम् ॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥

यदि ब्राह्मण अपने अधिकारानुकूल कर्म द्वारा जीविकाका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रिय वृत्तिके द्वारा जीविका निर्वाह करें क्योंकि यही उनकी परवर्त्तीवृत्ति है । यदि अपनी वृत्ति और क्षत्रिय वृत्ति दोनों होके द्वारा जीविका निर्वाह असम्भव हो जाय तो इस दशामें कृषि गोरक्षा आदि वैश्यवृत्तिके द्वारा जीवनधारण कर सकते हैं । ब्राह्मणकी तरह क्षत्रिय भी आपत्कालमें कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते हैं; परन्तु कभी ब्राह्मण वृत्ति-अवलम्बन नहीं कर सकते । यदि कोई अधम जाति उत्तम जातिकी वृत्ति-अवलम्बनपूर्वक जीविका निर्वाह करना चाहे तो राजाका कर्त्तव्य है कि उसका सर्वस्व हरण करके उसे देशसे निर्वासित कर दे । अपना धर्म, निकृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय है और परधर्म उत्कृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय नहीं है क्योंकि उच्चजातिके धर्म द्वारा जीवन धारण करनेसे मनुष्य शीघ्र ही अपनी जातिसे पतित हो जाता है । वैश्य अपने धर्म द्वारा जीवन धारणमें असमर्थ होनेपर अनाचार परित्याग करके द्विज-शुश्रूषादि शूद्र वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं; परन्तु आपन्मुक्त होते ही शूद्र वृत्ति परित्याग करना होगा । शूद्र यदि निज वृत्ति द्वारा परिवार प्रतिपालनमें असमर्थ हो तो कारु-

कार्य आदि द्वारा जीवन धारण कर सकता है। जिस कार्यके द्वारा द्विजसेवा हो सकती है, इस प्रकारके कारुकार्य और शिल्पकार्य इस दशामें शूद्रको अवलम्बन करना होगा। इस प्रकारसे प्रत्येक वर्णके लिये आपत्कालमें जीवनोपाय निर्द्धारित करके श्रीभगवान् मनुजीने सभी वर्णोंके लिये कुछ साधारणरूपसे आपत्कालकी वृत्तियोंका निर्णय कर दिया है, यथाः—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥

विद्या, शिल्पकार्य, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, धृति, (जिस अवस्थामें हो उसीमें सन्तोष), भिक्षा और सूदग्रहण ये दस प्रकारके जीवनोपाय आपत्कालमें सुविधा और शक्तिके अनुसार सभी वर्णोंके लिये विहित है।

देश और कालके अनुसार आपद्धर्मका विचार करते हुए महर्षि पराशरजीने अपनी संहितामें कहा हैः—

देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत्॥
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्॥
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत्।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत्॥

देशमें विद्रोह या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होनेसे अथवा महामारी या किसी प्रकारकी आपत्की उत्पत्ति होनेसे, पहले शरीरकी रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करे। आपत्कालमें मृदु या दारुण किसी भी उपायसे दीन आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। इसके बाद जब सामर्थ्य हो तब स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिये। आपत्कालमें शौचाचारके विषयमें कुछ भी विचार नहीं करना चाहिये, पहले विपत्तिसे अपनेको बचाना चाहिये और तत्पश्चात् स्वस्थ हो कर शौचाचारानुकूल धर्मानुष्ठान करना चाहिये। इसी विषयकी एक कथा श्रुतिमें भी मिलती है, यथा—किसी समय प्रबल दुर्भिक्षके प्रकोपसे समस्त देशके अन्न और जलके अभावसे अभिभूत होनेपर एक ऋषि अपनी सहधर्मिणीके साथ जीवनधारणार्थ उस देशसे निकल चले। रस्तेमें एक पहाड़के पास देखा कि एक निर्मल झरनेकी धारा बह रही है और उसके पास बैठकर एक चाण्डाल उबाला हुआ चना भक्षण कर रहा है। कई दिनोंके उपवासी ऋषिने

प्राणधारणके लिये और कोई भी उपाय न देखकर उस चाण्डालसे ही उसका उच्छिष्ट चना भिक्षा मांगा और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नीको दे दिया। उच्छिष्ट चना खानेके बाद चाण्डालने जब उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषिने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा—"मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊंगा।" चाण्डालने थोड़ा हँस कर कहा—"आपने उच्छिष्ट चना तो खा लिया उससे आप पतित नहीं हुए और उच्छिष्ट जल पीनेसे ही पतित हो जायंगे।" इस बातको सुनकर ऋषिने उत्तर दिया—"मैं अनाहारसे मर रहा था इसी लिये आपत्कालमें प्राणरक्षार्थ तुम्हारा उच्छिष्ट भी चना खाया है; परन्तु जल तो सामनेही झरनेसे आ रहा है इसलिये जलका क्लेश नहीं है इस कारण उच्छिष्ट जल पीनेका प्रयोजन नहीं है।" इस प्रकारसे उस दिनके लिये प्राणधारणका उपाय हो जानेपर फिर आगे भिक्षाके लिये पति-पत्नी चले; परन्तु दूसरे दिन कहीं कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ। उस समय अनाहार पतिको मृत्यु-मुखमें अग्रसर देखकर ऋषिपत्नीने अपने कपड़ेमें बँधे हुए पहले दिनके चने निकालकर पतिको दे दिये। ऋषिने चकित होकर कहा "क्या तुमने कलका चना नहीं खाया था?" इस पर ऋषिपत्नीने उत्तर दिया "आपने तो कहा था कि अनाहारसे मृतप्राय होनेपर ही हमने चाण्डालका उच्छिष्ट चना खा लिया था, मैं कल अनाहारसे मृतप्राय नहीं थी और भी कई दिन बच सकती थी इसलिए उस उच्छिष्ट चनेको नहीं खाया था। मैं और एक दिन बिना खाये बच सकती हूँ; परन्तु आपका प्राण जा रहा है इसलिये आप इस उच्छिष्ट चनेको खाइये।" इस कथाके द्वारा आपत्कालमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णयका दृष्टान्त अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाता है और स्वधर्मसे नीचेका धर्म तथा शौचाचारसे विरोधी व्यवहार भी आपत्कालमें विहित आचाररूपसे परिगणित हो सकता है, इस विज्ञानकी सम्यक् सिद्धि हो जाती है।

क्षत्रियधर्मके पूर्ण अधिकारी क्षात्र नरपतिके लिये प्रधान धर्म यह है कि युद्धार्थी शत्रुसे अवश्य युद्ध करना और कदापि किसी दशामें शत्रुके संमुख सिर न झुकाना। युद्धसे पलायन और शत्रुसे पराजय स्वीकार करना क्षत्रियधर्मसे विरुद्ध है इसी कारण श्रीभगवान् भीष्मपितामहजीने आपत्कालमें राजाको शत्रुके साथ भी मैत्री करनेका उपदेश किया है, यथा—महाभारतमें—

तस्माद् विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत्।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये॥

सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ॥
शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा ।
समाहितश्चरेद्युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ॥

देशकालको समझ कर ही शत्रुसे संग्राम या सन्धिके विषयमें कर्तव्या-कर्तव्यनिर्णय करना चाहिये। सन्धिके विषयमें विचार करके यदि प्राण-रक्षाके लिये प्रयोजन हो तो शत्रुसे भी समयपर सन्धि कर लेनी चाहिये; परंतु बलवान् शत्रुके साथ प्राणरक्षार्थ सन्धि करनेपर भी सदा ही सावधान रहना चाहिये और शत्रुपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। श्रीभगवान् मनुजीने देश तथा कालके विचारसे ब्राह्मणोंके लिये आपद्धर्म विधान करते हुए कहा है—

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥
जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते ॥
अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥
श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥
क्षुधार्त्तश्चाऽत्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ।

अपने कर्त्तव्यपथपर स्थित ब्राह्मण वृत्तिके अभावसे पीड़ित होनेपर भी यदि क्षत्रिय या वैश्यवृत्ति अवलम्बन करना न चाहें तो नीचे कही हुई वृत्तिका आश्रय कर सकते हैं। विपन्न ब्राह्मण सभीके पाससे प्रतिग्रह कर सकते हैं क्योंकि जो स्वभावतः ही पवित्र हैं वे दोषदुष्ट हो सकते हैं यह बात

धर्मतः सिद्ध नहीं हो सकती है। ब्राह्मण स्वभावतः जल और अग्निकी तरह पवित्र हैं। आपत्कालमें निन्दित पुरुषके याजन अध्यापन और परिग्रहके द्वारा भी ब्राह्मणको अधर्म प्राप्त नहीं होता है। प्राण नष्ट होनेकी सम्भावना उपस्थित होनेपर यदि ब्राह्मण अति नीचका भी अन्न ग्रहण करें तो भी आकाशमें जिस प्रकार पङ्क लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार वह ब्राह्मण भी पापग्रस्त नहीं होता। ऋषि अजीगर्त्त क्षुधासे कातर होकर अपने पुत्रके प्राणसंहारमें भी उद्यत हो गये थे परन्तु उसपर भी क्षुधानिवारण द्वारा प्राणरक्षा लक्ष्य होनेसे उनको कोई भी पाप नहीं हुआ था। धर्माधर्मके ज्ञानमें कुशल ऋषि वामदेवने क्षुधार्त्त होकर प्राणरक्षाके लिये कुक्कुरमांस-भोजनकी भी इच्छा की थी परन्तु तथापि वे पापलिप्त नहीं हुए थे। इसी प्रकार धर्माधर्मके ज्ञाता महर्षि विश्वामित्रजी भी क्षुधाक्लेशके कारण चण्डालके हस्तसे कुक्कुरके जंघाका मांस ग्रहण करके भोजन करनेको उद्यत हो गये थे तथापि उनको कोई भी पाप नहीं लगा था। इस प्रकार सर्वदर्शी श्रीभगवान् मनुमहाराजने देश और कालके विचारसे आपद्धर्मका उपदेश किया है। महर्षि विश्वामित्रकी उल्लिखित कुक्कुरके मांस भोजनकी कथा इतिहासमें विशेष प्रसिद्ध है। महाभारतके शान्तिपर्वमें इसका विशेषरूपसे वर्णन देखनेमें आता है जिसमें मांस अपहरणके पहले चण्डालके साथ महर्षि विश्वामित्रकी आपत्कालीन कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विषयमें जो बात चीत हुई थी उसके पाठ करनेपर आपद्धर्मका सम्यक् रहस्य सबको विदित हो सकेगा इसलिये नीचे उन कथाओंमेंसे कुछ कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं, यथा महाभारतमें—

त्रेताद्वापरयोः सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद्‌ घोरा लोके द्वादशवार्षिकी ॥
नववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभगवद्‌गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥
उच्छिन्नकृषिगोरक्षा निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तसुखसम्भारा विप्रनष्टमहोत्सवा ॥
अस्थिसंचयसङ्कीर्णा महाभूतरवाकुला ।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥
तस्मिन प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर ।
बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादमाना परस्परम् ॥

विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधापरीगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत ॥

त्रेता और द्वापरकी सन्धिमें दैव प्रतिकूलताके कारण द्वादश वर्ष पर्यन्त घोर अनावृष्टि हुई थी। उस समय बृहस्पति प्रतिकूल हो गये थे और चन्द्रने दक्षिण दिशाको आश्रय किया था। कृषि-गोरक्षा आदि सब नष्ट हो गई थी। वाणिज्य व्यापार आदि सब उठ गये थे और लोगोंमें आनन्द समस्त निर्मूल हो गयो था। चारों ओर मृत जीवोंकी अस्थि, भूतोंका चीत्कार, गृहदाह और शून्याकारता देखनेमें आने लग गई थी। धर्मका एकदम नाश हो जानेसे प्रजा क्षुधार्त्त और अत्याचारी होकर परस्परको खाने लग गयी थी। इस प्रकार भयानक दुर्भिक्ष कालमें महातपा महर्षि विश्वामित्र भी किसी समय अत्यन्त क्षुधातुर होकर घर छोड़ अन्नके अन्वेषणमें इतस्ततः भ्रमण करने लगे।

स कदाचित् परिपतन् श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥
अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्ब्बल्यात्तस्मिंश्चांडालपक्कणे ॥
स चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥
स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥
स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥
आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥
हीनादादेयमादौ स्यात् समानात्तदनन्तरम् ।
असम्भवे वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥
सोऽहमन्त्यावसानायां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥

इस प्रकारसे खाद्य अन्वेषण करते हुए किसी समय महर्षि विश्वामित्रजी

एक अरण्यमें प्राणिघातक हिंस्र चाण्डालोंका ग्राम देखकर उसीमें प्रविष्ट हुए; परन्तु उस पल्लीमें भी अन्वेषण करके जब कहीं कुछ न प्राप्त हुआ तो हा कष्ट! ऐसा कह कर दुर्बलताके कारण किसी चाण्डालके मकानमें गिर पड़े और किस उपायसे प्राणरक्षा हो सोचने लगे। थोड़ी देरमें उस चाण्डालके गृहमें विश्वामित्रको उसी रोज मारे हुए किसी कुक्कुरका मांसखण्ड देखनेमें आया। उसको देखकर बहुत ही आनन्दित हो विश्वामित्र सोचने लगे "मैं किसी न किसी तरहसे इस मांसखण्डको अवश्य ही अपहरण करूंगा इसके सिवाय इस समय प्राणरक्षाका और कोई भी उपाय नहीं दीखता है। आपत्कालमें चोरी करने पर भी महात्माओंके गौरवकी हानि नहीं होती है और शास्त्रमें भी कहा है कि आपत्कालमें प्राणरक्षणार्थ ब्राह्मण चोरी भी कर सकता है। पहले नीचका द्रव्य, पश्चात् समान जातीयका द्रव्य और यदि उसमें भी कुछ प्राप्त न हो तो अपनेसे उत्तम धार्मिक व्यक्तिका भी धन अपहरण कर सकता है; अतः पहले मैं इस नीचका द्रव्य अपहरण करूंगा। इस प्रकार अपहरणसे मुझे चोरीका पाप स्पर्श नहीं करेगा।" इस प्रकार विचार करके महर्षि विश्वामित्र वहीं सोये रहे। तदनन्तर रात्रि अधिक होनेपर जब सब लोग निद्रित हो गये तो धीरे धीरे विश्वामित्र उस चाण्डालकी कुटीमें मांस अपहरणार्थ प्रवेश करने लगे। उस समय वह चाण्डाल जागता था सो कुटीमें किसी दूसरेको प्रवेश करते हुए देखकर, कर्कश स्वरसे कहा "कौन आया है मेरे घरमें कुक्कुरमांस चोरी करनेको, आज अवश्य ही मेरे हाथसे उसका प्राण जायगा।" इस बातको सुनकर महर्षि विश्वामित्र अति भीत और लज्जित हो कहने लगे— "मैं विश्वामित्र हूं, अत्यन्त क्षुधासे व्याकुल होकर तुम्हारे घरमें आया हूं। यदि तुम साधुदर्शी हो तो मुझे वध न करो।" विश्वामित्रकी बात सुनते ही चाण्डाल त्रस्तचित्त होकर शय्यासे उठा और कृताञ्जलि होकर कहने लगा "भगवन्! इस गम्भीर रात्रिमें आप क्यों यहां आये।

विश्वामित्रस्तु मातङ्गमुवाच परिसान्त्वयन्।
क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥
क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः।
क्षुच्च मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥
अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः॥

सोऽधर्मं बुध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम्।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये॥
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम्।
अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिषाड्विभुः॥
यथावत् सर्वभुग्ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः॥

चाण्डालका वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजीने कहा "मैं क्षुधाकातर और मृतप्राय होकर तुम्हारा यह कुक्कुरमांस अपहरण करनेके लिये आया हूँ। बुभुक्षित व्यक्तिके लिये लज्जा कैसे सम्भव हो सकती है? क्षुधाके प्रभावसे मेरा जीवन अवसन्न और ज्ञान लुप्तप्राय हो रहा है जिससे मेरी भक्ष्याभक्ष्यकी विचार-शक्ति लुप्त हो गई है इसलिये चोरके कार्यको अत्यन्त अधर्म जाननेपर भी इस मांसखण्डके अपहरणमें मेरी इच्छा हुई है। मैं तुम्हारे ग्राममें बहुत घूमनेपर भी कहीं कुछ न पाकर इस पापकार्यके लिये सन्नद्ध हुआ हूं। देखो, अग्नि-देवताओंका मुख और पुरोहित रूप है इसलिये पवित्र वस्तुके सिवाय दूसरी वस्तु लेना अग्निके लिये कदापि कर्त्तव्य नहीं है; तथापि जिस प्रकार अग्निको भी सभी प्रकारकी वस्तु अगत्या लेनी पड़ती है, उसी प्रकार प्राणरक्षार्थ मुझे खाद्याखाद्य-विचारशून्य होना पड़ा है।" विश्वामित्रका वाक्य सुनकर चाण्डालने कहा—

शृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः।
तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्य श्वजाघनी॥
नेदं सम्यग्व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम्।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः॥
साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे।
न मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने॥
जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसंकरः।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतांवर॥

पण्डितगण कहते हैं कि शृगालके मांससे भी श्वानमांस हीन है और उसमें भी जंघाका मांस अत्यन्त हेय है। विशेषतः अयोग्य चाण्डाल-धन अपहरण करना बड़ा ही अधर्म है इसलिये ऐसे कार्यमें उद्योग करना आपके लिये कदापि उचित नहीं है। अतः जीवन धारणके लिये कोई दूसरा

उत्तम उपाय अवलम्बन कीजिये। मांसके लोभसे तपस्याको विनष्ट न करें। शास्त्रोक्त धर्म जान कर भी धर्मसंकर करनेमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। आप धार्मिकोंमें प्रधान हैं, आपको धर्मत्याग करना कभी उचित नहीं है। चाण्डालका वाक्य सुनकर महर्षि विश्वामित्रजीने कहा —

निराहारस्य सुमहान्मम कालोऽभिधावतः ।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥
येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥
यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्त्तव्यमहेलया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥
सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम् ।
व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद्भवाननुमन्यताम् ॥
बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु ।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥

मैं अनाहारी होकर बहुत दिनोंसे इधर उधर घूम रहा हूँ परन्तु प्राण-रक्षाके लिये कहीं कुछ न प्राप्त हुआ। शास्त्रकी आज्ञा है कि क्लेश होनेपर किसी न किसी प्रकार प्राणधारण करना चाहिये। तदनन्तर समर्थ होनेपर धर्माचरण करना चाहिये। क्षत्रियगणको इन्द्रकी नाईं और ब्राह्मणोंको अग्निकी नाईं धर्म अवलम्बन करना उचित है इसलिये सर्वभुक् अग्निकी तरह क्षुधा-शान्तिके लिये मैं कुक्कुरमांस भोजन कर लूँगा। जिससे जीवनरक्षा हो सकती है ऐसा उपाय विचाररहित होकर सर्वथा करना चाहिये। मृत्युकी अपेक्षा प्राणरक्षा उत्तम है क्योंकि जीवित रहनेपर धर्मानुष्ठान अनायास ही किया जा सकता है। तुम इसको स्वीकार करो। मैं जीवित रहनेपर धर्मानुष्ठान कर सकूंगा और जिस प्रकार आलोकके द्वारा गाढ़ तमका नाश होता है उसी प्रकार तप और विद्याके प्रभावसे समस्त अशुभोंका नाश कर दूंगा।" इस बातको सुनकर चाण्डालने कहा—

नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु-
नैंव प्राणान्नामृतस्येव तृप्तिः।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम्॥

इस कुक्कुरमांसके भोजन द्वारा आपको सुदीर्घ आयु या अमृतपानके तुल्य तृप्तिलाभ नहीं होगा अतः आप अन्य वस्तुके लिये भिक्षा कीजिये, श्वानमांस कदापि भक्षण न कीजिये। शास्त्रमें श्वानमांस ब्राह्मणोंके लिये नितान्त अभक्ष्य लिखा है। महर्षि विश्वामित्रजीने कहा—

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यत्
श्वपाकमन्ये न च मेऽस्ति वित्तम्।
क्षुधार्तश्चाहमगतिर्निराशः
श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये॥

इस दुर्भिक्षके समय अन्य मांस सुलभ नहीं है और मेरे पास अर्थ भी नहीं है। विशेषतः अत्यन्त क्षुधाकातर होनेसे प्राणरक्षाके लिये निरुपाय होनेके कारण मुझे इस समय श्वानमांस ही मधुर षड्रसयुक्त प्रतीत हो रहा है। चण्डालने कहा—

कामं नरा जीवितुं सन्त्यजन्ति
न चाभक्ष्ये क्वचित्कुर्वन्ति बुद्धिम्।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वन्
प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव॥

साधु व्यक्तिगण प्राण तक त्याग करनेको तैयार होते हैं तथापि अभक्ष्य भोजन नहीं करते हैं। बहुत महात्मा क्षुधाजय करके स्वप्रयोजन सिद्ध करते हैं इसलिये आप क्षुधाजय करनेका प्रयत्न कीजिये। महर्षि विश्वामित्रजीने कहा—

स्थाने भवेत् स यशः प्रेत्यभावे-
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा
मूल्यं रक्ष्यं भक्षयिश्याम्यभक्ष्यम्॥
बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यम्
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये।

यद्याप्येतत्संशयात्मा चरामि
नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ॥

उपवासके द्वारा प्राण त्याग करना उत्तम है तो सही परन्तु जिसको जीनेकी इच्छा है उसके लिये अनाहार द्वारा शरीर शुष्क करना अत्यन्त गर्हित है। उससे अवश्य ही धर्मलोप होता है। फलतः देहकी रक्षा करना अवश्य कर्त्तव्य है। यदि श्वानमांस भोजन द्वारा मुझे सामान्य पापमें लिप्त होना भी पड़े तो भी मैं व्रतादि द्वारा उस पापका निराकरण कर सकूँगा। सूक्ष्म बुद्धि द्वारा विचार कर देखनेसे आपत्कालमें श्वानमांसभोजन निर्दोष प्रतिपन्न होता है और मोह-बुद्धि द्वारा विचार करनेसे ऐसा कार्य सदोष प्रतीत होता है। जो कुछ हो यदि मेरा श्वानमांसभोजन कुछ दोषयुक्त भी हो तथापि उससे मुझे तुम्हारे जैसा चण्डाल बनना नहीं पड़ेगा क्योंकि उस पापके दूर करनेकी शक्ति मुझमें विशेषरूपसे विद्यमान है। इस प्रकारसे वातचीत होनेके वाद महर्षि विश्वामित्रजीने उस श्वानमांसको ले लिया और सपत्नीक वनमें जाकर दैव और पितृकार्य करने लगे, यथा महाभारतमें—

अथास्य बुद्धिरभवद्विधिनाहं श्वजाघनीम्।
भक्षयामि यथाकामं पूर्वं सन्तर्प्य देवताः॥

ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयत स्वयम्॥

ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यञ्च भारत।
आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात्॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः।
सञ्जीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः॥

विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्विषः।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम्॥

स संहृत्य च तत्कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः।
तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तमः॥

मांस अपहरण करनेके वाद महर्षि विश्वामित्रकी यह इच्छा हुई कि विधिपूर्वक पहले देवताओंको समर्पण करके पश्चात् मांसभोजन करेंगे। इस प्रकार चिन्ता करके महातपा विश्वामित्रजीने ब्राह्मविधिके अनुसार अग्नि

आहरण करके ऐन्द्राग्नेय विधिके अनुसार स्वयं उसका चरु प्रस्तुत कर लिया। तदनन्तर उस मांस द्वारा प्रस्तुत चरुको अंश अंश करके इन्द्रादि देवताओंको आह्वान कर देव और पितृकार्य विधिके अनुसार समर्पण करने लगे। इतनेमें महर्षि विश्वामित्रके तपःप्रभावसे द्वादशवर्षके बाद इंद्रदेवने प्रचुर जल वर्षण कर दिया और प्रजाओंको संजीवित करके औषधी और धनधान्यकी उत्पत्ति कर दी। महर्षि विश्वामित्रजीने भी तपस्याके द्वारा चाण्डाल मांस ग्रहणजन्य पापसे मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की। उन्होंने अपने पूर्वकृत पापकर्मका संहार करके उस मांस-युक्त हविका भोजन न करने पर भी देवता और पितरोंको संतुष्ट कर दिया।

अग्निकी एक चिनगारी भी अग्निकी पूर्णशक्तिसे भरी हुई है। वह अग्निकी चिनगारी यदि अनुकूल आधार प्राप्त हो तो बढ़ कर समस्त पृथिवीको दग्ध कर सकती है। सर्वव्यापक सर्वजीवहितकर सृष्टिको धारण करने वाला धर्म यदि विना बाधाके कार्यकारी बना रहे तो जब वह जीवको मुक्तिभूमि तक पहुंचा देता है, तो उसके द्वारा सब कुछ संपन्न होगा इसमें संदेह ही क्या? ऊपर उक्त परकीय भाषायुक्त गाथासे ये सब तात्पर्य निकलेः—देश काल पात्रका विचार रखकर भावशुद्धि पूर्वक कार्य करनेसे घोर अधर्म कार्य भी धर्मकार्य रूपमें परिणत हो सकता है। प्रथम तो चोरी जो महाअधर्म है, द्वितीय ब्राह्मणके लिये चौरकार्य जो और भी घृणित कार्य है, तृतीय चाण्डालके पदार्थकी चोरी जो अति गर्हित है, चतुर्थ कुत्तेका मांस ग्रहण जो अति पाप है, पंचम जंघामांस ग्रहण जो महा घृणित है, षष्ठ ब्राह्मण होकर ऐसे घृणित पदार्थ खानेकी इच्छा करना और सप्तम ज्ञानी होकर अपनी वृत्तिको न रोक कर ऐसे पथमें प्रवृत्त होना, इन सब पूर्व पक्षोंका सिद्धांत करके आपद्-धर्मका एक ज्वलन्त दृष्टान्त ऊपरकी गाथामें प्रकाशित है। कितना ही घृणित और पाप कार्य हो देश काल पात्रके विचारसे यदि उसीको करना निश्चित हो तो भावशुद्धि द्वारा वह महा पापकार्य पुण्यकार्यमें हो सकता है। जो व्यक्ति मृत्युको ही उचित समझता है उसके लिये यद्यपि मर जाना अच्छा है और स्वधर्म छोड़ना उचित नहीं है परन्तु जो ज्ञानी व्यक्ति ऐसा समझता हो कि मेरे लिये मरना ठीक नहीं है। मेरा यदि शरीर रहेगा तो मैं अन्यान्य पुण्यकार्यसे इस पापकार्यको शुद्ध कर लूंगा और क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करके धर्म जगत्‌में बढ़ सकूंगा, उसके लिये आपत्कालमें चाहे जिस प्रकारसे हो शरीरको बचा लेना ही धर्म होगा। विश्वामित्र महाराजने इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तको

लक्ष्यमें रक्खा और किंचित् भी विचलित नहीं हुए। शरीरकी रक्षाके निमित्त केवल ऊपर लिखित पापाचरणको करना भावशुद्धिसे उचित समझा और उसके बाद ही अपने स्वधर्मकी रक्षाके लिये पितृयज्ञ और देवयज्ञमें प्रवृत्त हुए। क्षुधाकी कुछ भी परवाह नहीं की इसी कारण उनके प्रबल धर्मसे इन्द्र देवता बाध्य होकर सुवृष्टि करनेमें तत्पर हुए। यही इस गाथाका वैज्ञानिक तात्पर्य है। इस स्थानपर इतना स्मरण रखना अवश्य उचित है कि आपद्धर्मके अनुसार जिस प्रकार अति सुगमताके साथ हेय पापकर्म भी उपादेय पुण्यकर्ममें परिणत हो सकता है उसी प्रकार आपद्धर्मके निर्णय करनेमें अति कठिनता है; क्योंकि कर्त्ता यदि ज्ञानी न हो, संयमी न हो और स्वार्थपर हो तो अपनी दुर्बलताके कारण वह अपनी असुविधाओंको आपत् करके मानने लगेगा और अपनी इंद्रिय-चरितार्थताको ही आपद्धर्म-साधनका कारण समझ लेगा। इस कारण आपद्धर्मका निर्णय करना केवल परमज्ञानी, कर्मदर्शी आचार्य और गुरुका ही कार्य है। महर्षियोंका यह कथन है कि कर्मकी गतिके जाननेवाले ही धर्माधर्मका निर्णय कर सकते हैं अतः आपद्धर्म-निर्णय करनेके लिये आपत्ति-युक्त कर्त्ता कभी स्वयं साहस न करे। उसको उचित है कि यदि वह स्वयं ज्ञानी और कर्मका रहस्य-ज्ञाता न हो तो धर्मज्ञ, कर्मके रहस्यज्ञ और तत्त्वज्ञानी आचार्य गुरु अथवा महापुरुषोंसे आज्ञा ग्रहण करके अपना आपत्कालीन धर्माधिकार निर्णय करे। सभी अपने आपको महर्षि विश्वामित्र न समझ लेवें। इसी प्रकारसे देशविचार, कालविचार, पात्रविचार और भावशुद्धिकी सहायतासे आवश्यकताके अनुसार सब अधर्मकार्य धर्मकार्यमें परिणत हो सकते हैं; परन्तु स्मरण रहे, जैसा कि श्रीमान् मनुके वचन पहले दिये गये हैं कि जहां कर्त्तामें सामर्थ्य है कि देश काल और पात्रको अतिक्रम कर सके वहां अधर्मकार्यमें भावशुद्धि असम्भव है। देशकी विरुद्धता, कालकी विरुद्धता और पात्रकी असमर्थता होनेपर ही भावशुद्धिका अवसर हो सकता है। अन्यथा अधर्ममें भावशुद्धि द्वारा धर्मज्ञान होना सम्भव नहीं है; परन्तु जहां देश काल और पात्र धर्मसाधनके अनुकूल एक बार ही नहीं है वहां भावशुद्धि पूर्वक आपद्धर्मके अधिकारको पालन करना बुद्धिमान्‌का कर्त्तव्य है। धर्मज्ञ आचार्यगण ऐसी ही आज्ञा दिया करते हैं। इसी कारण सतीत्वमूलक नारीधर्मकी अधिकारिणी सती प्रथम तो पतिको पापकर्मसे रोके परन्तु यदि पति न माने तो सहधर्मिणी होनेपर भी उसको घोर अधर्मकर्ममें पतिका साथ देना कदापि उचित नहीं है। पतिका जो धर्म है वही स्त्रीका भी

धर्म है इसी कारण स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है। यदि पति निरपराधी मनुष्यों-का हनन करनेवाला हो या ऐसे ही कोई घोरतर पाप करता हो तो सती स्त्री-को उचित है कि पतिको पापकर्मसे यथासाध्य रोके, परन्तु यदि पति न माने तो स्त्रीको उचित है कि ऐसे पापी पतिका साथ न दे। इसी प्रकार यद्यपि पतिकी चितामें जल मरना सनातनधर्मके अनुसार सती स्त्रीका धर्म है परन्तु जब कोई राजा सहमरणधर्मकी आज्ञा नहीं देता है अर्थात् देश और काल विरुद्ध है तो उस समय पतिधर्मपरायणा सतीके लिये अपना जीवन पतिके साथ चितामें बैठकर न जलानेसे सतीधर्मके विरुद्ध अधर्म नहीं होगा; परन्तु देश तथा कालके विचारसे उस समय चितामें जलकर न मरना सतीके लिये आपद्धर्म होगा। शूद्रजातिका प्रधानधर्म यदिच ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्णोंकी धार्मिकसेवा करना है तथापि देश काल और पात्रके विचार-से शूद्रगण कठिन कालमें अन्त्यजजातिके निकृष्ट धर्म पालन करके आपद्धर्म पालन कर सकते हैं। उसी प्रकार उत्तरोत्तर वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणगण अपनेसे निकृष्ट वर्णोंके धर्मको अनुविधाके अनुसार यथाक्रम करते हुए आपद्धर्मका पालन कर सकते हैं। आपद्धर्मके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियादि आचारभ्रष्ट, खानपानभ्रष्ट और स्वस्वजातिगत कर्मभ्रष्ट होनेपर भी आपद्धर्मके कारण यदि उनका लक्ष्य ठीक रहे तो वे पापमुक्त हो सकते हैं। अपने स्वार्थसे कुटुम्बका स्वार्थ बड़ा है, कुटुम्बके स्वार्थसे ग्रामका स्वार्थ बड़ा है, ग्रामके स्वार्थसे जनपदका स्वार्थ बड़ा है, जनपदके स्वार्थसे स्वदेशका स्वार्थ बड़ा है। उसी प्रकार आधिभौतिक वैषयिक ऐश्वर्यसे आधिदैविक ऐश्वर्य अर्थात् धर्म उपासना आदि सम्बन्धीय ऐश्वर्य बड़ा है और आधिदैविक ऐश्वर्यसे ज्ञान सम्बन्धीय आध्यात्मिक ऐश्वर्य बड़ा है अतः देशके कल्याण अथवा ज्ञानकी वृद्धिके लिये यदि कोई धार्मिक व्यक्ति म्लेच्छसंसर्ग, अनार्यसेवा, धर्महीन देशगमन और अनाचार भी करेगा तो लक्ष्य ठीक रहनेसे वह आपद्धर्मके अनुसार अधार्मिक नहीं होगा। कलिकालमें वर्णाश्रमधर्ममें अनेक विपर्यय हो जानेसे गुरुगृहवास असम्भव हो जानेपर भी विद्याभ्यासशील विद्यार्थी यदि आचार्यभक्ति, आचार्यशुश्रूषा, ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि धर्म पालन करे तो वह ब्रह्मचर्याश्रमधर्मका अधिकारी हो सकेगा। उसी प्रकार यदि गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट व्यक्ति पंचमहायज्ञ आदिका ठीक ठीक पालन न कर सके, गृहस्थ ब्राह्मण यदि यथाविधि अग्निकी सेवा न कर सके तो अन्यान्य धर्मोंको यथासम्भव पालन करनेसे आपद्धर्मके अनुसार पतित नहीं होगा। उसी प्रकार कलि-

कालमें तपोवनसमूह सम्पूर्ण रूपसे लोप हो जानेसे और उञ्छ वृत्ति आदि वृत्तियां पालन करना एक वार ही सम्भव न होनेसे तथा गोसेवा आदि आवश्यकीय धर्म अति कष्टसाध्य हो जानेसे यदि जीवनकी तीसरी अवस्थामें पहुंचा हुआ धार्मिक व्यक्ति ब्रह्मचर्यव्रतपालन, तपःस्वाध्यायनिष्ठा, तीर्थवास आदि धर्मोंका पालन करते हुए सन्न्यासाश्रमके उपयोगी अपनेको बनानेके लिये यत्न करे तो आपद्धर्मके अनुसार वह धार्मिक व्यक्ति ऋषिकल्प और वानप्रस्थधर्मी कहलावेगा इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि सन्न्यासाश्रम केवल ब्राह्मणोंके लिये ही विहित है, यद्यपि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमोंमें यथाविधि चलकर पीछे सन्न्यासाश्रम धारण करनेकी विधि है और यद्यपि कुटीचकके बाद बहूदक, बहूदकके बाद हंस और हंसके बाद परमहंसके धर्म पालन करनेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी है; परन्तु यदि कलिकालमें आश्रमधर्मकी शैलीमें अनेक विप्लव हो जानेसे इस प्रकारके क्रमकी रक्षा न हो सके और वर्ण तथा आश्रमधर्मके सम्मानकी रक्षा करते हुए यदि यथासम्भव सन्न्यास धर्म पालन करके निवृत्तिसेवी वैराग्यसम्पन्न ज्ञानी व्यक्तिगण प्रव्रज्या ग्रहण करें तो आपद्धर्मके अनुसार वे सभी सन्न्याश्रमधारी कहा सकते हैं। इसी शैलीपर देश काल पात्रके विचारानुसार भावशुद्धिपूर्वक दानधर्म, तपोधर्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ और महायज्ञके कर्त्तव्य निश्चय करनेमें आपद्धर्मका विचार लाया जा सकता है और धर्मके सब अङ्ग और उपाङ्ग इसी प्रकार आपद्धर्मकी शैलीपर आवश्यकतानुसार निर्णीत हो सकते हैं; परन्तु धर्मके यथार्थ स्वरूपके लक्ष्यसे च्युत न होकर कर्त्तव्य निश्चित होना उचित है।

तृतीय काण्डकी नवम शाखा समाप्त हुई।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका

विशेषधर्म्मवर्णन नामक तृतीय काण्ड समाप्त हुआ।

चतुर्थ काण्ड।

भक्ति और योग।

इस ग्रन्थके उपासनायज्ञ नामक अध्यायमें भक्तिको सकल साधनाका प्राणरूप और योगको शरीररूप करके वर्णन किया गया है। वास्तवमें साधना-रूपी कल्पतरु भगवद्भक्तिरूपिणी प्राणशक्ति और विविध योगरूपी मधुर शरीरके द्वारा सुशोभित होकर ही मुमुक्षु साधकजनोंके लिये मोक्षफल प्रसव करनेमें समर्थ हो सकता है। भक्तिहीन साधना प्राणहीन होनेसे श्रीभगवान्‌की ओर चित्तवृत्तिके आकर्षण करानेमें समर्थ नहीं हो सकती है तथा योग-विहीन साधना अवयवहीन होनेसे उपासनामार्गमें साधकको अग्रसर ही नहीं कर सकती है, अतः साधन राज्यमें पूर्ण अधीश्वर होनेके लिये भक्ति और योग दोनोंका ही अभ्यास अवश्य करणीय है। भगवान् पतञ्जलिजीने—

"तीव्रसंवेगानामासन्नतमः"

श्रीभगवान्‌के प्रति चित्तके भक्तजन्य तीव्रसंवेगके द्वारा ही भगवान्‌का साक्षात्कार सहज और समीपवर्त्ती होता है ऐसा कहकर साधनाकी प्राण-रूपिणी भक्तिकी महिमा बताई है। इसी प्रकार योगदर्शनके प्रारम्भमें ही—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है जिसके फलसे द्रष्टा पुरुष अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपको लाभ कर सकते हैं, ऐसा कहकर उक्त महर्षिजीने साधनके अवयवरूप योगकी भी महिमाका भलीभांति वर्णन किया है। अब नीचे साधनाके सर्वस्वरूप इन दोनों विषयोंका वर्णन यथाक्रम संक्षेपसे किया जाता है।

भक्तिका लक्षण क्या है, इस विषयपर विचार करते हुए अद्वैतसिद्धि-कार मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि—

"द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति"

भगवद्भावसे द्रव होकर भगवान्‌के साथ चित्तका जो सविकल्प तदाकार भाव है वही भक्तिका लक्षण है। इसी तदाकार भावका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें भी वर्णित किया गया है। यथा--

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

गुणगान सुनते ही श्रीभगवान्‌के प्रति, समुद्रगामिनी गङ्गाजीकी अविच्छिन्न धाराकी नाईं चित्तकी जो कामनाहीन अविच्छिन्न गति है उसीको भक्ति योग कहा जाता है। भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्‌के प्रति साधककी चित्तवृत्ति ऐसी ही हो जाती है जिसके अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें मिलते हैं। भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लादने नृसिंहरूपधारी श्रीभगवान्‌के पास इसी पवित्र प्रेमकी प्रार्थना की थी, यथा-विष्णुपुराणमें—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

प्रह्लादकी प्रार्थना यह है कि अज्ञानी विषयी लोग जिस प्रकार विषयके प्रति एकचित्त होकर प्रीति करते हैं उसी प्रकार अविच्छिन्न अविनाशी प्रेम भगवान्‌के प्रति हो। भगवान्‌के प्रति इस प्रकार प्रेम होना ही भक्तिका लक्षण है। भक्ति दर्शनके सूत्रकार देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य तथा महर्षि अङ्गिराने इसी सिद्धान्तको लेकर अपके अपने दर्शनोंमें भक्तिका लक्षण निर्णय किया है, यथा-नारद सूत्रमें—

"सा तस्मिन्परमप्रेमरूपा" "अमृतस्वरूपा च"

परमेश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं। भक्ति जीवको अमृतमय नित्यानन्दका अधिकारी भी कर देती है। शाण्डिलसूत्रमें लिखा है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" तत्संस्थस्यामृतत्त्वोपदेशात्"।

ईश्वरके प्रति परम अनुरागको ही भक्ति कहते हैं; क्योंकि उनके प्रति प्रम होनेसे ही जीव अमृतरूप हो जाता है। महर्षि अङ्गिराकृत दैवी मीमांसादर्शनमें—

"सानुरागरूपा" "स्नेहप्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा"।

भक्ति श्रीभगवान्‌के प्रति अनुरागरूप है। लौकिक अनुराग तीन प्रकारके

हैं, यथा–स्नेह, प्रेम तथा श्रद्धा। अपनेसे छोटोंमें अनुराग स्नेह, समान समानमें अनुराग प्रेम और श्रेष्ठोंमें अनुराग श्रद्धा कहलाता है। ये तीन प्रकारके प्रेमही लौकिक तथा नश्वर हैं; परन्तु इससे अतिरिक्त परमेश्वरके प्रति जो अविनश्वर और अलौकिक अनुराग है उसे भक्ति कहते हैं।

भक्तिके लक्षणको और भी स्पष्ट करनेके लिये यह कहा जा सकता है कि, मनुष्य जितना पशुभावके अधिकारको छोड़ता हुआ देवभावके अधिकारको प्राप्त करता जाता है उतना ही उसमें प्रेम तथा अनुराग बढ़ता जाता है। अनुराग अथवा प्रेमके पहचाननेका लक्षण यह है कि मनुष्य जितना अपने स्वार्थोंको भूलकर दूसरेके स्वार्थोंको अपना स्वार्थ समझता जाय उतना वह मनुष्य प्रेमिक कहाता है। माता-पिता, पुत्र कन्याके लिये अपने स्वार्थको भूलकर पुत्रकन्याके सुखसे अपनेको सुखी जितना समझते हैं उतने ही वे प्रेमिक पिता माता कहलाते हैं। पति स्त्रीके लिये, स्त्री पतिके लिये, मित्र मित्रके लिये जितना अधिक अपना स्वार्थ विसर्जन करता हुआ एक दूसरेके सुखसे अपनेको सुखी और एक दूसरेके दुःखसे अपनेको दुःखी अनुभव करता है उतनाही वह प्रेम राज्यका अधिकारी माना जाता है। दूसरेके लिये अपनेको भूलना, दूसरेके सुखके लिये अपने सुखको विसर्जन करना, स्वयं दूसरेका बन जाना यही अनुरागकी भित्ति है। यही अनुराग लौकिक जगत्‌में श्रद्धा प्रेम और स्नेह रूपसे तीन प्रकारका होता है, जैसा कि पहले कहा गया है। निम्नगामी स्नेह, ऊर्द्ध्व गामी श्रद्धा और समगामी प्रेम, तीनों हीमें लौकिक, नाशवान् अवलंबन होनेसे तीनों ही दुःखके मूल हैं; परन्तु भक्तिमें ऐसा नहीं होता है। भक्तिका अधिकारी भाग्यवान् उपासक संसारको भूलकर अपने अनुराग-प्रवाहको अलौकिक अविनश्वर नित्यानन्दरूप भगवान्‌की ओर प्रवाहित करता है इसलिये दुःखलेश-विहीन इस प्रकारके अलौकिक अनुरागकोही भक्ति कहते हैं।

इस प्रकारकी भक्तिमें अधिकार किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्री-भगवान् कृष्णचन्द्रजीने भागवतके एकादश स्कन्धमें उपदेश किया है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्म्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

जीवोंके कल्याणके अर्थ ज्ञान, कर्म और भक्ति, ये तीन ही प्रकारके योग कहे गये हैं। उनमेंसे विषयासक्तिशून्य त्यागी पुरुषोंके लिये ज्ञानयोग और सकाम मनुष्योंके लिये कर्मयोगका उपदेश किया गया है। इन दोनोंसे अतिरिक्त जो पुरुष भगवत्कथामें श्रद्धायुक्त होते हैं और न तो अधिक वैराग्यवान् ही हैं और न अधिक विषयासक्त ही हैं, इस प्रकारके मनुष्योंके लिये भक्तियोग सिद्धिदायक होता है अतः सिद्धान्त हुआ कि अध्यात्मिक राज्यमें मध्यमाधिकारीके लिये ही भक्तियोग अधिकरूपसे विहित किया गया है; परन्तु इस वचनसे ऐसा न समझा जाय कि भगवद्भक्ति उच्च अधिकारी और निम्नाधिकारीके लिये विहित है ही नहीं। उच्चसे उच्च अधिकारी जो ब्रह्मसद्भावप्राप्त ज्ञानी हैं उनको भी पराभक्ति प्राप्त रहती है और निम्नसे निम्न अधिकारीके लिये भी वैधीभक्ति सर्वथा हितकारी है। इन भक्तिके भेदोंके लक्षणोंको आगे विस्तारित रूपसे कहा जायगा।

भक्तिका उदय कैसे होता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें उपनिषद्में लिखा है।

"नैषा तर्कण मतिरापनेया", "अचिन्त्याः खलु य भावा न तांस्तर्केण योजयेत्"।

तर्कके द्वारा चित्तमें भगवान्के प्रति भक्तिका उदय नहीं होता है। चिन्तासे अतीत भावोंको तर्क द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। भक्ति महत्कृपा और भगवत्कृपा द्वारा प्राप्त होती है, यथा—नारदसूत्रमें:—

"मुख्यतस्तु महत्कृपया भगवत्कृपालेशाद्वा"।

प्रधानतः महात्माओंकी कृपासे और भगवान्की कृपासे भी भक्तिका उदय होता है। महर्षि अङ्गिराने भी लिखा है:—

"सा महत्कृपातो भगवत्कृपातोऽपि"।

भक्ति महत्कृपा तथा भगवत्कृपालेशके द्वारा प्राप्त होती है। महत्कृपाके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न च्छंदसा नैव जलाग्निसूर्यै
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकात् ॥

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥

श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें भक्तिका उदय तपस्या, याग, यज्ञ, वेदाभ्यास और जल, अग्नि आदिकी उपासना द्वारा नहीं होता है, केवल महापुरुषोंके चरणरजोंकी कृपासे ही इस प्रकारकी भक्तिका उदय होता है। जहाँ पर रात्रिदिन विषयालापनाशक श्रीभगवद्गुणकीर्त्तन होता रहता है उसकी सेवा करनेसे मुमुक्षुजनोंके चित्तमें शीघ्र ही भगवद्भक्तिका उदय होता है—

भगवत्कृपाके द्वारा भक्तिलाभके विषयमें मुण्डकोपनिषद्‌में लिखा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

भगवान् वाक्य, मेधा अथवा बहुत शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं है; परंतु जिस भक्तके हृदय-मंदिरमें कृपा करके श्रीभगवान् अधिष्ठान करते हैं उन्हींके चित्तमें भक्तिका उदय होता है जिससे वे परमात्माके यथार्थ स्वरूपके देखनेमें समर्थ हो जाते हैं। और भी गीतामें—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

श्रीभगवान्‌के प्रति सदा युक्त होकर प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवालोंको श्रीभगवान् बुद्धियोग प्रदान करते हैं जिससे वे भक्ति द्वारा उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकारसे महत्कृपा और भगवद्‌कृपाके द्वारा प्राप्त भक्तिकी सहायतासे परमात्माके नानाभावमूलक साधन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे भक्तवत्सल भगवान्‌में मग्न होकर उसी परमानन्दमय परमपदमें विलीनताको प्राप्त करता है। भक्तिकी परममहिमाके विषयमें समस्त शास्त्र ही एकवाक्य होकर गुणगान करते हैं कि भक्ति ही संसारदुःखाग्निदग्ध अन्तःकरणकी परमा शान्तिके लिये अमृतधारारूपिणी है। श्रीभगवान् पतंजलिजीने "ईश्वरप्रणिधानाद् वा" इस सूत्रके द्वारा भगवद् भक्तिके बलसे ही चित्तवृत्तिका

निरोध होकर पुरुषका स्वरूपमें अवस्थान होता है ऐसा कहकर भक्तिकी ही अपूर्व महिमा वर्णित की है। श्रीमद्भागवतमें लिखा हैः—

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त-
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥
यथाग्निना हेममलं जहाति-
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥
भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ।
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥

आनन्दरूप सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के चरणकमलमें परमाभक्ति द्वारा ममत्वरूप अनादि अविद्याकी ग्रन्थि टूट जाती है। शरीरी जीवके लिये परमात्माका आराधन संसारचक्रको खण्ड विखण्ड कर दिया करता है। ज्ञानि-गण उसी ब्रह्मपदको ही परमसुखका कारण कहा करते हैं। जिस प्रकार अग्निके संयोग द्वारा सुवर्णकी मलिनता नष्ट होकर पुनः उसे अपना सुन्दर रूप प्राप्त होता है उसी प्रकार जीवात्मा भक्तियोगके द्वारा कर्मकी मलिनतासे मुक्त होकर परमात्माके साधनमें प्रवृत्त होता है। भगवत्प्रेमसे द्रव होकर

रोमाञ्च, अश्रुपात और भक्तिके बिना जीवकी शारीरिक और मानसिक शुद्धि कदापि नहीं हो सकती है। अनन्त गुणमय और आनन्दरूप परमात्माके प्रति भक्ति प्राप्त होनेसे साधकको और कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता है। समुज्ज्वल अग्निके द्वारा जिस प्रकार काष्ठ भस्म हो जाता है उसी प्रकार भगवद्भक्तिके द्वारा पापराशि भस्म हो जाती है। श्रीभगवान् केवल भक्तिके द्वारा ही प्राप्य हैं। भक्ति चाण्डालको भी संसारबन्धनसे मुक्त करती है। उपनिषद्में लिखा हैः—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भागवतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि॥
"भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति,
भक्तिवशः पुरुषो, भक्तिरेव भूयसी"

उपनिषद्रूप धनुषके ऊपर उपासनारूप तीक्ष्णबाणकी योजना करके भक्तियुक्त चित्त होकर जब प्रयोग किया जाता है तभी ब्रह्मरूप लक्ष्य विद्ध हो सकता है। भक्तिके द्वारा ही भगवान् प्राप्त होते हैं और उनका दर्शन होता है। श्रीभगवान् भक्तिके ही वश हैं, भक्ति ही श्रेष्ठ वस्तु है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवम्विधोऽर्ज्जुन!
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

संसारमें परमात्माके प्रिय वा अप्रिय कोई नहीं हैं, परमात्मा सर्वत्रही समरूप हैं, केवल जो साधक भक्तिके साथ उनकी भजना करते हैं भगवान् उनके और वे भगवान्के हैं। वेद, तपस्या, दान अथवा यज्ञके द्वारा श्रीभगवान्के विराट् रूपका यथार्थ दर्शन नहीं हो सकता है, केवल भक्तिके द्वारा ही भक्तलोग उनके अद्वितीय स्वरूपको जान सकते हैं, देख सकते हैं और उसमें लवलीन हो सकते हैं।

दैवीमीमांसादर्शन, शाण्डिल्यदर्शन और नारदीय दर्शनोंमें भक्तिकी महिमा प्रतिपादक अनेक सूत्र मिलते हैं, यथाः—

"भक्त्याऽमृतत्वं तदास्वादादनवपातः"

भक्तिके द्वारा अमृतत्व लाभ होता है जिसके आस्वादनसे पतन सम्भावना दूर हो जाती है।

"अकाम्या सा निरोधरूपत्वात्"

भक्ति कामना नहीं है क्योंकि जिस कामनासे सकल कामनाका निरोध होता है वह कामना नहीं कहला सकती है।

"स्वयं फलरूपत्वात्सर्वफलप्रदा"

भक्ति सकल साधनाका फलरूप होनेसे सर्वफलप्रदानकारिणी है।

"ज्ञाननिष्ठेतरयोस्तल्लाभः सर्वाश्रयत्वात्"

ज्ञानी या अज्ञानी सभी भक्तिके आश्रयसे कल्याण प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि भक्ति सभीकी आश्रयरूपिणी है।

"सा परार्द्ध्या निखिलसाधकापेक्षित्वात्"

भक्ति सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसके विना कोई भी साधक किसी साधनामार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता है।

"सर्वधर्माङ्गप्रपन्ना च"

भक्ति कर्म, उपासना, ज्ञान, यज्ञ आदि सकल धर्माङ्गकी ही सहायक है। इसके विना किसी धर्माङ्गकी पूर्ति नहीं हो सकती है।

"लघूदितायामपि महाकल्मषहानम्"

सामान्य भक्तिका उदय होनेसे ही महापापका नाश हो जाता है।

अन्त्यजोऽप्यधिकारी तत्र साम्यात्।

अत्यन्त नीच योनिके मनुष्योंका भी भक्तिमें अधिकार है। सभी भक्त समान हैं। कर्म और ज्ञान मार्गके लिये अधिकारीकी अपेक्षा रहती है और वर्णाश्रमका भी विचार रखना पड़ता है; परन्तु भक्तिमार्गमें इस प्रकार विचारकी कोई भी आवश्यकता नहीं होती है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा हैः—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अत्यन्त दुराचारी भी यदि एकान्तरति होकर भगवान्‌की भजना करें तो वे साधुवत् माननीय होंगे क्योंकि भगवत्कृपासे इस प्रकार भक्तका दुराचार नष्ट होकर आध्यात्मिक उन्नति होगी। श्रीभगवान्‌के प्रति भक्ति करनेसे पाप-योनि स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परमगतिको प्राप्त कर सकते हैं।

"विधिनिषेधागोचरत्वमनुभवे"

अनुभव होनेके अनन्तर कोई विधिनिषेध नहीं रहता है। पराभक्ति प्राप्त सिद्ध भक्त त्रिगुणाधिकारसे मुक्त होकर धर्माधर्मादि विधिनिषेधको परित्याग कर दिया करते हैं।

"अविपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम्"

पराभक्ति तक पहुंचनेमें असमर्थ होनेपर भी इष्टदेव-लोकप्राप्ति अवश्य ही हो जाती है। कर्म, ज्ञान आदि मार्गमें अपूर्ण दशायुक्त मनुष्योंका प्रायः पतन होता है; परन्तु भक्तिमार्गकी यह विशेषता है कि पूर्णता प्राप्त न होनेपर भी पतन नहीं होगा, सालोक्यादि मुक्ति अवश्य ही प्राप्त होगी। देवी भागवतमें इस प्रकारके भक्तके विषयमें लिखा है:—

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग ।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ॥
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति ।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग्भवेन्नग ॥

भक्तिका अनुष्ठान होनेपर भी मन्दप्रारब्धके कारण जिस भक्तको पराभक्ति प्राप्त नहीं होती है वे इष्टदेवके लोकको प्राप्त करते हैं। वहांपर इच्छा न होनेपर भी भक्तका सकलप्रकारके भोग प्राप्त होते हैं और तदनन्तर काल प्राप्त करके पराभक्ति द्वारा परमात्माका ज्ञानलाभ होनेसे भक्तको विदेहमुक्ति लाभ हुआ करती है; यथा—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

ब्रह्मलोकप्राप्त भक्त प्रलयकाल पर्यन्त उक्त लोकमें वास करके प्रलयकालके समय अपने इष्टदेवके साथ परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। यही सब भक्तिकी महिमा और विशेषता है।

अब भक्तिके अङ्ग प्रत्यङ्गके वर्णन किये जाते हैं। भक्ति प्रधानतः द्विधा विभक्त है, यथा-दैवीमीमांसा दर्शनमें—"सा द्विधा गौणी परा च"। भक्ति दो भागमें विभक्त है—गौणी और परा। साधनदशाकी भक्ति गौणी और सिद्धिदशाकी भक्ति परा भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिके पुनः दो भेद हैं, यथा:—दैवीमीमांसामें—

"साधनलभ्या गौणी वैधी रागात्मिका च"

वैधी और रागात्मिका नामसे द्विधा विभक्त तथा साधन द्वारा प्राप्य भक्ति ही गौणी भक्ति है। गौणी भक्ति दो प्रकारकी है-वैधी और रागात्मिका। वैधी भक्तिके लक्षणके विषयमें दैवीमीमांसामें कहा है—

"विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा"

विधिके द्वारा जिसका साधन होता है इस प्रकारकी तथा उन्नत भक्ति भूमिके लिये सोपानरूपसे सहायताकारी भक्ति ही वैधी भक्ति है। गुरूपदेशानुसार विधिनिषेधके वशवर्त्ती होकर वैधी भक्तिके विविध अङ्गोंके नियमित साधन द्वारा साधक भक्तिके उन्नत राज्यमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करते हैं। वैधी भक्ति पुनः नौ अङ्गोंमें विभक्त है, यथा—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, वैधी भक्तिके ये ही नौ अङ्ग कहे गये हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुणकथाओंके श्रवणका नाम श्रवण है। यह वैधी भक्तिका प्रथम अङ्ग है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति स मलं कृष्ण सलिलस्य यथा शरत्॥

जहां पर सुधासिन्धुकी नाईं श्रीभगवान्‌की गुणकथा नहीं प्रवाहित होती

है, जहांपर परम भागवत साधुगण नहीं निवास करते हैं, जहांपर यज्ञेश्वरके यज्ञका महोत्सव नहीं होता है, इन्द्रलोक होनेपर भी ऐसा स्थान सेवनीय नहीं है। श्रीभगवान्‌की गुणकथा कर्णके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट होकर जैसा शरद ऋतु सरोवरके जलको शुद्ध करता है वैसाही हृदयकी मलिनताको परिशुद्ध किया करती है। इस प्रकारसे वैधी भक्तिके श्रवणरूपी अङ्गसेवन द्वारा भक्त-जनचित्त धीरे धीरे श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें सन्निविष्ट होने लगता है। वैधी भक्तिके द्वितीय अङ्गका नाम कीर्त्तन है। श्रीभगवान्‌के मधुर चरित्र-समूहके कीर्त्तनका नाम कीर्तन है। श्रीमद्‌भागवतमें लिखा है—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

श्रीभगवान् अनन्तदेवकी गुणावलीके कीर्त्तन करनेसे अन्तःकरणमें उनकी मधुर मूर्ति विराजमान होकर सूर्य किरणके प्रतापसे अन्धकार अथवा प्रचण्डवायुके वेगसे मेघकी तरह हृदय निहित समस्त व्यसनोंको विदूरित कर देती है। श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे कहा है—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता हूं और योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता हूं। मेरे भक्तलोग जहांपर कीर्त्तन करते हैं वहां ही मैं रहता हूँ। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के मधुर नाम-कीर्त्तन द्वारा भक्तहृदयमें धीरे धीरे भगवद्भावका उदय हुआ करता है। वैधी भक्तिके तृतीय अङ्गका नाम स्मरण है। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्ति, मधुर नाम या मधुर भावके स्मरणको स्मरण कहा जाता है। भगवत्स्मरणके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है: —

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके निशिदिन स्मरण करनेसे अमङ्गलनाश

और शान्ति, सत्त्वशुद्धि, परमात्मभक्ति तथा विज्ञानविरागयुक्त ज्ञानकी वृद्धि हुआ करती है । श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

अनन्यचित्त होकर जो सदा ही मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं बहुत ही सुलभ हो जाता हूँ ।

समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

मैं सकल भूतोंमें एक भावसे विद्यमान हूं । कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है । केवल जो भक्तिके साथ मेरी भजना करते हैं वे मुझमें और मैं उनमें हूँ । इस प्रकारसे वैधी भक्तिके स्मरण अङ्गके साधन द्वारा भक्तहृदय-कमल भगवान्‌की कृपाकिरणसे धीरे धीरे प्रफुल्लित हुआ करता है, जिस कमलासनमें श्रीभगवान् आनन्दके साथ आसीन होते हैं । वैधी भक्तिके चतुर्थ अङ्गका नाम पादसेवन है । श्रीभगवान्‌के चरणकमलकी सेवाका नाम पादसेवन है । इसके फलके विषयमें शास्त्रमें कहा है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ।

जिस प्रकार भगवत्पादसे निकली हुई जाह्नवी अनुक्षण वर्द्धिता होकर संसारकी मलिनताको दूर करती है उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवा द्वारा भी तपस्वियोंके चित्तसे जन्म जन्मान्तरसञ्चित मलिनता शीघ्र ही नष्ट हो जाया करती है और इस प्रकारसे चित्तकी मलिनता नष्ट होनेपर भक्तिचित्तमें भगवद्भावका उदय होने लगता है । यही वैधी भक्तिके पादसेवन-रूप अङ्गका फल है । वैधी भक्तिके पंचम अंगका नाम अर्चन है मिट्टी, पाषाणसे आदि स्थूल मूर्त्ति बनाकर अथवा हृदयमें मनोमयी मूर्त्ति बनाकर बाह्य और मानस पूजाका नाम अर्चन है । भक्तिके साथ इस प्रकार पूजा करनेसे भगवत्प्र-सन्नता होती है जिससे भावहृदयमें भगवद्भावका धीरे धीरे उदय होने लगता है । यथा गीतामें—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतं गृह्णामि प्रयतात्मनः ॥

पत्र, पुष्प, फल या जल जो कुछ हो भक्तिके साथ अर्पण करनेसे मैं सादर ग्रहण करता हूं। वैधी भक्तिके षष्ठ अङ्गका नाम वन्दन है। श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी वन्दनाका नाम वन्दन है जिसके द्वारा भक्तमें अहंकार-नाश और भगवद्भावका उदय होता है। तदन्तर दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामक वैधी भक्तिके अन्तिम तीन अंगोंका साधन भक्ति शास्त्रमें विहित किया गया है। इन तीनों अंगोंका वास्तविक विकाश भक्तिकी रागात्मिका दशामें होनेपर भी वैधी तथा रागात्मिकाकी सन्धिदशामें अभ्यासके तौरपर रागात्मिका दशाकी प्राप्तिके लिये इन तीनोंका साधन होता है। दास्य भावमें श्रीभगवान्‌का दास बनकर उनकी सेवाके अभ्यास द्वारा अहङ्कार नाश और भक्तिप्राप्ति और सख्य भावमें उनके सखारूपसे एकप्राणता प्राप्तिके अर्थ हार्दिक प्रयत्नके द्वारा भक्त हृदयमें अवश्य ही भगवान्‌के प्रति पुण्यमय मधुर प्रेमका विकाश होने लगता है। तदन्तर वैधी भक्तिके अंतिम अंग आत्मनिवेदन भावके अभ्यास द्वारा भक्तिकी शारीरिक तथा मानसिक सकल चेष्टा भगवद्भावमयी ही हो जाती है जिसके फलसे भक्तहृदयमें भगवान्‌के प्रति अपूर्व दिव्य रागका विकाश हो जाता है। आत्मनिवेदन भावके साधनके समय भक्तकी चेष्टाएँ कैसी होती हैं उसके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा-श्रीमद्भागवतमें—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्यां रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः

आत्मनिवेदन भावके उदय होनेसे साधकका अन्तःकरण भगवच्चरणारविन्दमें, वाक्य भगवद्गुणगानमें, हस्त उनके मंदिरोंके मार्जनमें, कर्ण भगवद्विषयिणी मधुर कथाओंके श्रवणमें, दृष्टि उनकी मूर्त्तिके देखनेमें, शरीर उनके भक्तोंके अंग स्पर्शमें, घ्राणेन्द्रिय भगवच्चरणकमलोंके सुगन्ध आघ्राणमें, रसना उनमें समर्पित तुलसीके रस ग्रहणमें, चरण उनके तीर्थक्षेत्रोंके गमनमें, मस्तक उनके चरणवन्दनमें और काम विषयविलासमें नियुक्त न होकर साधुजनोंकी तरह श्रीभगवान्‌की सेवामें ही नियुक्त होते हैं। यही वैधी भक्तिके नवधा विभक्त अङ्गोंका साधन है। वैधीभक्तिके नौ भेदोंका स्वरूप दिखाया गया। यह नौ साधन अथवा इनमेंसे कुछ कुछ साधन भक्ति योगके साधक शिष्यको श्रीगुरुदेव प्रथम उपदेश देते हैं और उसके विशेष विशेष साधनोंका अभ्यास कराते हैं। इसी कारण इस दशाकी भक्तिको वैधी कहते हैं। इस प्रकार साधन द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होनेसे साधकको क्या सिद्धि मिलती है सो नीचे बताया जाता है।

वैधीभक्तिके पूर्णसाधनसे भगवत्कृपाप्राप्त, निशिदिन इष्टदेवके ध्यानमें निमग्न भक्तका हृदयकमल विकसित होकर श्रीभगवान्‌के प्रति जिस समय उसमें तैलधाराकी तरह अविश्रान्त और अपूर्व अमृतमयी प्रेमधाराका प्रवाह बहने लगता है, जिस प्रेमधाराके मधुर आस्वादनसे परितृप्त भगवान् भक्तके हृदयारविन्दमें विराजमान होकर भक्तहृदयमें निरंतर आत्मरति, आनन्द और शान्तिका उदय कर दिया करते हैं उसी निरन्तर बहनेवाले भगवत् प्रेमका नाम रागात्मिका भक्ति है, यथा-दैवीमीमांसामें:—

रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका।

भक्तिके जिस भावसे श्रीभगवान्‌के प्रति अपूर्वरस अर्थात् प्रेमका अनुभव होता है और जिस भावमें भक्तहृदयमें आनन्द तथा शान्तिका उदय होता है उसीका नाम रागात्मिका भक्ति है। भक्तिके इस भावमें श्रीभगवान्‌के प्रति साधकके चित्तकी निरन्तर प्रीति बनी रहती है। जिस प्रकार नूतन आई हुई कुलवधूको पतिके प्रति प्रेम उत्पन्न करनेके लिये उनकी सेवाकी अनेक विधि प्रथमतः बताई जाती है परंतु जिस समय पतिव्रताका प्रेम पतिके प्रति उत्पन्न हो जाता है उस समय वे स्वयं ही निशिदिन उस प्रेममें मग्न रह कर विधिके विना ही समस्त कर्त्तव्यको पालन कर दिया करती है उसी प्रकार भक्तिकी वैधी दशामें भगवान्‌के प्रति प्रेमाभ्यासके लिये श्रवणकीर्त्तनादि अनेक विधिकी आवश्य-

कता होनेपर भी भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्‌के प्रति पतिप्राणा सतीकी तरह प्रेम हो जानेपर विधियोंके अभ्यासका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है। भक्त भगवान्‌के प्रति पवित्र प्रेमबद्ध होकर उन्हीके चरणकमलके मधुर ध्यानमें अहरहः निमग्न रहते हैं जिससे उनके चित्तमें दुःख-लेशहीन आनन्द और शान्तिकी दिव्य ज्योति सदा ही प्रफुल्लित रहा करती है, यथा—भागवतमें:—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥
भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

श्रीभगवान्‌के प्रति मधुर प्रेमभावका प्राप्त करके भक्तहृदय द्रव हो जाता है, आनन्दसे उनका अङ्ग पुलकित होने लगता है, वे अश्रुपूर्ण और गद्गद् कण्ठ होकर उन्हींके चरणकमलमें मनोरूपीभ्रमरको सदैव निमग्न रखते हैं। इस प्रकार भक्तके हृदयमें अपूर्व आनन्द उत्पन्न होनेसे उनकी आंखोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगता है और वे श्रीभगवान्‌के प्रेममें उन्मत्त तथा विलीन होकर मुक्त-पुरुषकी तरह अहम्भावशून्य हो जाते हैं। इस प्रकारसे इष्टदेवके ध्यानमें निमग्न भक्तको संसारके प्रति वैराग्य और भगवद्भावप्राप्ति होती है जिससे साक्षात् परमा शान्ति भक्तहृदयमें चिरकालके लिये विराजमान हो जाती है।

भक्तिकी रागात्मिका दशामें साधकको बाहरी चेष्टा कैसी रहती है इस विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है:—

"यता मत्तस्तब्धात्मारामत्वम्"

इस प्रकारके भक्तको लोकलज्जा, लोकभय आदि कुछ भी नहीं रहता है। वे कभी भगवत्प्रेममें उन्मत्त होकर नृत्यगीतादि करते हैं, कभी कभी मधुपानमें निमग्न भ्रमरकी नाईं भगवान्‌के आनन्दामृत पानमें मग्न होकर स्तब्ध रहते हैं और कभी बाह्यज्ञानशून्य होकर भीतर विराजमान परमात्माके अलौकिक आनन्दमें ही रमण करते रहते हैं। रागात्मिका भक्तिके इन सब भावोंके अनेक प्रमाण शास्त्रमें मिलते हैं, यथा—नारदसूत्रमें—

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" "मूकास्वादनवत्"
"शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च"
"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं
सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्"
"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति
तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति"
"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति"
"कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः
पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च"

और भी श्रीमद्भागवतमें—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या ।
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै—
र्हसत्यथो रोदिति रौति गाय—
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्यनिर्वृताः ॥
क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।

क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥
निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस—
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥

भगवत्प्रेमोन्मत्त भक्त गद्गदवाणी और भक्ति-रससे द्रव होकर कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं और कभी उन्मत्तकी तरह निर्लज्ज होकर नाचते गाते हैं। इस प्रकारसे भगवद्भक्त संसारको पवित्र करते हैं। उस समय उनकी लोकलज्जा आदि सभी वृत्ति लुप्त हो जाती हैं। वे भगवान्‌की चिन्तासे कभी कभी रोते रहते हैं, कभी उनके विषयमें चर्चा करते रहते हैं और कभी आत्माराम होकर मौन हो रहते हैं। उस समय भगवत्प्रेमजनित आनन्दाश्रुके द्वारा उनकी आंखें भरकर निस्पन्द हो जाती हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुण कथाओंको तथा उनके विविध अवतारोंकी लीलाओंको सुनकर भक्त-हृदय पुलकित और गद्गद हो जाता है, वे उच्च स्वरसे गाते, रोते और नाचते हैं। उस समय लौकिक दृष्टिमें उनकी चेष्टा बिलकुल पागलकी तरह होती है, वे भगवान्‌का ध्यान करते हैं, संसारको उनका रूप जानकर समस्तजीवोंको प्रणाम करते हैं और पुनः पुनः दीर्घ श्वास त्याग करते हुए निर्लज्ज और आत्ममति होकरके हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण इत्यादि रूपसे कहा करते हैं। उस समय उनके चित्तकी सकल कामना नष्ट हो जाती है। काम क्रोधादि समस्त वृत्तियां समुद्रमें विलीन नदियोंकी तरह भगवत्प्रेमसमुद्रमें विलीन हो जाती हैं, यथा—नारदसूत्रमें:—

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।

समस्त कर्मोंको श्रीभगवान्‌में समर्पण करके काम, क्रोध, अभिमान आदि उन्हींके प्रति करना चाहिये। भक्तिके उपरोक्त रागात्मिका दशामें भक्त ऐसा ही करते हैं। उनका काम भक्तप्रेमकी कामनामें, उनका क्रोध कुभावोंके दमनमें और उनका अभिमान भगवान्‌के प्रति एकात्मरतिके अभिमानमें चरितार्थ हो जाता है जिसके फलसे भक्तके हृदय कमलमें निशिदिन आनन्द-कन्द सच्चिदानन्दकी मधुर परमा स्थिति विराजमान रहती है। वे जब चाहते हैं और प्रार्थना करते हैं तभी इष्टदेव भगवान्‌की मायमयी स्थूल मूर्त्तिको स्थूल और मानस नेत्रके सामने देख सकते हैं। भक्तशिरोमणी प्रह्लाद, ध्रुव आदिको रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें ही श्रीभगवान्‌की अनन्तसुन्दर मधुर मूर्तिका दर्शन हुआ था, यथा—श्रीमद्भागवतमें—

अजातपक्षा इव मातरं खगा ।
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥

भक्त भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं—"हे कमल लोचन! जिस प्रकार पंखहीन पक्षिशिशु अपनी माताके दर्शनके लिये लालायित रहते हैं, जिस प्रकार क्षुधाकातर शिशु मातृस्तनपानके लिये व्यग्र रहते हैं और जिस प्रकार प्रवासी पतिके सन्दर्शनके लिये प्रियतमा स्त्रीका चित्त सदैव व्याकुल रहता है उसी प्रकार मेरा चित्त सदा ही आपके दर्शनके लिये लालायित रहता है।" इस प्रकार श्रीभगवान्‌के दर्शनके लिये जब रागात्मिका भक्तियुक्त भक्तका चित्त लालायित होता है तभी उनको श्रीभगवान्‌का दर्शन होता है, जैसा कि परवर्त्ती श्लोकमें कहा गया है, यथा—इस प्रकार भगवद्भक्त महात्मा प्रसन्न वदन, अरुण नेत्र, दिव्यरूपधारी, वरप्रदाता श्रीभगवान्‌का दर्शन करते हैं और उनके साथ प्रिय मधुर आलाप करते हैं। इस प्रकार भगवद्दर्शनका क्या फल होता है? इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम् ॥
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥

श्रीभगवान्‌के दर्शनसे समस्त पापसमूह विनष्ट हो जाता है, हृदयमें शान्ति और पवित्रताकी मन्दाकिनी बहने लगती है। भक्त भगवान्‌के चरण-कमलकी शरण ले लेते हैं और अत्यन्त भक्तिसे प्रेमाश्रुपूर्ण और रोमाञ्च युक्त होकर श्रीभगवान्‌को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। शान्तस्वरूप श्रीभगवान्‌में आसक्तचित्त इस प्रकारके भक्तको किसी लोकमें भी सुखका अभाव नहीं होता है। सदा भ्रमणकारी कालचक्र कभी उनको ग्रास नहीं कर सकता है। वे श्रीभगवान्‌के साथ प्रिय, आत्मा, वात्सल्य, सखा, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव भावसे मधुर रागमूलक प्रेममें आसक्त रहते हैं। श्रीभगवान्‌के प्रति इस प्रकार पवित्र प्रेम होनेसे समस्त संसार साधकके लिये आनन्द-कानन बन जाता है। वे जगत्‌में सर्वत्र ही भगवत्प्रेमका उल्लास देखने लगते हैं। उनकी दृष्टिमें समुद्र तरङ्गमें प्रेमका नृत्य, नदीके प्रवाहमें प्रेमका प्रवाह, पवनके सञ्चालनमें उनकी करुणाका प्रवाह, पुष्पोंके विकाशमें आत्मानन्दकी लहरीलीला, सुधाकरके मुखमें प्रेमसुधामय मधुर हास्य, नक्षत्र मण्डलमें प्रेमानन्दकी अनन्तविलासं-मयी निर्झरिणी (झरना) भ्रमरगुंजारमें प्रेमका गुंजार, जगच्चक्रकी नित्य गतिमें प्रेममयी प्रकृतिमाताकी अनन्तानन्दसमुद्रकी ओर तीर्थयात्रा तथा जगज्जीवोंकी निखिल चेष्टाओंमें प्रेममय भगवान्‌की पवित्र पूजा दिखाई देने लगती है। इस प्रकार पवित्र भावमें मग्न होकर ही व्रजगोपिकाओंने कहा था, यथा-श्रीमद्भागवतमें—

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्वयरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥

धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजां रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्म्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥

दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्णचरणस्परशप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार-
वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥

गोपिकाएँ कह रही हैं "हे सखि! वृन्दावनकी शोभा दिव्यलोकोंसे अधिक बढ़ी हुई है; क्योंकि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके चरणकमलोंके द्वारा यहांपर अपूर्व शोभासम्पत्ति प्राप्त हुई है। गोविन्दके मधुर गम्भीर वंशीनादको श्रवण करके मयूरगण उसे नीलमेघका गर्ज्जन समझकर नृत्य कर रहे हैं और उसी नृत्यको पर्वतके अन्यान्य जीव निश्चेष्ट और शान्त होकर देख रहे हैं। धन्य हैं वे सब मृगस्त्रियां जो पशु होनेपर भी विचित्रवेषधारी नन्दनन्दनकी मधुर वंशीध्वनिको सुनकर निज निज पतिके साथ प्रणयपूर्ण नेत्रकमलोंके द्वारा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रकी पूजा कर रही हैं। देखिये गौएं श्रीभगवान्के वंशीनादरूपी अमृतको कान ऊंचा करके पी रही हैं और उनके वत्सगण मातृस्तनपान करते करते इस बीचमें श्रीभगवान्के वंशीनादामृत-पानमुग्ध होकर मातृस्तनपान करना भूल रहे हैं। उनका ग्रास मातृस्तनमें ऐसा ही धरा हुआ है। इस प्रकारसे दृष्टिके द्वारा आनन्दकन्द गोविन्दको हृदयमें आलिङ्गन करके वत्सगणके साथ गोमाताएं अश्रुपूर्णनेत्रा होकर वंशीनादरूपी अमृतके पानसे मुग्ध हो रही हैं। हे मातः! वृन्दावनके समस्त पक्षी गोविन्दकी कृपासे मुनियोंके जीवनको प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार कर्मफलत्याग करके सत्कर्मरूपी पत्रसे सुशोभित वेदवृक्षपर आरूढ़ होकर मुनिगण श्रीभगवान्का सन्दर्शन और मधुर प्रणवका नाद श्रवण करते हैं। उसी प्रकार वृन्दावनके पक्षिगण पुष्पफलोंके विना भी केवल कोमल सुन्दर पत्रोंसे ही सुशोभित वृक्षोंपर बैठकर आनन्दसे आखें मींचकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रका दर्शन और उनके मधुर वंशीका श्रवण कर रहे हैं। चेतन जीवोंकी बात ही क्या है, देखिये अचेतन नदी भी मुकुन्दके मधुर वंशीगानको सुनकर जलभ्रमके रूपसे रतिके वेगको बता रही है और उनके आलिङ्गनमें मुग्धा होकर तरङ्गरूपी भुजाओंके द्वारा उनके चरणयुगलमें कमलोंका उपहार प्रदान कर रही है। अचेतन मेघ भी श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिसे प्रफुल्लित होकर बलराम, गोपबालक और व्रजपशुओंके साथ भ्रमण करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके ऊपर धूप निवारणके लिये अपने शरीररूपी छत्रको धारण कर रहे हैं। देखिये अत्यन्त आनन्दका विषय है कि यह अचेतन गोवर्द्धन पर्वत भी श्रीहरिके समस्त भक्तोंमें श्रेष्ठ है; क्योंकि इसके शरीरपरके तृणसमूह रामकृष्णचरणकमलस्पर्शसुखसे रोमाञ्चनकी तरह विकाशको प्राप्त हो रहे हैं और वे गोवर्द्धन पानीय जल, कोमल तृण, कन्दर तथा कन्दमूल फलोंके द्वारा श्रीकृष्ण, बलराम, उनके सखागण तथा गौओंका परम सत्कार कर रहे हैं। हे सखिगण! यह बड़ी ही विचित्र बात है कि गोपबालकोंके साथ गौओंके चरानेवाले रामकृष्णके मधुर

भ्रमण तथा वेणुनादके द्वारा शरीरियोंमें जो गतिशील हैं वे तो गति छोड़कर स्थावरधर्मी हो रहे हैं और वृक्षादि जो स्थावरधर्मी हैं वे रोमाञ्चनके द्वारा जङ्गमजीवोंके धर्मको प्राप्त हो रहे हैं। रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें भक्त और भगवान्की परम घनिष्ठता हो जाती है। भक्त भगवान्के साथ प्रियतम सखा और आदरकी आत्मीय वस्तुकी नाईं हंसते खेलते रहते हैं, उनपर सब प्रकारका जोर तथा मान करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भी उन सब मान और प्यारके लक्षणोंको आनन्दके साथ सहन करते रहते हैं। इसी आत्मीयतामूलक जोरके साथ ही जिस समय श्रीभगवान्ने भक्त सूरदाससे अपना हाथ छुड़ा लिया था उस समय सूरदासने कहा था—

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे भगवन्! तुम हाथ छुड़ाके जाते हो इसमें तुम्हारा पौरुष क्या है। यदि हृदय छोड़के जा सको तभी तुम्हारा पौरुष मानूंगा। इसी प्रणयमूलक जोर और अहङ्कारके साथ भक्त उदयनाचार्यने कहा था –

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

हे भगवन्! तुम ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर मेरी अवज्ञा करते हो और दर्शन नहीं देते हो, परन्तु स्मरण रक्खो कि जब बौद्धलोग आकर तुम्हारी सत्ताके नाशके लिये उद्यत होंगे तब तुम्हें मेरे ही अधीन होना पड़ेगा; क्योंकि उस समय मैं ही नास्तिक बौद्ध मतका खण्डन करके तुम्हारी सत्ताकी रक्षा करूंगा। यही रागयुक्त भक्तका श्रीभगवान्के प्रति प्रेम तथा घनिष्ठतामूलक सच्चा भाव है। भक्तहृदयमें इस प्रकार प्रेमभावका उदय होनेपर भक्तवत्सल भगवान् उनके अधीन हो जाते हैं, यथा–श्रीमद्भागवतमें—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियश्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

श्रीभगवान् कह रहे हैं "मैं भक्तोंके अधीन हूं, स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदयपर साधु भक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है, मेरे भक्त साधुओंके बिना मैं अपने आत्माको तथा परमा श्रीको भी नहीं चाहता हूं, मैं साधुओंकी ही परम गति हूं, जिन महात्माओंने स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादि तथा परलोककी सुखेच्छाको भी छोड़कर मेरा आश्रय लिया हुआ है उनको मैं किस प्रकारसे त्याग सकता हूँ, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिप्रेमके द्वारा निज पतिको वश किया करती है उसी प्रकार समदर्शी साधुगण भी मुझमें हृदयको बांध कर मुझे वशी भूत कर लेते हैं, साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ, वे सिवाय मेरे और कुछ भी नहीं जानते हैं और मैं भी सिवाय उनके और कुछ भी नहीं जानता हूं।" यही भक्तिकी रागदशामें भक्त तथा भगवान्का पारस्परिक प्रम सम्बन्ध है। श्रीभगवान्के प्रति इस प्रकार पवित्र रागमूलक भावके द्वारा भक्त आध्यात्मिक भूमिमें शीघ्रही विशेष उन्नति लाभ करते हैं। इसी प्रकारके जगत्पवित्रकारी भक्तिरस-सागरमें उन्मज्जन करनेवाले भक्त भारतवर्षमें समय समय पर विष्णु उपासक, शक्ति उपासक, शिवोपासक, गणपति-उपासक और सूर्योपासक आदि सब उपासक-सम्प्रदायोंमें प्रकट हुए हैं, जिनकी महिमा उक्त सम्प्रदायोंके पुराणोंमें वर्णित है। प्रकृतिके वैचित्र्यानुसार भावका भी वैचित्र्य होनेसे ऊपर लिखित राग किन किन भावोंसे भक्तके द्वारा विकाशको प्राप्त होता है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

भावमय दृश्यसंसार चतुर्दशभागमें विभक्त होनेसे भावमूलक भक्तिरस भी चतुर्दश प्रकारके होते हैं। प्रकृतिकी स्वाभाविक विचित्रता चतुर्दश प्रकारसेही प्रकट होती है इसलिये भक्तिराज्यके जीवोंमें स्वभावतः ही चतुर्दश प्रकारके भक्तिभाव देखनेमें आते हैं, यथा-दैवीमीमांसादर्शनमें—

"रसानुभवश्चतुर्विधस्तत्र सप्तगौणाः सप्त मुख्याः ।
हास्यादयो गौणाः, दास्यासक्ति-सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-
वात्सल्यासक्ति-आत्मनिवेदनासक्ति-गुणकीर्तनासक्ति-
तन्मयासक्तयश्च मुख्याः"

श्रीभगवान्‌के प्रति प्रीतिमूलक रसका बोध चतुर्दश प्रकारसे होता है। उसमें सप्तरस गौण हैं और सप्त मुख्य हैं। हास्य आदि रस गौण हैं और दास्य, सख्य आदि रस मुख्य हैं। भक्तिमार्गके प्रवर्त्तक दार्शनिक आचार्योंने सृष्टि प्रवाहको श्रृङ्गारात्मक माना है। सृष्टि लीला परम पुरुष तथा प्रकृति माताके संयोगसे होनेके कारण वह श्रृङ्गारात्मक है इसमें सन्देह नहीं। श्रुतिमें वर्णन है—

"आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत
जाया मे स्यादथ प्रजायेय" "स तपस्तप्त्वा मिथुनमैच्छत्"

सृष्टिके पहले परमात्मा एकाकी थे, उन्होंने सृष्टिकी इच्छा करके जायाकी कामना की जिससे प्रजाकी उत्पत्ति हो सके। आत्माने तपस्या करके प्रकृतिके साथ संयुक्त होकर सृष्टिकी इच्छा की। पुराणमें लिखा है—

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव ह।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता॥
दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह॥
नानाप्रकारश्रृङ्गारं श्रृङ्गारो मूर्त्तिमानिव।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम्॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह।
शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वाधारालयं परम्॥

परमात्माने सृष्टि विस्तारके लिये योगबलसे अपने शरीरको द्विधा विभक्त किया। उसमेंसे दक्षिणका अर्द्धाङ्ग पुरुष और वाम अर्द्धाङ्ग स्त्री बना है। परमात्माने अपनी अर्द्धाङ्गरूपिणी उस स्त्रीके साथ रासलीला रूपसे बहुकाल तक नानाप्रकार श्रृङ्गार-मूलक सम्बन्ध किया। उसी श्रृङ्गारके फलसे भगवच्छक्तिरूपिणी प्रकृतिमाताने शतमन्वन्तर तक ब्रह्मतेजपूर्ण गर्भधारण किया और पश्चात् उसी गर्भसे समस्त संसारकी उत्पत्ति हुई। उसी परम-पुरुष और मूलप्रकृतिकी श्रृङ्गारमयी सृष्टिको चौदह भागमें विभक्त देखकर आचार्योंने रसमय जगत्‌को चौदह भागोंमें विभक्त किया है। भक्ति शास्त्रके अनुसार वेही चौदह रस हैं जिनमेंसे सात रस गौण और सात मुख्य माने जाते

हैं। इन दोनों प्रकारके रसोंके द्वारा उन्नति-लाभके विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें लिखा है--

परा मुख्यरससन्निकर्षादुन्नतिस्तु सर्वरसाश्रया।

दास्यादि मुख्य रसोंके द्वारा ही पराभक्तिलाभ हुआ करता है, परन्तु उन्नति मुख्य गौण सभी रसोंके द्वारा होती है। श्रीभगवान् रसरूप होनेसे उनकी ही सत्तासे विकाशप्राप्त मुख्य और गौण सकल रसोंके भीतर उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है इसलिये सकल रसोंके द्वारा ही उन्नतिलाभ हुआ करता है। केवल दोनोंमें भेद इतना ही है कि हास्य, बीभत्स आदि गौण रसोंके साथ स्थूलविषयोंका सम्बन्ध रहनेसे तथा उनके आधारके मलिन शृङ्गारमय होनेसे गौण रसके द्वारा अद्वैत भावमय निर्विकल्पसमाधिप्रद पराभक्तिलाभ नहीं हुआ करता है, उनके द्वारा भक्तिराज्यमें उन्नति और अन्तमें सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो सकती है; परन्तु दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि सप्त मुख्य रसोंका फल इसप्रकारका नहीं है; क्योंकि इन रसोंके आधार शुद्धशृङ्गारमय होनेसे तथा इनके साथ बहिर्विषयोंका सम्बन्ध नहीं रहनेसे उन सभोंके द्वारा साक्षात्रूपसे पराभक्तिलाभ हुआ करता है। अब नीचे गौण और मुख्य दोनों रसोंके ही विविध भावोंका वर्णन किया जाता है। गौण रसके सात भाव हैं, यथा-हास्य, वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र। भक्त अपनी प्रकृतिके अनुसार कहीं वीर भावसे, कहीं करुण भावसे, कहीं रौद्र भावसे और कहीं हास्य आदि रसके साथ श्रीभगवान्में अपने चित्तको लवलीन करता है जिसके परिणाममें तन्मयता उत्पन्न होकर भक्तको भक्तिराज्यमें उन्नतिलाभ हुआ करता है। कुरुक्षेत्रके रणस्थलमें श्रीभगवान्का प्रतिज्ञाभङ्ग कराकर उनके भक्तवत्सल नामको जगज्जनोंके सामने प्रकट कर देनेके लिये भीष्मपितामहका जो कृष्णसखा अर्जुनके साथ घोर संग्रामका भाव था, जिस भावके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णको अपनी प्रतिज्ञा तकको भंग करनी पड़ी थी, वह भाव वीर रसका एक अति मधुर दृष्टान्त है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके व्रजधाममें रहते समय जिस भावके द्वारा गोप बालकगण उनसे मिलते और वयस्यकी तरह हँसते खेलते थे वह भाव हास्य रसका है। इन सब भावोंके अन्यान्य अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें पाये जाते हैं, यथाः—

शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे।
बर्भित्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी।

वीरी दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमीदामबन्धे स जीयात् ॥
भैष्मीराधादिरूपेषु शृंगारः परमोज्ज्वलः ।
भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान् ॥
बल्यर्ज्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने ।
अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रह तो भवेत् ॥
गोपालबाला हासस्य श्रीदामोद्वहनादिषु ।
एवमन्यत्र भीत्यादित्रितयेऽपि विचिन्त्यताम् ॥

इन सब श्लोकोंके द्वारा गौणरसके विविध दृष्टान्त बताये गये हैं, यथा-राधिकामें श्रृङ्गार रस, सखियोंमें करुण रस, अघासुर बकासुरके मारनेमें बीभत्स रस, गोपियोंके वस्त्र हरणमें हास्य रस, दैत्योंमें वीर रस, इन्द्रके रुष्ट होनेमें रौद्र रस, माखन चोरीमें विचित्र रस, भीष्ममें वीर रस, बलि अर्जुन तथा यशोदाको विश्वरूपदर्शनमें अद्भुत रस, गोपाल बालकोंमें हास्य रस इत्यादि सभी गौण रसके दृष्टान्त हैं। इन सब रसोंके गौण होनेपर भी इनके द्वारा उन्नति और सालोक्यादि मुक्ति किस प्रकारसे होती है इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है-

उक्तं पुरस्तादेतत् ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

जिस प्रकार श्रीभगवान्के प्रति द्वेषबुद्धिसे आसक्त होने पर भी चेदिराज शिशुपालकी मुक्ति हो गई थी उसी प्रकार गौण रसके साधनसे भक्तोंको मुक्ति मिलती है। श्रीभगवान्के प्रति काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहृद आदि किसी भावके द्वारा भी अनुरक्त होनेसे श्रीभगवान्की अलौकिक शक्तिके बलसे उसी भावमें हो भक्तको तन्मयताप्राप्ति हो जाती है और भगवद्भावमें तन्मयता प्राप्ति होकर मृत्यु होनेसे भगवल्लोकप्राप्ति अवश्य ही होती है; क्योंकि गीताजीमें लिखा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय तदा तद्भावभावितः॥

जिस भावको स्मरण करके भक्त प्राणको छोड़ता है, परलोकमें उसीके अनुसार गति मिलती है अतः किसी भी गौणरसके अवलम्बनमें इष्टदेवमें तन्मय होकर शरीर त्याग होनेसे उन्नति तथा सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त अवश्य ही होगी, इसमें सन्देह क्या ? यही हास्य, करुणा आदि सप्त गौणरसका स्वरूप और फल है। अब रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत सप्त मुख्यरसोंका वर्णन किया जाता है। उनके नाम, यथा—दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति तथा तन्मयासक्ति। श्रीभगवान्‌के प्रति मधुर रागका विकाश होनेसे भक्त निज निज प्रकृतिके अनुसार कहीं दास भावसे, कहीं सखाभावसे, कहीं कान्ता आदि भावसे उनके साथ प्रेम करते हैं और इन सब प्रीतियोंके साथ लौकिक भावका नाममात्र भी न होनेसे इस प्रकार प्रेमप्रवाहमें मग्न हो करके भक्तहृदय भावग्राही भगवान्‌के उदार आनन्दमय भावमें तन्मयता प्राप्त हो जाता है और तदनन्तर तन्मयभावकी पूर्ण दशामें निर्विकल्पसमाधिका उदय होकर सर्वत्र वासुदेवात्मक अद्वैत ब्रह्ममय जगत्‌का दर्शन होता है। यही शुद्धरागका लक्ष्य और चरम फल है। अब नीचे संक्षेपसे प्रत्येक भावका स्वरूप तथा परिणाम बताया जाता है।

रागात्मिका भक्तिके दासभावमें प्रभुभक्त दासकी तरह अपने शरीर, मन, प्राण और आत्माके द्वारा श्रीभगवान् तथा उनके विराट्‌रूप संसारकी सेवा करते हैं। उनके शरीर, मन, प्राणके द्वारा जो कुछ अनुष्ठित होता है सभी श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ और सेवाके लिये होता है। इस भावके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दरशनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

श्रीभगवान्‌के साथ दास्यभावमें आसक्त भक्तकी वाणी श्रीभगवान्‌के गुणानुगानमें ही नियुक्त रहती है, उनकी श्रवणेन्द्रिय श्रीभगवान्‌की लीलाकथाओंके सुननेमें ही लगी रहती है, उनके हस्त भगवत्कार्यमें ही लगे रहते हैं, उनका अन्तःकरण मुकुन्दचरणारविन्दके स्मरणमें ही निविष्ट रहता है, उनका मस्तक

श्रीभगवान्‌के निवासस्थान जगज्जनोंको प्रणाम करनेमें ही नियुक्त रहता है और उनकी दृष्टि भगवद्रूप भक्तोंके दर्शनमें ही लगी रहती है। इस प्रकारसे दासभावयुक्त भक्तका शरीर मन प्राण भगवत्सेवामें निशिदिन निविष्ट रहता है। जिस कार्यके साथ भगवत्सेवाका सम्बन्ध नहीं होता वह कार्य उनके चित्तमें कभी स्थान नहीं पाता है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

"मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः"

भगवद्भक्तके जो भक्त हैं वे मेरे श्रेष्ठतम भक्त हैं इसलिये दासभक्त श्रीभगवान्‌के भक्तोंकी सेवा करते हैं। श्रीभगवान्‌ने कहा है--

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्‌ बहुमानयत्
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

"मेरेसे पृथक् संसारमें कोई भी वस्तु नहीं है, सूत्रमें गुंथे हुए मणियोंकी तरह समस्त संसार मुझमें ही ओतप्रोत है इस लिये मेरे रूप समस्तजीवोंकी प्रीतिके साथ पूजा करनी चाहिये। ईश्वर ही जीवरूपसे समस्त संसारमें व्याप्त है इसलिये समस्त जीवोंकी सेवा करनी चाहिये।" श्रीभगवान्‌की इसी आज्ञाको हृदयङ्गम करके दास भक्त जगत्सेवामें सदा प्रवृत्त रहता है। इसी प्रकारसे दासभावके द्वारा अपना सर्वस्व श्रीभगवान्‌की सेवामें समर्पण करनेसे भक्तका जीवभावजनित अहङ्कार समूल नाशको प्राप्त हो जाता है जिसके फलसे भक्तको जीवभावके अवसानमें भगवद्भावप्रद पराभक्तिका लाभ होता है। यही दास्यासक्तिका स्वरूप और परिणाम है। भक्तिशास्त्रमें ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर, उद्धव, हनुमान् आदि भक्तोंकी प्रीति श्रीभगवान्‌के प्रति दास्यभावमूलक थी जिसके फलसे उन सभोंको निज निज अधिकारानुसार सद्‌गति प्राप्त हुई थी इसके अनेक वर्णन पुराणोंमें पाये जाते हैं।

रागात्मिका भक्तिके सख्यभावमें भक्त "गोविन्द मेरा सखा है, मेरा प्राण है" इस प्रकारसे अपने प्राणप्रियतम भगवान्‌के साथ अन्तरङ्ग भावमूलक घनिष्ठताके साथ सखारूपसे प्रेम करते हैं। उनकी अन्यचिन्ता और अन्य समस्त कार्य नष्ट होकर केवल प्रियतमका आनन्दविधान कार्य ही जीवनका

व्रत हो जाता है। उनके लिये संसारकी शान्ति और आनन्द प्रियतम भगवान्‌के सम्पर्कसे ही अनुभवगम्य होने लगता है। सुन्दर वस्तु उनके लिये सुन्दर तभी है जब प्राणसखा उसे पसन्द करे, उपादेय वस्तु उपादेय तभी है जब प्राणसखाकी उससे परितृप्ति हो, जगत् नन्दनकानन तभी है जब प्राणसखा उसमें विहार करे। जहांपर श्रीभगवान्‌का सम्पर्क नहीं है वह वस्तु या वह स्थान अनुरागपरायण सख्यभावासक्त भक्तके लिये अति तुच्छ है। उनकी दृष्टिमें सुधाकरकी सुधाधारा प्रियसखा भगवान्‌की प्रेमधारा रूपसे ही बहा करती है। उनकी दृष्टिमें प्रभाकरकी प्रचण्ड ज्योति प्राणसखाकी ही प्राणशक्ति रूपसे समस्त संसारको अनुप्राणित किया करती है। उनकी दृष्टिमें कुसुमोंका अनन्त विलास सखाके ही विविध रागमय हास्य विलास रूपसे संसारको शोभान्वित कर रहा है। उनका क्रोध पवनके तीव्र प्रवाहरूप औरसे, वज्रके भीषण गर्ज्जनरूपसे, उनका दुःख अमावस्याके अन्धकार रूपसे, विपत्ति वायुके दीर्घनिश्वासरूपसे, समस्त जगत्‌को शोभित कर देता है। इस प्रकारसे सख्यभावनिविष्ट भक्त धीरे धीरे विश्वप्राण परमात्माके साथ व्यापकरूपसे अपनी एक प्राणताका सम्पादन किया करते हैं। केवल यही बात नहीं, सख्यभावमें श्रीभगवान्‌के साथ भक्तका लौकिकसख्यतामूलक उपहास क्रीड़ादि भी चलता रहता है। श्रीभगवान् कृष्णके साथ सख्यभावासक्त अर्ज्जुनके जीवनमें भी इस प्रकार लौकिक भावोंका समावेश था जिसके लिये विश्वरूप-दर्शनस्तम्भित अर्ज्जुनने क्षमा भी मांगी है, यथा-गीतामें—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

हे अच्युत भगवान् ! मैंने सखा समझ कर प्रमाद या प्रणयसे आपकी महिमाको न जानकर, हे कृष्ण ! हे सखा ! आदि जो कुछ सामान्य सम्बोधन या अवज्ञासूचक वाक्य कहा है और आपके विहार, शय्या, आसन, भोजनादि-

कोंमें उपहासरूपसे एकाकी अथवा अन्यके सामने जो कुछ असत्कारका कार्य किया है कृपया उन सभीकी क्षमा करें। इस प्रकार श्रीभगवान्‌के साथ सखारूपसे एकप्राणता होने पर भावकी पूर्णतामें सर्वत्र ही भक्तको भगवद्भावका अनुभव होने लगता है। यही सख्यासक्तिका पराभक्तिप्रद मधुर परिणाम है।

शुद्ध अनुरागके तृतीय भावका नाम वात्सल्यासक्ति है। इस भावमें भक्त भगवान्‌के साथ पुत्रभावसे प्रेम करते हैं। इस भावकी एक विशेषता यह है कि इसमें श्रीभगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता और लोकोत्तर चमत्कारिता भक्तचित्तमें विद्यमान रहने पर भी आसक्तिमें वात्सल्यरसकी अधिकता होनेके कारण भक्तके क्रियासमूहमें लौकिक पिता पुत्रका सम्बन्ध और भाव बना रहता है। कदाचित् श्रीभगवान्‌के अलौकिक भावकी स्मृति और चित्तपर प्रभावके कारण वात्सल्यके बदले श्रद्धायुक्त भक्तिके उदय होने पर भी इस भावकी स्थिति और क्रियारूपमें प्रकाश बहुत देर तक नहीं रहता है और पुनः वात्सल्यभावका उदय होकर तदनुरूप प्रेम और चेष्टाके प्रवाहमें भक्तको डाल दिया करता है। इसी भावमें मुग्ध होकर किसी भक्तने कहा थाः—

एह्येहि वत्स नवनीरदकोमलाङ्ग
चुम्बामि मूर्द्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वंदेऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥

हे नवीन मेघ सदृश कोमलाङ्ग वत्स! आओ, आओ मैं पुत्रभावसे तुम्हारा शिरश्चुम्बन और तुम्हें आलिङ्गन करूँ, तुम्हें सदा हृदयमें धारण कर रक्खूँ अथवा तुम्हारे चरणकमलयुगलकी पूजा करूं। यही वात्सल्यभावयुक्त भक्तका गौरव और स्नेहयुक्त परस्पर विरोधी भाव है। यशोदा, नन्द आदिमें यही भाव श्रीभगवान्‌के प्रति था जिससे विश्वरूप और श्रीभगवान्‌की अलौकिक लीलाओंके देखनेसे उनमें श्रीभगवान्‌के प्रति गौरव भावका क्षणिक विकाश और पूज्यबुद्धि होने पर भी परक्षणमें ही वात्सल्य भावका उदय होकर गौरवबुद्धि लुप्त हो जाती थी।

वात्सल्य भावपरायण भक्त श्रीभगवान्‌को अपने प्रिय बालककी तरह देखते हैं और उनके खिलाने और अपने भावानुसार सेवा करनेमें ही निशिदिन रत रहते हैं। उनके प्रिय वस्तुओंका संग्रह, अप्रिय वस्तुओंका परित्याग, उनके हृदयके साथ सदा ही अपना हृदय मिला रखना इत्यादि आत्मजसुलभ

भाव वात्सल्यासक्तिका लक्षण है। इस प्रकार भक्तकी दृष्टिमें समस्त संसारके जीव भी श्रीभगवान्‌के ही रूप होनेसे परम प्रीति और वत्सलताके पात्र बन जाते हैं जिससे उनके हृदयका प्रेमप्रवाह शतमुखी गङ्गाकी तरह गोविन्दरूप समस्त संसारमें तथा संसाररूप गोविन्दमें परिव्याप्त होकर उनको पराभक्तिका अधिकारी कर दिया करता है। यही वात्सल्यभावका लक्षण और मधुर परिणाम है।

अनुरागके चतुर्थ भावका नाम कान्तासक्ति है। पतिप्राणा सती स्त्री जिस प्रकार शरीर, मन, प्राण और आत्मासे पतिके साथ प्रेम और उन्हींमें सर्वस्व समर्पण करती है, कान्तासक्तिकी अवस्थामें भक्त हृदयमें श्रीभगवान्‌के प्रति ऐसा ही भाव होता है। उनके चित्तमें सिवाय भगवान्‌की चिन्ता और ध्यानके और किसी वस्तुकी चिन्ता तथा ध्यान नहीं रहता है। उनके शरीर, मन और प्राणद्वारा भगवत्सेवाके सिवाय और कोई भी कार्यानुष्ठान नहीं हो सकता है। उनकी जीवनतरणी श्रीभगवान्‌को ही ध्रुवतारा जानकर उनके ही प्रेमसमुद्रमें बहने लगती है, उसका और कोई भी लक्ष्य, कोई भी पन्थ नहीं रहता है। इस प्रकार भक्तसे अनुरागके विषयमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

इस प्रकार अपूर्व अनुराग युक्त भक्त मेरेमें ही मनःप्राणको बांध कर मेरे विषयमें ही ध्यान, चिन्तन और आलाप करते हुए निशिदिन मेरेमें ही रमण करते रहते हैं। इस प्रकार प्रेमके विषयमें महर्षि शाण्डिल्यजीने अपने दर्शनमें कहा है—

अत एव तदभावाद्वल्लभीनाम् ।

शास्त्रादि ज्ञान न होने पर भी व्रजगोपिकाओंमें उस प्रकार अपूर्व कान्तासक्तिका विकाश हुआ था। गोपियोंने वेद वेदान्तका अध्ययन तथा ज्ञानचर्चा नहीं की थी परन्तु केवल श्रीकृष्ण चरणारविन्दमें परम अनुराग और एकप्राणताके द्वारा ही परमगतिको प्राप्त हो गयी थीं। उन्होंने लोकलज्जा, गृहधर्म आदि समस्त परित्याग करके श्यामप्रेमसिन्धुमें अपनी जीवनतरणीको अनन्यशरण होकर डाल दिया था और अत्यन्त विरहके तीव्रतापानलमें पुनः पुनः दग्ध संसारके समस्त मनुष्योंसे सदा अवमानित तथा तिरस्कृत होने पर भी मेघबिन्दुपानप्रिय चातकिनीकी तरह नवघनश्याम श्रीकृष्णकी ही प्रेमसुधा पानके लिये समस्त संसारके सकलप्रकारके प्रेमको तुच्छ कर दिया था जिसके फलसे

श्रीभगवान् उनके प्रति केवल प्रसन्न ही नहीं हुए थे अधिकन्तु उनके प्रेमके लिये अपनेको चिरऋणपाशबद्ध मानते थे, यथा—श्रीमद्भागवतमें—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

"हे सखिगण! आपलोगोंने जिस पवित्रप्रेमके साथ मेरेमें अनुरागयुक्त होकर कठिन संसारशृंखलाको भी छेदन कर दिया है, यदि देवताओंकी भी आयु प्राप्त हो तौ भी मैं उस पवित्र प्रमऋणका शोध नहीं कर सकूँगा। इस लिये आप लोगोंकी साधुशीलता ही मुझे ऋणमुक्त करे।" गोपियोंके प्रेममय जीवनके विषयमें इस पुस्तकके प्रथम खण्डके पुराण प्रकरणमें बहुत कुछ कहा गया है जिससे कान्तासक्तिका अपूर्वभाव सभीको हृदयङ्गम होगा। श्रीमद्भागवतमें और भी लिखा है—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो-
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥

अहो! व्रजगोपिकाओंने न जाने कौन कठिन तपस्या की थी जिससे निखिल श्री और ऐश्वर्यके एकमात्र निदान योगियोंको भी अलभ्य, सर्वाङ्गसुन्दर, लावण्यराशिके अनन्त आगार श्रीभगवान्‌की सौन्दर्यसुधाको नेत्रोंके द्वारा अविराम पान कर रही हैं। धन्य है उन गोपिकाओंका जीवन जिन्होंने सारे जीवनके

कार्यको भगवत्प्रीत्यर्थ ही समर्पण करके, उनके प्रेममें अनुरक्त हृदय हो, उनके ही चरणकमलोंमें मनोभृङ्गको उन्मत्त करके दुग्धदोहन, दधिमन्थन, लेपन, मार्जनादि समस्त कार्यमें गद्गदकण्ठ होकर उन्हींके अपूर्वचरित्रोंका गान किया करती हैं। प्रातःकाल तथा सायंकाल जिस समय श्रीभगवान् कृष्ण-चन्द्र गोचारणके लिये जाया आया करते हैं उस समय गोविन्द प्रिया गोपि-काएँ गृहकार्यसे निकल कर उनके ही सदय सहास्य मुखपद्मको निरीक्षण किया करती हैं।

रागात्मिका भक्तिका स्वरूप वर्णन करते हुए देवर्षि नारदजीने कहा है कि विरहव्याकुलताके द्वारा ही यथार्थ प्रेमकी गंभीरताका परिचय मिलता है। जिस प्रेमके साथ विरह नहीं है वह प्रेम कभी पूर्णभावको तथा उज्वलताको प्राप्त नहीं हो सकता है; क्योंकि विरुद्ध भावके द्वारा ही अनुकूल वस्तुका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। संसारमें यदि दुःख न होता तो सुखकी माधुरी तथा रमणीयता-का यथार्थ अनुभव किसीको नहीं हो सकता। यदि अमावस्याका गाढ़ अन्धकार संसारको ग्रास नहीं करता तो पूर्णिमाका पूर्णशशधर किसीका भी नयनरञ्जन और चित्तविनोदन पूर्णरूपसे नहीं कर सकता। दिवाकरकी दिव्य प्रभा जगज्जनोंके चित्तमें प्राणशक्तिका सञ्चार तभीतक पूर्णतया कर सकेगी जबतक रात्रिके आगमन द्वारा जड़ताके अङ्कमें जगज्जीवोंको विश्रांति लाभ हुआ करेगी। निष्कर्ष यह है कि विरुद्धवृत्तिके प्रभावसे ही अनुकूलवृत्तिका पूर्णस्वरूप प्रकट होता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यह बात विज्ञान सिद्ध है कि विरहके द्वारा ही रागका पुष्टि तथा पूर्णता होती है। इस बातको स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गोपियोंको प्रेमका स्वरूप बताते समय कहा था, यथा—

नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

मेरे प्रति प्रेम करनेपर भी जो मैं कभी कभी प्रेमी भक्तको विरह व्यथासे दुःखित करता हूं इसका कारण यह है कि विरहके द्वारा ही प्रेमकी तीव्रता बढ़ कर पूर्णताकी प्राप्ति होती है, जिस प्रकार किसी दरिद्रको धन प्राप्त होकर उस धनके भी नाश हो जानेसे उसका निरन्तर धनकी चिन्ता बनी रहती है उसी प्रकार प्रेमके बीचमें विरह आनेसे निरन्तर अविच्छिन्न भगवत्प्रेमकी

मन्दाकिनी धारा हृदयभूमिमें विहार करती है। यही प्रेमराज्यमें विरहव्यथा-की उपकारिता है। कान्तासक्तिके उच्चभावमें इस प्रकार विरहव्याकुलताका मधुर भाव भक्तजनोंके मनोमन्दिरको सदैव आपूरित करता है। प्रवासी पतिके विरहमें पतिप्राणा सतीके चित्तमें जिस प्रकार सदैव व्याकुलता बनी रहती है उसी प्रकार कान्तासक्तिपरायण भक्तके भी चित्तमें श्रीभगवान्‌के अदर्शन और विस्मरणके हेतु विरहव्यथा सदैव बनी रहती है। भक्तको इस प्रकार व्यथाके भीतर भी एक प्रकार प्रगाढ़ आनन्दकी उपलब्धि होने लगती है जो मुखसे भी कहा नहीं जा सकता है और लेखनीसे भी प्रकट नहीं किया जा सकता है।

इसी विषयको देवर्षि नारदने सूत्रके द्वारा वर्णन किया है, यथा—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

प्रेमके लक्षणके विषयमें अन्यान्य महर्षियोंके अन्यान्य मत होने पर भी देवर्षि नारदके मतमें यथार्थ प्रेम तभी होगा जब कि श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें भक्तका समस्तकार्य समर्पित हो जायगा और उनकी विस्मृति दशामें परम-व्याकुलता भक्तको प्राप्त होगी। इस प्रकार प्रेमका लक्षण वर्णन करके नारदजीने दृष्टान्तरूपसे सूत्र किया है—

यथा व्रजगोपिकानाम् ।

व्रजगोपिकाओंके श्रीभगवान्‌के प्रति कान्तासक्तिमूलक प्रेममें इस प्रकार विरहव्यथाका लक्षण विशेषरूपसे प्राप्त होता है जिससे उसमें श्रीभगवान्‌के प्रति पूर्णप्रेमका परिचय मिल जाता है। श्रीमद्भागवतके कृष्णलीलाप्रसङ्गमें इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, यथा—जिस समय गोपियोंका अभिमान भङ्ग करनेके लिये श्रीभगवान् अन्तर्द्धान हो गये थे उस समय जिस व्याकुलताके साथ गोपियोंने उनके दर्शनके लिये—

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज ।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥

इत्यादि रूपसे व्याकुल होकर उनके दर्शनकी आकांक्षा की थी, वह सब वर्णन जैसा कि इस ग्रन्थके प्रथमखण्डमें रासलीलावर्णनप्रसंगमें किया गया है, विरह व्यथाका अनुपम दृष्टान्त है। इस प्रकार विरहाग्निके द्वारा ही गोपियोंका चित्त परम निर्मल हो गया था जिससे उनको श्रीभगवान्‌की कृपा प्राप्त हो कर परमधाम लाभ हुआ था। यही सब कान्तासक्तिका मधुरभाव है जिस

भावके परिपाकसे भक्तहृदय भगवान्‌में तन्मय होकर समस्त संसारमें उन्हींका स्वरूप उपलब्ध करता हुआ अन्तमें पराभक्तिका परमभाव प्राप्त करता है। यही कान्तासक्तिका मधुर लक्षण और दिव्य परिणाम है।

अनुरागके पञ्चमभावका नाम गुणकीर्त्तनासक्ति है। इस भावके उदय होनेसे भक्त दिवानिशि सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के गुणराशियोंको कीर्त्तन करते हुए उन्हीं गुणोंके द्वारा भगवद्भावमें निमग्न रहा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

श्रीभगवान्‌की मधुर गुणकथा जिसको वेदव्यास आदि मुक्तपुरुषगण भी गाया करते हैं, जो मुमुक्षुजनोंके लिये भवरोगकी एकमात्र औषधिरूप है और विषयीके लिये भी श्रवण और मनतृप्त कारी है, इस गुणकथासे जो लोग विरक्त रहते हैं, वे आत्मघाती हैं। उनकी गुणकथाका क्या फल है, इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिवन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥

साधुमहात्माओंके स्थानमें उनके मुखसे विनिर्गत भगवत्कथामृतकी धारा जब चारों ओर बहने लगती है उस समय जो भक्त एकान्तरति होकर उस अमृतको पान करते हैं उन्हें क्षुधा, तृष्णा, भय, शोक, मोहादि कुछ भी सांसारिक बाधा स्पर्श नहीं कर सकती है। भगवद्गुणकथाकी महिमाके विषयमें क्या कहा जाय, उसके विना सकल कथा ही वृथा है, यथा—श्रीमद्भागवतमें—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलम्
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥

वह बात मिथ्या और असत्पुरुषोंकी बात है जिसके द्वारा श्रीभगवान्का गुणकीर्त्तन न हो, क्योंकि वही सत्य, वही मङ्गलमय, पुण्यमय, रमणीय, रुचिकर और सदा ही नवीन रसप्रद है। सदा चित्तको परमात्मानन्दसिन्धुमें निमग्न रखनेके लिये और निखिल शोकसिन्धुको शुष्क करनेके लिये उत्तमश्लोक अखिलगुणनिधान श्रीभगवान्का यश ही एकमात्र कीर्त्तनीय है। उनकी लोकचमत्कार अलौकिक शक्तिके विषयमें कौन वर्णन कर सकता है। अणु परमाणुसे लेकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डस्थित समस्त पदार्थ उन्हींकी शक्तिसे शक्तिमान् होकर जगज्जनोंके नयनरञ्जन हो रहे हैं। रवि, शशि उन्हींकी शक्तिसे प्रफुल्लित होकर समस्त संसारको प्रकाशित कर रहे हैं। उन्हींकी करुणा कणा जाह्नवी यमुना रूपसे समस्त संसारको पवित्र कर रही है। वेदादि समस्त शास्त्र जलदगम्भीर निनादसे उन्हींकी कीर्त्तिको गा रहे हैं:—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला यत्कारणं विश्वमिदं च माया।
आज्ञाकरी यस्य पिशाचचर्या अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥

भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम्॥

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम्।
त्वमेकं जगत्कर्त्तृ पातृ प्रहर्त्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥

हे भगवन्! तुम आदिदेव, आदिअन्तविहीन, संसारके परमाश्रय, सबके वेत्ता, सबके जानने योग्य और परमधाम हो। हे अनन्तरूप! अनन्त विश्व तुम्हारी

ही सत्तासे परिव्याप्त है। ब्रह्मादि देवगण उन्हींकी आज्ञानुसार स्व स्व अधिकारका पालन करते हैं। समस्त विश्वजगत् उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जीव उन्हींकी आज्ञासे चलते हैं, उनका चरित्र अनिर्वचनीय है। हे भगवन्! परमात्मस्वरूप आप युगयुगमें चराचर संसारका कल्याण और धर्मरक्षाके लिये निराकार होनेपर भी साकाररूप धारण करके अवतारभेदरूपसे प्रकट होते हैं। आपकी सत्त्वगुणमयी मूर्ति साधुओंके लिये सुखकर, परन्तु असाधुओंके लिये अकल्याणकर होती है। हे कमललोचन जगदीश! समस्त सत्त्वगुणके आधाररूप आपमें समाधियोगसे विलीनचित्त होकर आपके चरणकमलरूपी तरणीका आश्रय करके विवेकिगण दुस्तर संसारसिन्धुको गोष्पदकी तरह अनायास पार कर जाते हैं। आप भयके भी भय और भीषणके भी भीषण हो, समस्त प्राणियोंकी गति और पावनके भी पावन हो, आप ब्रह्मादिके भी नियन्ता, श्रेष्ठके भी श्रेष्ठ और रक्षकोंके रक्षक हो। आपही सबके शरणीय, वरणीय, जगत्कारण, विश्वरूप, जगत्के कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता, परमपुरुष, अनंतशान्तिमय और विकल्परहित हो। आपकी महिमा मन, वाणी और लेखनीकी शक्तिसे अतीत है, इस प्रकारसे गुणकीर्त्तनासक्तियुक्त भक्त श्रीभगवान्की मधुर लीलाओंका कीर्त्तन निशिदिन करते हैं। उनकी दृष्टिके सामने संसारकी समस्त वस्तुओंसे अनन्त निर्झरिणीरूपसे श्रीभगवान्की अनन्त महिमा प्रवाहित होने लगती है और उसी पवित्र निर्झरिणीमें अवगाहन स्नान करके भक्तहृदय अनन्तानन्द और शान्तिको उपलब्ध करता है। उनका अन्तःकरण भगवान्की अनन्तगुणराशियोंके आश्रयसे धीरे धीरे भगवान्के उदार विराट्भावमें लवलीन हो जाता है जिससे गुणकीर्त्तनपरायण ऐसे भक्तको पराभक्तिका स्वरूप उपलब्ध हो जाता है। यही गुणकीर्त्तनासक्तिका महान् भाव और उदार परिणाम है। महर्षि वेदव्यास, महर्षि वाल्मीकि आदि गुणकीर्त्तनासक्त भक्तोंकी जीवनी पुराणशास्त्रमें इस भावका ज्वलन्त दृष्टान्त है। अनुरागके षष्ठभावका नाम आत्मनिवेदनासक्ति है। इस भावके उदय होनेसे भक्त भगवान्में अपना सर्वस्व समर्पण करके उन्हींके परमभावमें दिवानिशि निमग्न रहते हैं। उस समय भक्तके शरीर, मन, प्राण समस्त इन्द्रियां तथा आत्माके द्वारा जो कुछ चेष्टा होती है, सभी श्रीभगवान्के प्रीतिसम्पादनार्थ होती है। श्रीभगवत्प्रीतिसम्पादनके अतिरिक्त समस्त कार्य आत्मनिवेदनासक्त भक्तको वृथा ही जान पड़ता है।

यथा—श्रीमद्भागवतमें:—

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
स्मरेद्व वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्
तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥

वाक्य यथार्थमें वही हैं जिनसे श्रीभगवान्‌का गुणगान किया जाय, हाथ यथार्थमें वही हैं जिनसे भगवत्कार्यका अनुष्ठान हो, मन यथार्थमें वही है जिसके द्वारा स्थावर जङ्गम समस्त संसारमें विराजमान श्रीभगवान् परमात्माका स्मरण हो, कर्ण यथार्थमें वही हैं जिनसे भगवान्‌की पुण्यकथाओंको सुना जाय, मस्तक यथार्थमें वही है जो स्थावर जङ्गम समस्त वस्तुओंको उन्हींका लिङ्ग मानकर प्रणत हो, चक्षु यथार्थमें वही हैं जिनसे मुकुन्दका मधुररूप निरीक्षण किया जाय, समस्त शारीरिक अङ्ग प्रत्यङ्ग वास्तवमें तभी सार्थकताको प्राप्त हो सकते हैं जब वे श्रीभगवान्‌के तथा भगवद्भक्त सज्जनोंके पादोदकसे पवित्र हो जावें। इस प्रकारसे आत्मनिवेदनभावपरायण भक्त समस्त शरीर, समस्त इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार तथा आत्माके द्वारा श्रीभगवान्‌में एकान्त-निष्ठ होकर उन्हींके चरणकमलमें सर्वस्व समर्पण करते हैं। महर्षि शाण्डिल्यके मतमें इस प्रकार आत्मरतिही भगवद्भक्तिका श्रेष्ठ लक्षण है, यथा-नारदसूत्रमें—

आत्मन्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।

अविच्छिन्न भावसे आत्मामें रति ही भगवद्भक्तिका परम लक्षण है। इस प्रकार श्रीभगवान्‌में परमारति और आत्मसमर्पणभावके उदय होनेसे भक्त श्रीभगवान्‌की कृपासे अनायास भवसिन्धुसे पार हो जाते हैं, यथा-गीतामें—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

जो मेरे भक्त समस्त कर्म मुझमेंही समर्पण करके मत्परायण होकर अनन्यभावसे ध्यानयोगके द्वारा मेरी उपासना करते हैं, भगवद्भावनिमग्नहृदय उन भक्तोंको मैं शीघ्रही संसार सिन्धुके पार कर देता हूं। मुझमें एकचित्त, मेरा भक्त, मेरेमें यजनशील तथा प्रणामकरनेवाले भक्त अवश्यही मुझे प्राप्त करते हैं। आत्मनिवेदनासक्तिके द्वारा ऊपर लिखित सभी भावोंके उदय होनेसे भक्त शीघ्रही आत्मरूप और आत्मरति होकर पराभक्तिकी पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। सर्वस्व समर्पण होनेसे उनका जीवभावका अहङ्कार आमूल नष्ट हो जाता है और भक्तहृदय अनन्त भगवान्के अनन्तामृतमय प्रेममें निमग्न होकर पराभक्तिके परमानन्दमय पदमें सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाता है, यही आत्मनिवेदनासक्तिका मधुर लक्षण और अलौकिक परिमाण है। राजाओंमें बलि और महर्षियोंमें नारद आत्मनिवेदनासक्तिके अपूर्व दृष्टान्त हैं।

अनुरागके अन्तिमभावका नाम तन्मयासक्ति है। दास्य, सख्य आदि भावोंके परिपाकमें जिस समय भक्त भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करते करते उन्हींमें अपने अपने अन्तःकरणको लय करके श्रीभगवान्के साथ अभिन्न भावसे उन्हींमें तन्मय होकर प्रेम करते हैं तभी वह अनुराग तन्मयासक्ति कहलाता है। यह आसक्ति अनुरागका चरमभाव और रागात्मिका तथा पराभक्तिका सन्धिरूप है। इस भावके उदय होनेसे भावसमुद्रमें निमग्न तथा आत्मसत्ताकी पृथक्ताको विस्मृत होकर कभी भक्त अपनेहीको प्रणाम करते हैं और कभी अपनी स्थितिका अनुभव करके श्रीभगवान्को प्रणाम करते हैं, यथा-योगवासिष्ठमें—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने॥

हे परमपुरुष परमात्मन्! तुम्हें नमस्कार और प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझको भी नमस्कार। अनन्तशिवरूप देवादिदेव मुझको और तुमको नमस्कार। इस प्रकारसे तन्मय होकर भक्त अपनेको और परमात्माको नमस्कार करते रहते हैं और भावनिमग्न हो आत्मरूप हो जाते हैं, यथा–श्रीमद्भागवतमें—

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।

विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥

श्रीभगवान्के प्रति भक्तिप्रवाहको प्रवाहित करके परमानन्दसे पूर्ण हृदय तथा पुलकिताङ्ग होकर भक्त अपनी पृथक् सत्ताको भूल जाते हैं और यही मुक्तिप्रद तन्मयभावका लक्षण है। इस भावका लक्षण मुकुन्दप्रिया गोपियोंको चरित्रमें कभी कभी देखनेमें आता है, जैसा कि पूर्व समुल्लासमें रासलीला प्रसङ्गमें—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः ।

इत्यादि प्रमाणों द्वारा बताया गया है। श्रीभगवान्ने भी निज मुखसे कहा है—

ता मा विदन्मय्यानुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥

मेरे प्र मर्मे समासक्तचित्त होकर गोपियां अपनेको, परिजनोंको और इह लोक परलोकको भी भूल जाया करती थीं जिस प्रकार मुनिगण समाधिमें निमग्न होकर अपनी पृथक् सत्ता विस्मृत हो जाते हैं और नदियांभी समुद्रमें विलीन होकर नामरूपसे च्युत हो जाया करतीं हैं। यह सब भाव तन्मयासक्तिका ही दृष्टान्तरूप है। जैसे कान्तासक्तिकी अधिकारिणी व्रजगोपिकाओंमें कभी कभी इस प्रकारकी तन्मयासक्तिका भाव प्रकट हुआ था, इसी प्रकार अन्यान्य आसक्तियोंके अधिकारी भक्तामें भी समय समयपर यह सर्वोच्च भाव प्रकाशित होकर वह भक्तको पराभक्तिके अधिकारकी ओर अग्रसर करता है। यह अधिकार इतना उच्च है कि इसके दृष्टान्तके लिये हरिमें हर और हरमें हरिकी तन्मयासक्तिके उदाहरणके अतिरिक्त और कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। हरि हरमें और हर हरिमें अभिन्न रूपसे एक प्राणताके साथ जो निशिदिन रत रहते हैं यह उन दोनोंमें तन्मयभावका ही लक्षण है, यथा-देवी भागवतमें—

शृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोत्तमम् ।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि ॥
कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः ।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करं त्रिपुरान्तकम् ॥

शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः॥

हरि कह रहे हैं, "मैं निशिदिन अपने हृदयमें आशुतोष गिरिजावल्लभ देवादिदेव हरका ध्यान करता हूँ। कभी कभी देवदेव महादेव भी मेरा ध्यान करते रहते हैं और कभी मैं भी त्रिपुरान्तक शूलपाणिका ध्यान करता रहता हूं। मैं शिवका प्राण हूं और शङ्कर भी मेरे प्राण हैं, तन्मयभावमें परस्परासक्त हम दोनोंमें कोई भी भेद नहीं है। यही तन्मयासक्तिका अपूर्व और अलौकिक दृष्टान्त है। हरमें हरि और हरिमें हरकी जो स्वाभाविकी तन्मयासक्ति हो सकती है इसका वैज्ञानिक रहस्य यह है। ब्रह्मके सच्चिदानन्द भावोंमेंसे आनन्दभाव व्यापक है। अन्तःकरणमें आनन्दका अनुभव और पुष्पादि जड़ पदार्थोंमें आनन्दका अनुभव ये दोनों ही आनन्दसत्ताके व्यापक होनेका प्रमाण हैं। वह परमानन्दसत्ता चित्‌में सत्‌की सहायतासे और सत्‌में चित्‌की सहायतासे अनुभवमें आती है। आनन्दसत्ता व्यापक होनेसे ब्रह्माजीकी उपासना शास्त्रमें निषिद्ध है। चित् सत्ता प्राधान्यसे हरिरूप और सत्‌सत्ता प्राधान्यसे हर रूप होनेके कारण हरमें हरि और हरिमें हरकी तन्मयासक्ति होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव स्वभावसिद्ध है इसी कारण हरमें हरि और हरिमें हरकी तन्मयासक्तिके सिवाय इस भावका सर्वोच्च दृष्टान्त और कुछ भी नहीं हो सकता है।

श्रीगुरुदेवके उपदेश द्वारा विधिनिषेध मानते हुए साधनराज्यमें वैधीभक्तिकी सहायतासे अग्रसर होते होते साधक भक्त जितना भक्तिराज्यमें अग्रसर होता जाता है उतनी ही विधिनिषेधमें उसकी शिथिलता होती जाती है। संसारमें भी देखा जाता है कि मित्रके साथ मित्रकी या प्रेमीके साथ प्रेमिकाकी जितनी प्रीति अधिक गाढ़ी होती जाती है उतना विधिनिषेधका पर्दा भी उठता जाता है। इसी प्रकार वैधीभक्तिका साधक विधिनिषेधवाली वैधी भक्तिकी साधना करते करते अपने प्रियतम इष्टदेवके साथ जितनी प्रीतिको बढ़ाता जाता है उतनाही उसमेंसे विधि निषेधका भाव नष्ट होता जाता है। उसके अनन्तर साधकके सम्मुख अनुरागका द्वार खुल जाता है। जिस प्रकार प्रियतमकी प्रियतमामें और प्रियतमाकी प्रियतममें सच्ची प्रीति होनेसे परस्परके सब भाव और परस्परके सब अङ्ग सुन्दर और आनन्दप्रद अनुभव होनेपर भी परस्परको किसी किसी अङ्ग और भावका सौन्दर्य और आनन्द अधिकतर अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार वैधीभक्तिका साधन जब अनुरागके सच्चे द्वारमें प्रवेश करता है

तब उस समय दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति और तन्मयासक्ति इनमेंसे किसी भावकी माधुरी साधकको अधिकरूपसे मोहित करती है। मनुष्यके अन्तःकरणके प्रकृति वैचित्र्यके कारण ही कोई भक्त किसी भावमें और कोई भक्त किसी भावमें अधिक आनन्द अनुभव करता है। उस समय वैधीभक्तिसे रागात्मिकाभक्तिमें पहुंचा हुआ साधक जिस भावमें अधिक आनन्द अनुभव करता है उसी भावको उन्नत करता हुआ वह उन्नतभक्त उसी आसक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता हुआ अपने अन्तःकरणको रससागरमें निमग्न करता है। वैधीभक्तिसे रागात्मिका भक्तिके उदयका यही रहस्य है। विष्णूपासक, सूर्योपासक, देवी-उपासक, गणपति-उपासक और शिवोपासक सम्प्रदायोंके त्रिलोक पवित्रकारी भक्तगण ऐसे हो रागात्मिका भक्तिको जगत्में अनादिकालसे प्रकट करते आये हैं और अन्तमें वे ही विष्णुलोक, सूर्यलोक, देवीलोक आदि लोकोंमें पहुंचकर सालोक्य, सारूप्य आदि चतुर्विध मुक्ति प्राप्त करते आये हैं।

सनातनधर्मके सर्वाङ्गसम्पूर्ण विज्ञानके अनुसार भक्ति विज्ञानकी भी पूर्णताका पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णन किया है। वह पूर्णता अन्य उपधर्मोंमें नहीं पाई जाती है। यद्यपि सर्वलोकहितकारिणी भक्ति सब धर्म और उपधर्मोंके लिये समानरूपसे हितकारी है, यद्यपि वैधी भक्तिका वर्णन सब उपधर्मोंमें किसी न किसी प्रकारसे पाया जाता है और किसी किसी उपधर्ममें रागात्मिका भक्तिके भी आंशिक लक्षण मिलते हैं, परन्तु दार्शनिक विज्ञानके अभाव और मधुरतामय सगुण उपासनाके अभावसे उन उपधर्मोंमें रागात्मिका भक्तिके सब रसोंका विकाश नहीं हो सकता है और दार्शनिक विज्ञानके अभावसे पराभक्तिकी पूर्णता तो उक्त उपधर्मोंमें होना असम्भव ही है। इस विषयका विस्तारित वर्णन अगले अध्यायोंमें किया जायगा।

इस प्रकार श्रीभगवान्में प्रेमासक्तिकी पूर्णता हानेसे भक्तान्तःकरणमेंसे धीरे धीरे ध्यानाध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश हो जाता है और तदनन्तर भक्त भगवद्रूप होकर सर्वत्र विराजमान अपरिच्छिन्न आनन्दमय सच्चिदानन्द सत्ताकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। यही अवस्था पराभक्तिकी है, यथा—दैवीमीमांसादर्शनमें:—

“स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा”

आनन्दमय परमात्माके अखण्ड स्वरूपकी प्रकाशक होनेके कारण पराभक्ति पूर्ण आनन्दप्रदा है:—

"रसस्वरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात्"

भाव समुद्रमें निमग्न होकर भक्त रसरूप अर्थात् आनन्दमय भगवान्के साथ तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं। तन्मयासक्तिके अन्तमें इस भावका उदय कैसे हो जाता है इस प्रसङ्गमें उक्त दर्शनमें कहा हैः –

"परालाभो ब्रह्मसद्भविकातन्मयासक्त्युन्मज्जननिमज्जनात्"

ब्रह्मसद्भावप्रद तन्मय भावसमुद्रमें उन्मज्जन निमज्जन द्वारा पराभक्तिका उदय होता है। श्रीभगवान्के चरणकमलोंका ध्यान एकान्तरति होकर करते करते क्रमशः साधकचित्तमेंसे तन्मयता द्वारा ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश हो जाता है। रागात्मिका भक्तिकी दशामें साधक रागात्मिका भक्तिके पृथक् पृथक् भावोंको पृथक् पृथक् अनुभव करते हैं। यद्यपि रागात्मिका दशामें भक्त भाव-समुद्रमें उन्मज्जन निमज्जन करने लगते हैं परन्तु जिस भावके वे विशेष पक्षपाती हो जाते हैं उसकी विशेषता उनके अन्तःकरणमें बनी रहती है, परन्तु पराभक्तिकी सर्वोत्तम दशामें भगवत्स्वरूपकी उपलब्धिके हो जानेसे रसोंकी पृथक्ताका पक्षपात भक्तके हृदयसे तिरोहित हो जाता है। तब वह भक्त सकल रसोंमें समान आनन्द अनुभव करने लगते हैं और किसी समय और किसी अवस्थामें भी उनके अन्तःकरणसे परमात्माके स्वरूपका अभाव नहीं होता है। अब किस प्रकारसे ऐसी अद्वितीय सच्चिदानन्दभाववांधिनी पराभक्तिका उदय होता है इसका वर्णन किया जाता है, यथा-श्रीमद्भागवतमें—

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं—
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल—
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।

औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चितबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते।
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥

श्रीभगवान्के भक्तका कर्त्तव्य है कि, एकान्तरति होकर उनके चरणकमलोंका ध्यान करे जो चरण ध्वज अङ्कुश और कमलके चिन्होंसे शोभित हैं और जिनमें विराजमान रक्तवर्ण तथा सौन्दर्यपूर्ण नभ मण्डलकी ज्योतिसे भक्तजनोंका हृदयान्धकार पूर्णरूपसे दूर हो जाता है। केवल इतनाही नहीं, अधिकन्तु उन चरणोंकी ऐसी लोकोत्तर महिमा है कि उनके धोनेसे निकली हुई तीर्थरूपा गंगाको सिरपर धारण करके शिव सर्वश्रेष्ठ तथा मंगलमय होगये हैं और श्रीभगवान्के ये चरणकमल उनके ध्यान परायण जनोंके अन्तःकरणस्थित पापरूप पर्वतके तोड़नेके लिये वज्ररूप हैं। इस प्रकार भवच्चरणकमलोंका ध्यान करते करते भक्तकी क्या दशा होती है? इसके उत्तरमें परवर्त्ती श्लोकमें कहा है कि ध्याताध्यानध्येयभावसे मुकुन्दचरणारविन्दमें निरत होकर ध्यान करते करते भक्तहृदयमें भावसिन्धु उछलने लगता है, वे अश्रुपूर्णनेत्र और रोमांचकलेवर होकर अत्यन्त तीव्रताके साथ मनोमधुकरको चरणारविन्दके मधुपानमें निमग्न करदिया करते हैं। इस प्रकार तीव्रध्यानके परिपाकसे क्या होता है सो परवर्त्ती श्लोकमें कहा है, यथा—तीव्रध्यानके परिपाकमें मनकी पृथक् सत्ता नष्ट होकर निर्वाणप्राप्त प्रदीपकी तरह साधकका अन्तःकरण निर्विषय हो एकदम परमात्मामें लय हो जाता है और इस दशामें भक्त त्रिगुणमयी मायासे निर्मुक्त होकर सर्वत्र विराजमान, अद्वितीय, अखण्ड, सच्चिदानन्द सत्ताकी उपलब्धि करने लगते हैं। इस प्रकारसे सुखदुःखातीत द्वन्द्वातीत तथा गुणातीत भक्त मायारहित परब्रह्मस्वरूपमें परमास्थितिको प्राप्त हो जाते हैं।

उनके आत्माका देह, मन आदिके साथ कुछ भी अभिमान या अध्यास अवशेष नहीं रह जाता है। वे ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। यही रागात्मिका भक्तिके अन्तमें पराभक्तियुक्त सिद्ध भक्तकी आनन्दमय सच्चिदानन्द स्वरूपमें अवस्थिति और भक्ति साधनका चरम फल है। इस दशामें भक्त निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर अलौकिक सुखदुःख रहित परमानन्दको उपभोग करते हैं, यथा-उपनिषद्में—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

समाधिके द्वारा निर्मल अन्तःकरण आत्मामें विलीन होकर जो परमानन्दका उपभोग करता है उसका वर्णन वाक्यके द्वारा नहीं हो सकता है, केवल निज अन्तःकरणमें ही उसकी एकान्त अनुभूति होती है। और भी गीतोपनिषद्में—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

पराभक्ति दशामें स्वरूपस्थित होकर भक्त जिस आनन्दकी उपलब्धि करते हैं वह आत्यन्तिक अर्थात् दुःखलेशविहीन नित्यानन्द है जो इन्द्रियोंसे अतीत और सूक्ष्मबुद्धिके द्वाराही अनुभव करने योग्य है। इस आनन्दपर प्रतिष्ठित होनेसे महात्मा पुरुष कभी किसी समय अपनी तात्त्विक स्थितिसे विचलित नहीं होते, प्रारब्धजनित गुरुतर कष्ट आनेपर भी उनके अन्तःकरणपर उसका कोई भी प्रभाव नहीं होता और उस परम वस्तुको प्राप्त करके अन्य किसी वस्तुको उससे अधिक स्पृहणीय नहीं समझते। उस समय उनकी दृष्टि कैसी होती है? इसके उत्तरमें श्रीभगवानने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सर्वत्र अद्वितीयदर्शी इस प्रकार योगयुक्तात्मा पूर्णभक्त परमात्माको सकल भूतोंमें और सकलभूतोंको परमात्मामें देखते हैं और आनन्दमय परमात्माको सर्वत्र देखकर सकल अवस्थामें ही समाधिका परमानन्द प्राप्त करते हैं।

उनके लिये लौकिक जगत्‌के समस्त पदार्थ ही परमात्मामें अवस्थित होनेके कारण दिव्य भावयुक्त और परमानन्दप्रद हो जाते हैं। श्रीभगवान् शङ्कराचार्य-जीने इसी अवस्थामें अपूर्व दर्शनका वर्णन किया है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परं ब्रह्मणि॥

भगवद्भक्तिकी परावस्थामें सर्वव्यापक परमात्माके दर्शन हो जानेसे भक्तकी दृष्टिमें समस्त जगत् ही नन्दनवनकी तरह आनन्दरूप भासमान होने लगता है, इनके लिये समस्त वृक्ष ही कल्पवृक्ष, समस्त जल ही गङ्गा-जल, समस्तकार्य ही पुण्यकार्य, प्राकृत संस्कृत समस्त वाक्य ही श्रुतिवाक्य, समस्त विश्व ही वाराणसी और समस्त स्थिति ही ब्रह्ममयी स्थिति हो जाती है। पराभक्तिकी यह दशा, ज्ञानीकी परज्ञान दशा, वैराग्यवान्‌की परवैराग्य दशा और योगीकी निर्विकल्प समाधि दशाके तुल्य ही है क्योंकि सभी अवस्था अन्तमें एक ही भावमें आकर पूर्णताको प्राप्त होती हैं। इस विषयमें देवीभागवतमें लिखा है—

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद्‌ यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
अहङ्कारादिरहितो देहतादात्म्यवर्जितः।
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता।
यस्यां देव्यतिरिक्तन्तु न किञ्चिदपि भाव्यते॥
इत्थं जाता परा भक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे सद्रूपे विलयो भवेत्॥
भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञानं तदुभयं यतः॥

परानुरक्तिके साथ अभिन्नभावसे भगवच्चिन्तापरायण होकर साधन करनेसे पराभक्तिका उदय होता है जिसमें अहङ्कार नाश तथा सर्वत्र विराजमान अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पराभक्तिको प्राप्त करके साधक चिन्मय भगवान्‌में लय हो जाते हैं। यही ज्ञानकी चरम सीमा और यही वैराग्यकी भी चरम सीमा है।

इस प्रकारसे सच्चिदानन्दभावमें ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्ति दशामें आत्मरति होकर प्रारब्धक्षय पर्यन्त संसारमें अवस्थान करते हैं और तत्पश्चात् प्रारब्धावसानमें विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। उस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृतिमें और उनकी आत्मा व्यापक परमात्मामें मिलकर एक हो जाती है, यथा-उपनिषद्में—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार समुद्रवाहिनी नदी नामरूपसे च्युत होकर समुद्रमें मिल जाती है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती है उसी प्रकार ज्ञानी भक्त प्रकृतिजनित नाम और रूपको त्यागकर विदेहमुक्ति दशामें परात्पर परब्रह्ममें अपनी पृथक् सत्ताको भूलकर विलीन हो जाते हैं। उनके लिये संसारमें जन्ममरणचक्र चिरकालके लिये बन्द हो जाता है। अनन्त दुःखमय संसारमें पुनः उनको आना नहीं पड़ता है। यही सकल साधनाका लक्ष्य और भक्ति मार्गका चरम परिणाम है।

उपासना काण्डके निम्न अधिकारसे लेकर उच्चतम अधिकार तक भक्ति किस प्रकारसे परमावश्यकीय है, किस प्रकारसे भक्तिके बिना उपासनाका कोई अङ्ग भी पूर्णरीत्या साधित नहीं हो सकता है और बिना प्राणके जिस प्रकार शरीर नहीं रह सकता है उसी प्रकार बिना भक्तिके उपासना बन ही नहीं सकती ये सब भलीभांति ऊपर दिखा चुके हैं। अब उपासनाके शरीररूप योगका वर्णन किया जाता है। शरीरके बिना जिस प्रकार शरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके बिना उपासनाका कोई साधन बन ही नहीं सकता है इसी कारण उपासनाको योगका शरीर कहा है। आवरण विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरण युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता है इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहने पर भी उससे दूर हो जाते हैं अथवा यह कहिये कि अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित और आलोडित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखाई नहीं पड़ता। जब साधककी सुकौशल क्रिया द्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरणका वृत्तिरूपी तरङ्ग एकबार ही शान्त हो जाता है तभी सूर्य प्रतिबिम्ब अथवा अपना मुंह दर्शक उसमें देख सकता है अतः योगशास्त्रमें कहा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"
"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

चित्तवृत्ति निरोधके सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रिया द्वारा क्रमशः अन्तःकरणकी वृत्तियां शांत होती होती जब एकबारही शान्त हो जाती है उस अवस्थाका नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि चित्तवृत्तियोंके चाञ्चल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव-हृदयविहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन जिन साधनोंने इस प्रकारसे दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव उसके निकट होकर सनाथ हो जाता है उसीको उपासना कहते हैं; अर्थात् उप-समीप, आस्यते-प्राप्त होता है अनया-इस साधनके द्वारा; इति उपासना। अतः जिन जिन क्रियाओंके अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है उन्हीको उपासना कहते हैं और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते होते चित्तवृत्तिनिरोधकी पूर्णावस्थामें परमात्मा अन्तःकरणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा की उपासना यज्ञमें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका शरीर रूप है।

योगका विषय विस्तारितरूपसे इस वृहत् ग्रन्थके अनेक अध्यायोंमें आवेगा। इस कारण यहां केवल दिग्दर्शनार्थ कुछ कुछ विषय कहे जाते हैं। चित्तवृत्तिनिरोधकरनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएँ हैं उन्हींको पूज्यपाद महर्षियोंने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोधकरने-वाली क्रियाशैलीको चारभागमें विभक्त कर सकते हैं और चित्तवृत्तिओंको निरोध करनेके मार्गको आठ सोपान अथवा आठ मार्गविभागमें विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नामरूपात्मक है अर्थात् परिदृश्यमान संसारका कोई भी अङ्ग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नाम रूपमें फंस कर ही जीव बद्ध होता है। चित्तकी वृत्तियांभी नामरूपके ही अवलम्बनसे अन्तःकरणको चञ्चल किया करती हैं। अतः जहां मनुष्य गिरता है उसी भूमीको पकड़के उठना चाहिये, अस्तु नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्ति निरोधकी जितनी क्रियाएं हैं उनको मन्त्रयोगके अन्तर्गत करके महर्षियोंने वर्णन किया है। हठ योगका ढङ्ग कुछ और ही है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका ही परिणाम है इस कारण स्थूलशरीरका प्रभाव सूक्ष्मशरीर पर बराबर समानरूपसे पड़ता

है अतः स्थूलशरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्मशरीर पर प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति निरोध करनेकी जितनी शैलियां हैं उनको हठयोग कहते हैं। लययोगका ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टिव्यष्टि सम्बन्धसे एक ही हैं। अतः दोनोंको एक समझ कर दोनोंमें व्यापक जो पुरुषभाव और प्रकृतिशक्ति है उसी अपने शरीरस्थ प्रकृतिशक्तिको अपने शरीरस्थ पुरुषभावमें लय करनेकी जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं। राजयोगका अधिकार सबसे बढ़ कर है। मनकी क्रिया मनुष्यको फंसाती है और बुद्धिकी क्रिया मनुष्यको मुक्त करनेमें सहायक होती है; यही कारण है कि अज्ञानसे जीव बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। अतः बुद्धिक्रियारूपी विचार द्वारा चित्तवृत्ति निरोधकी जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं। इस बृहत् ग्रंथमें मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगके अलग अलग अध्याय दिये जायँगे इस कारण इन क्रियाशैलियोंका विस्तारित वर्णन यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अंगामेंसे चार बहिरङ्ग और चार अन्तरङ्ग कहाते हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार बहिरंग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरंग हैं। बहिरंग और अंतरङ्गको मिलानेवाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव बहिरिन्द्रिय और अंतरिन्द्रियमें फँस कर बद्ध रहता है इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तन्द्रियसे वीतराग करानेके जो अभ्यास हैं उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम और नियमके साधनोंसे उपासनाकाण्डका साधक योगसाधनका अधिकारी बनता है . और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योग-उपयोगी करता है। मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि चाञ्चल्यसे बन्धन और धैर्य्यसे मुक्ति होती है अतः शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेके अनंतर प्राणको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राणायाम अङ्गके साधनके अनंतर साधकको योगके अन्तरङ्ग साधनका अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूपसे एक ही हैं। प्रत्याहारसाधनके द्वारा साधक अपनी बहिर्दृष्टिको बहिर्जगत्से हटाकर अन्तर्जगत्में ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार

अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अंङ्गके साधनसे उन्नत साधक बहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर् राज्यमें खींच-कर बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में पहुंच जाता है। यही योगका पंचम अंग है। अन्तर्जगत्में पहुंच कर सूक्ष्म अन्तर्राज्यके किसी विभागको अवलम्बन करके अन्तर्राज्यमें ठहरे रहनेको ही धारणा कहते हैं। इस प्रकारसे षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधन द्वारा योगी जब अंतर्राज्यको जय कर लेता है तब बहिर् और अन्तर्राज्यके द्रष्टा परमात्माके सगुण अथवा निर्गुण रूपके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवाय और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यानमें मिलकर दोनो ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोधकी अंतिम अवस्थाको समाधि कहते हैं। यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धांशोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने कही हैं वे सब इन्हीं आठ अंगोंकी सहायतासे निर्णीत हुई हैं। भेद इतनाही है कि किसीमें किसी अङ्गका विस्तार है और किसीमें किसी अंगका संकोच है। इस प्रकारसे साधक एकके बाद दूसरा सोपान, दुसरेके बाद तीसरा सोपान इस प्रकारसे सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधिमें पहुंच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधिमें पहुंच कर स्वरूप- उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगी शारीरिक सब कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूप स्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशाको प्राप्त होकर कर्ममें प्रवृत्त हो, सब दशामें निर्विकल्प भावमें स्थित रहनेके कारण अद्वैत भावमें स्थित रहता है। इसी दशाको जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। इसीको अद्वैतस्थिति, इसीको परज्ञानकी दशा और इसीको पराभक्तिकी दशा भी कहते हैं। विभिन्न विभिन्न विचारके अनु-सार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति और उपा-सनाके शरीररूपी योगका यही अन्तिम लक्ष्य है।

चतुर्थ काण्डकी प्रथम शाखा समाप्त हुई।

मन्त्रयोग।

चित्तवृत्तिका निरोध करके आत्मसाक्षात्कार तथा श्रीभगवान्‌का सान्निध्यलाभ करनेके लिये जितनी साधन प्रणालियां हो सकती हैं उन सबोंको चार भागोंमें विभक्त किया है, यथा–योगतत्त्वोपनिषद्‌में:—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः॥

योगके क्रियासिद्धांश चार भागमें विभक्त होते हैं, यथाः–मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारोंमेंसे अधिकार-विचारानुसार मन्त्रयोग प्रथम है। इस ग्रन्थके उपासना यज्ञ नामक अध्यायमें पहलेही बताया गया है कि अतिसूक्ष्म इन्द्रियातीत परम तत्त्वके प्राप्त करनेके लिये मायाबद्ध चित्त एकाएक अधिकार युक्त नहीं हो सकता है इसलिये मन्त्रयोग हठयोग और लययोग साधनद्वारा धीरे धीरे स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चित्तवृत्तिको लगा करके अन्तमें राजयोग साधनद्वारा अद्वितीय निराकार देशकालसे अपरिच्छिन्न परब्रह्मसत्तामें जीवात्माको विलीन किया जाता है। यही अधिकार-भेदानुसार चारों योगोंका साधन क्रम है जो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि मुनिगण मन्त्रयोगके आचार्य हुए हैं। उनका सिद्धान्त यह हैः–समस्त दृश्यजगत् भावकाही विकाशमात्र है। प्रलयावस्थाके अनन्तर प्रकृतिके गर्भमें स्थित जीवोंका संस्कार जब सृष्टिके अनुकूल होता है उसी समय परमात्माके अन्तःकरणमें

"एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय"

मैं एक हूं, बहुत हो जाऊं, प्रजाओंकी सृष्टि करूँ, इस प्रकारका भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है और इसी भावका परिणाम नामरूपात्मक यह दृश्य संसार है। दृश्य संसारके नामरूपात्मक होनेका कारण यह है कि प्रत्येक भावही नाम और रूपके द्वारा संसारमें प्रकट होता है। जिस किसीके चित्तमें जो भाव हो, वह उसीके अनुसार शब्द द्वारा तथा रूपकल्पना द्वारा उसी दृश्यभावको प्रकट करता है। प्रेमका भाव प्रेममूलक शब्द और प्रेममयी मूर्तिके द्वारा संसारमें प्रकट होता है। वीरताका भाव वीरता प्रकाशक शब्द और वीररूपके द्वारा

प्रकट होता है इत्यादि इत्यादि व्यष्टिभावके विचार द्वारा यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि जिस प्रकार व्यष्टि जगत्में प्रत्येक भावका प्रकाश नाम और रूपके द्वारा देखा जाता है उसी प्रकार समष्टि सृष्टिमें भी परमात्माके चित्तका सिसृक्षा-(सृष्टिकी इच्छा) भाव नामरूपात्मक जगत्‌रूपसे प्रकट होता है। जगत्का प्रसव करनेवाली और सिसृक्षामूलिका उनकी यह इच्छाशक्ति ही माया है अर्थात् संसार-सृष्टि करनेवाली उनकी इच्छाशक्तिका नाम ही माया है। यही माया नामरूपमयी होकर समस्त दृश्य संसारको प्रकट करती है इसी लिये श्रुति कहती है:—

"नामरूपे व्याकरवाणि" "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरा नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता"

परमात्मामें नामरूपमयी मायाकी उपाधि होनेसे ही दृश्यजगत्का विकाश होता है अतः सिद्धान्त हुआ कि परमात्मासे भाव, भावसे नामरुप और उसका विकार और विलासमय यह संसार है इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा यह निश्चय है; अर्थात् परमात्मासे भाव, भावसे नामरूप द्वारा जब सृष्टि हुई है जिससे समस्त जीव संसार बन्धनमें आ गये हैं तो यदि मुक्ति लाभ करना हो तो प्रथम नामरूपका आश्रय लेकर नामरूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होनेपर तब मुक्ति होगी इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियां बताई हैं जिसका नाम मन्त्रयोग है, यथा—मन्त्रयोगसंहिता योगशास्त्रमें: –

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षणैतत्समीक्ष्यते ॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात् ॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै ।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ।
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः ॥

सृष्टि नामरूपात्मक होनेके कारण नामरूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टि-के बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसी भूमिके अवलम्बनसे पुनः उठ सकता है। नामरूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नामरूपात्मक प्रकृति वैभव जीवको अविद्यासे ग्रस्त किये रहते हैं, अतः अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द और भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय उसको मन्त्रयोग कहते हैं।

मनुष्य भावोंका दास है। भावशून्य होकर मनुष्यका अन्तःकरण एक मुहूर्त भी स्थिर नहीं रह सकता है। वैदिक दर्शनोंका यह सिद्धान्त है कि भावशुद्धिके द्वारा असत्कार्य भी सत् हो जाता है और भावमालिन्यके हेतु सत्कार्य भी असत् हो जाता है। उदाहरणरूपसे कहा जा सकता है कि मनुष्य-हत्या एक असत् कार्य है, परन्तु यदि वह धर्मयुद्धके लिये या राजा अथवा साधुजनोंकी रक्षाके लिये हो तो वह धर्मकार्य कहलावेगा; अर्थात् मनुष्यहत्या रूप कार्य असत् होने-पर भी भावशुद्धिके कारण सत् हो जाता है। इसी प्रकार आश्रयदान एक पुण्यकार्य है; परन्तु कोई मनुष्य यदि किसी पापीका पाप जानता हुआ भी उसे आश्रय और प्रश्रय दे तो उससे उसका वह आश्रय तथा अभयदानरूप सत्कार्य भी असत्भावके कारण पापोंमें गिना जावेगा। इस प्रकार सनातनधर्ममें भावशुद्धिका प्राधान्य यथेष्ट वर्णित है। भावतत्त्वके समझनेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये कि भोग्य विषयको देखकर इन्द्रियका सम्बन्ध अनुमान किया जाता है, इन्द्रियकी क्रियाको देखकर अन्तःकरणकी वृत्तिका अनुमान हो सकता है और तब अन्तःकरणकी वृत्तिके मूलमें जो भाव रहता है सो अनुभूत होता है स्त्रीरूप विषयको प्रथम दर्शनेन्द्रियने देखा, फिर उससे अन्तःकरणमें नाना वृत्तियोंका उदय हुआ परन्तु उस द्रष्टाका भाव यदि मलिन रहा तो वह उस स्त्रीरूप विषयको इन्द्रियभोग्य मान लेगा और यदि उसके अन्तःकरणमें भावकी शुद्धता रही तो वह उस स्त्रीरूप विषयको मातृरूपमें अथवा जगज्जननीकी प्रतिमूर्तिरूपमें देखनेमें समर्थ होगा। इसी प्रकार सनातनधर्ममें भावका यथार्थ स्वरूप गृहीत होकर भावशुद्धिके बहुतसे उपाय निश्चित हुए हैं।

अविद्याग्रस्त मनुष्योंके चित्तमें वैषयिक भावका प्राधान्य होनेके कारण वे सदा ही अपने अपने भावोंके अनुकूल संसारके लौकिक रूप और नाममें फँसे रहते हैं, अतः उनके चित्तसे लौकिक भावोंको दूर करके दिव्य भावोंका उदय करनेके

लिये लौकिक नाम तथा रूपके बदले दिव्य नाम और दिव्य रूपोंकी साधनविधि मन्त्रयोगमें बताई गई है। मन्त्रयोगमें स्थूल मूर्त्तिकी पूजा हुआ करती है। शास्त्रमें स्थूलमूर्त्तिमयी प्रतिमा आठ प्रकारकी कही गई है, यथा—श्रीमद्भागवतमें:—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥

श्रीभगवान्‌की प्रतिमा आठ प्रकारकी हुआ करती है, यथाः—पाषाणमयी प्रतिमा, काष्ठनिर्मित प्रतिमा, लोहनिर्मित प्रतिमा, लेपन द्वारा बनाई हुई प्रतिमा, तूलिकासे चित्रित प्रतिमा, बालुका द्वारा निर्मित प्रतिमा, अन्तःकरणमें ही कल्पित प्रतिमा और विविध प्रकारकी मणियोंके द्वारा निर्मित प्रतिमा। केवल पुराणमें ही नहीं वेदमें भी श्रीभगवान्‌की इस प्रकार पाषाणादिमयी मूर्ति बनानेकी आज्ञा है, यथा-अथर्ववेदमें:—

"एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनुः"

हे भगवन् ! आप इस पाषाणमयी मूर्तिमें विराजमान हो जायँ, आपका शरीर यही पाषाण हो । ऋग्वेदमें भी —

"कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः"

यथार्थ ज्ञान कौन है, प्रतिमा कौन है, समस्त जगत्‌का कारण कौन है, घृतके समान संसारमें सार वस्तु कौन है और समस्त प्रकृतिकी परिधिमें विद्यमान कौन है इत्यादि रूपसे प्रतिमामें भगवद्भावकी स्थितिका वर्णन पाया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि मन्त्रयोगमें विहित मूर्तिपूजा सर्वथा वेदादिशास्त्रके अनुकूल है।

'जीविकार्थे चापण्ये'

इस सूत्रके भाष्य द्वारा महाभाष्यकारने भी प्राचीन कालमें मूर्तिपूजा प्रचलित थी ऐसा प्रमाण कर दिया है; क्योंकि इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि जो मूर्ति जीविका निर्वाहके लिये है, विक्रयार्थ नहीं है उसमें कन् प्रत्ययका लोप होता है अतः व्याकरणके प्रमाणसे मूर्तिपूजाका प्रचलन सिद्ध हुआ। आज दिन भी भारतवर्षमें देवमूर्ति बनाकर जीविका निर्वाह करनेवाले बहुत हैं। उनके विषयमें ही यह सूत्र है। अब आकारविहीन ज्ञानस्वरूप अद्वितीय परमात्माकी इस प्रकार नश्वर स्थूलमूर्तिमें उपासना कैसे सम्भव हो सकती है सो बताया जाता है। अनेक पाश्चात्य और एतद्देशीय अर्वाचीन पुरुषोंने हिन्दुजातिकी मूर्तिपूजाके तत्त्वको न समझ कर उसकी पाषाणपूजक, जड़ोपासक,

पौत्तलिक आदि कह कर निन्दा की है। किसी किसीने तो वेदसे भी मन्त्रोंको उठाकर उनका मिथ्या तथा अप्रासंगिक अर्थ करके अपनी अज्ञानताका परिचय प्रदान किया है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि:—

" न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्व यशः "

यह जो वेदका प्रमाण अर्वाचीन पुरुष उठाते हैं वहां पर प्रसंग मिलानेसे निश्चय होता है कि वहां "प्रतिमा"शब्दका अर्थ पाषाणादिमयी प्रतिमा नहीं है परन्तु 'उपमा' है; अर्थात् पूरे मंत्रका अर्थ यह है कि जिस परमात्माका नाम और यश महत् है उसके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती है। इसी प्रकार केनोपनिषद्के कई एक मन्त्रोंका भी अर्थ अर्वाचीन पुरुषोंने अप्रासंगिक रूपसे किया है, यथा:—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदं उपासते ॥

जो आंखसे नहीं देखा जाता है और जिसके रहनेसे आँखमें दृष्टिशक्ति आती है उसे ब्रह्म जानो, जिस मूर्ति आदिमें उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं है इत्यादि। इन मन्त्रोंका अर्थ तो अर्वाचीन पुरुषोंने किया है परन्तु कटाक्ष करनेमें प्रसंगका विचार ठीक नहीं किया है। इन मन्त्रोंमें जो उपास्य वस्तु ब्रह्म नहीं है ऐसा कहकर उपासनाकी निन्दा की गई है सो निर्गुण ब्रह्मोपासनाके विषयमें है, सगुण ब्रह्मोपासनाके विषयमें नहीं है; क्योंकि निर्गुण ब्रह्म मन, वाणी, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियोंसे अतीत होनेके कारण मूर्ति आदिके द्वारा उनकी उपासना नहीं हो सकती है। सगुण ब्रह्म ईश्वर ही भावगम्य होनेके कारण भावद्योतक नाम और रूपकी सहायतासे उनकी उपासना होती है इसलिये निर्गुण ब्रह्मोपासना विषयक मन्त्रोंका अर्थ सगुणोपासनाके सम्बन्धसे करके मूर्तिपूजा आदिका निन्दा करना केवल वेद और शास्त्रका अपलाप करना मात्र है और सबसे अधिक विचारकी बात यह है कि हिन्दूधर्ममें नश्वर पाषाणमयी मूर्तिका पूजा होती ही नहीं तब इसके मण्डनमें प्रयत्न करनेका प्रयोजन क्या है? ऊपर जो आठ तरहकी प्रतिमाका वर्णन वेदादि शास्त्र-प्रमाणसे किया गया है, हिन्दुजाति उन सब पाषाणादिमयी प्रतिमाओंकी पूजा नहीं करती है, परन्तु पाषाणादिमयी प्रतिमाओंमें पूजा करती है; अर्थात् निराकार परमात्माकी सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी अनंत लीलाओंके अनन्त भावोंमेंसे कुछ भावोंको लेकर उन्हींके अनुसार तथा उन्हीं भावोंके प्रका-

शक रूप पाषाण, काष्ठ, धातु तथा मणि आदि उपकरणोंसे बनाकर उन भावोंकी और परमात्माकी सर्वव्यापिनी शक्तिको प्रतिमारूपी आधारके द्वारा प्रकटित करके उस शक्तिकी पूजा करती है। अब निराकार भगवान्‌की इन सब पाषाणादि प्रतिमाओंके अवलम्बनसे किस प्रकारसे भावद्वारा स्थूलपूजा हो सकती है और इस प्रकारकी साकार भावमयी मूर्त्तिओंकी पूजाका प्रयोजन भी क्या है सो नीचे बताया जाता है।

आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार परमात्माके तीन भाव माने गये हैं, यथाः— ब्रह्म, ईश और विराट्। इन सब भावोंके यथार्थ लक्षण इस ग्रन्थके उपासनायज्ञ नामक प्रबन्धमें पृथक् पृथक् वर्णित किये गये हैं, उन सब लक्षणोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि परमात्माका निर्गुण ब्रह्म भाव प्रकृतिसे परे है, यथा-श्रुतिः—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति
न मनो न विद्मो न विजानीमः'

निर्गुण ब्रह्म चक्षु, वाक् आदि इन्द्रियां तथा मन और बुद्धिसे भी परे हैं। जो वस्तु जिससे अतीत है वह उसके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती है। जब निर्गुण ब्रह्म प्रकृतिसे तथा मन बुद्धिसे भी अतीत हैं तो प्रकृतिकी किसी वस्तुके अवलम्बनके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी उपासना नहीं हो सकती है अतः मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय आदिके द्वारा निराकार निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करना वृथा चेष्टा मात्र है; परन्तु क्या इससे यह सिद्धान्त निकालना पड़ेगा कि निराकार निर्गुण ब्रह्मकी उपासना और उपलब्धि होती ही नहीं? सो नहीं। निर्गुण निराकार ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये उपासना भिन्न प्रकारकी है, यथा-कठोपनिषद्‌में: —

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

महत्तत्त्वके परे अव्याकृत प्रकृति है और अव्याकृत प्रकृतिके परे निर्गुण निराकार परम पुरुष परमात्मा हैं, उनसे परे और कोई भी नहीं है। ये ही परमात्मा सकल भूतोंमें गूढ़ हैं। सूक्ष्म अतीन्द्रियदृष्टि-सम्पन्न योगिगण उनको सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा अनुभव करते हैं। और भी मुण्डकोपनिषद्‌में —

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।"

आनन्दरूप अमृतरूप परमात्माको धीर योगिराज प्रज्ञाके द्वारा देखते हैं। वह प्रज्ञा कैसी है? इसके उत्तरमें भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा" "ऋतं सत्यं विभर्तीति ऋतंभरा।"

जिस प्रज्ञाके द्वारा सत्य वस्तुका अनुभव हो वही ऋतम्भरा प्रज्ञा है। उस प्रज्ञाके उदय होनेसे क्या होता है? भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं—

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी"

उससे उत्पन्न संस्कार प्रकृतिसम्भूत अन्य सभी संस्कारोंको नष्ट करता है। केवल स्थूल सूक्ष्म सर्वदर्शी ज्ञान संस्कार ही रह जाता है। तदनन्तर निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि कब होती है?

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः"

प्रज्ञासे उत्पन्न संस्कारका भी निरोध होकर सर्व-निरोध होनेसे निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प समाधि होती है। इसी निर्विकल्प समाधिमें निर्गुण निराकार परब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि होती है। इस समय विकल्परहित होनेसे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय या ध्याता ध्यान ध्येयरूपो त्रिपुटीका पूर्ण विलय हो जाता है और साधक अपनी प्रकृतिकी समस्त सूक्ष्मदशाको अतिक्रमकरके प्रकृतिसे अतीत परब्रह्मभावमें विराजमान हो जाता है अतः सिद्ध हुआ कि जबतक साधककी चित्तवृत्ति तथा बुद्धि प्रकृतिकी सीमाके भीतर है तथा ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटी विद्यमान है तबतक निर्गुण निराकार ब्रह्मका पता नहीं लग सकता है। दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है—

"ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम्"

"स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम्"

ब्रह्मका अधिदैव और अधिभूतरूप तटस्थलक्षणवेद्य है और उनका अध्यात्मरूप स्वरूपलक्षणवेद्य है। तटस्थलक्षण त्रिपुटीके अन्तर्गत है और स्वरूपलक्षण त्रिपुटीसे अतीत है। परमात्माका ईश तथा विराट् भाव तटस्थलक्षणके द्वारा अनुभवगम्य है, परन्तु ब्रह्मभाव तटस्थ लक्षणसे अतीत है जैसा कि ऊपर बताया गया है। शास्त्रमें तटस्थभावके अन्तर्गत त्रिपुटीके अवलम्बनसे परमात्माकी जितने प्रकारकी उपासना बताई गयी है वे सब ही उनके ईश या विराट् भावके लक्ष्यसे हैं ऐसा समझना चाहिये। अब नीचे सगुणब्रह्म ईश्वरकी उपासनाके लिये भावमयी मूर्त्तिकी क्या आवश्यकता है सो बताया जाता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

मुझमें चित्तको अर्पण करके श्रद्धाके साथ नित्ययुक्त होकर जो मेरी उपासना करता है वह श्रेष्ठ भक्त है। जो भक्त समस्त इन्द्रियोंको संयत करके, सर्वत्र समबुद्धि तथा सर्वभूतकल्याणनिरत होकर मेरे अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, चिन्तासे अतीत, कूटस्थ, अचल तथा ध्रुव भावमें अपने चित्तको अर्पण करता है वह भी मुझे ही प्राप्त करता है। केवल भेद इतना ही है कि देहाभिमानी साधकके लिये देहरहित अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही क्लेशसे होती है क्योंकि जहां देहको अभिमान है वहां निराकारकी भावना अत्यन्त कठिन होनेसे वह दुःखसे प्राप्त होती है। इन श्लोकोंपर विचार करनेसे निश्चय होगा कि प्रथम श्लोकमें परमात्माकी भावमयी साकार मूर्त्तिमें मनःसंयोगके लिये श्रीभगवान्‌ने आज्ञा की है और इस प्रकार साकार पूजा तभीतकके लिये बतायी है जबतक साधकका देहाभिमान दूर न हो और पूर्ण वैराग्यप्राप्ति तथा इन्द्रिय-संयमशक्ति साधकमें न आवे। और परवर्त्ती श्लोकोंमें देहाभिमानी तथा पूर्णवैराग्यहीन साधकोंके लिये निर्गुण निराकारका साधन कठिन बताकर उसी समय निराकारकी साधनाके लिये यथार्थ काल बताया गया है, जिस समय कि साधकका देहाभिमान पूर्ण नष्ट हो जाय और उसको परमवैराग्यकी प्राप्ति हो। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। निराकार निराकार कहकर चीत्कार करना और संसारको भ्रमजालमें फंसाना सहज है परन्तु देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनःसंयोग करना बहुत ही कठिन, अपि तु असम्भव ही है। इसके दो कारण हैं—प्रथम मनका स्वाभाविक चाञ्चल्य और द्वितीयतः अनादिकालसे मनका अभ्यास। अपञ्चीकृत महाभूतके विकारसे जो अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है उसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये चार वस्तु हैं। इनमेंसे बुद्धि निश्चयकारिणी है, परन्तु मनका धर्म निरन्तर

सङ्कल्प विकल्प करना ही है। अतः संकल्प-विकल्पधर्मी मनके लिये सर्वदा चञ्चल रहना स्वाभाविक है। मनको शान्त करनेके लिये प्रयत्न करना उसे अपने स्वाभाविक धर्मसे च्युत करना है इसलिये मनके वास्ते यह संग्राम जीवन-मरण संग्राम होनेसे उसे शान्त करनेका पुरुषार्थ करने पर भी वह अधिक चंचल होने लगता है। प्रत्येक वृत्तिकी शक्ति तभी पूरी तरहसे प्रकाशित होती है जब उस वृत्तिके दमन करनेका अवसर आवे; क्योंकि बन्धन दशामें वृत्तिके अधीन रहने पर उसकी शक्ति एतादृश प्रकाशित नहीं होती है। दमन करते समय ही वृत्तिकी समग्र शक्ति तथा चित्तपर अधिकारका प्रभाव मालूम होने लगता है। यही कारण है कि अन्य समयमें मन चाहे साधारण रूपसे ही चंचल रहे, जिस समय मनको रोकनेके लिये प्रयत्न किया जाता है उसी समय मनकी सारी शक्ति प्रकट होने लगती है जिससे चाञ्चल्य बहुत ही बढ़ कर मनको क्या जाने कहां भगाता रहता है। इसी विषयको श्रीभगवान् वेदव्यासजीने महाभारतमें वर्णन किया है, यथाः—

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि॥
समाहितं क्षणं किञ्चिद्ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथभ्रान्तं मनोभवति वायुवत्॥

कमलके पत्रपर स्थित जल जैसा चंचल रहता है उसी प्रकार ध्यानके समय मन भी चंचल होता है। कभी थोड़ासा शान्त होकर मन ध्यानमें निविष्ट होता है परन्तु पुनः वायुकी तरह चंचल होकर ध्येय वस्तुसे दूर चला जाता है।

श्रीगीताजीमें अर्जुनके मुखसेः—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

मन अतिचञ्चल उन्मत्त और वेगवान् है, इसका दमन करना वायुको शान्त करनेकी तरह सुकठिन है, इस बातको सुनकर श्रीभगवान्ने—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्"

यह बात ठीक है कि मन चंचल और दुर्दमनीय है ऐसा कहकर निज मुखसे ही मनकी चंचलताका विषय प्रकट किया है। अब विचार करनेकी बात यह है कि जब साकार ध्येय वस्तुका अवलम्बन मिलने पर भी मनकी यह दशा है कि ध्येय वस्तुमें एकाग्र न होकर जिधर किधर भटकता रह जाय और

कमलदलस्थित जलकी तरह चंचल होता रहे तो जहां किसी प्रकारकी ध्येय वस्तुका अवलम्बन ही नहीं है उस प्रकार निराकार उपासनामें चंचल मन कैसे स्थिर हो सकता है ? अतः मनके पूर्ण शान्त होनेके पहले तथा जितेन्द्रियता, संयम, पूर्णवैराग्य और देहाभिमान नाश होनेके पहिले निराकारमें मनःसंयमकी चेष्टा करना उन्मत्तकी चेष्टाकी तरह प्रमादपूर्ण और निष्फल है। अर्वाचीन पुरुषोंने कहीं कहीं ऐसा कहकर साकार पूजा पर कटाक्ष किया है कि साकार मूर्तिके भिन्न भिन्न अङ्गोंमें चित्त धावमान होनेसे स्थिर नहीं हो सकता। यह बात ठीक है और इसी लिये शास्त्रमें यदि सभी अङ्गों पर एकाएक चित्त स्थिर करना कठिन होवे तो किसी एक प्रिय अङ्गपर ही मनःसंयोग करनेकी आज्ञा दी गई है। इसलिये अर्वाचीन पुरुषोंका यह कटाक्ष व्यर्थ है और इस कटाक्षके साथ स्वपक्षपातपुष्टिके लिये उन्होंने जो लिखा है निराकारमें मन खूब दौड़ता है और अन्त न पानेसे स्थिर हो जाता है यह बड़ी हास्यजनक बात है; क्योंकि एक बालक भी इस बात पर विचार कर सकता है कि यदि दौड़कर कोई अवलम्बन प्राप्त करना हो तब तो चित्तके शान्त होनेकी कुछ आशा भी है, परन्तु जहां निराकार होनेसे दुर्बल मनका कोई भी अवलम्बन नहीं है और अनादि अनन्त होनेसे दौड़नेकी भी सीमा नहीं है तो निराकारमें मन शांत न होकर दौड़ताही रह जायगा जिससे अविराम दौड़नेकी अशांति और चाञ्चल्य ही बना रहेगा, मन कभी शांत नहीं हो सकेगा अतः इस प्रकार युक्ति सर्वथा भ्रमपूर्ण है। देहाभिमान रहते हुए निराकारमें मनोनिवेशकी असम्भावनाका दूसरा कारण अनादिकालसे मनका अभ्यास है। यह दृश्य संसार मनका ही विलास मात्र है।

"मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम्"

अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतमय चराचर दृश्य जगद्विलास मनके ही कारण है। मनही नामरूपमय संसारको बनाकर इन्द्रियां और वृत्तियोंकी सहायतासे नाम तथा रूपमें फँसा हुआ रहता है। अविद्योपाधियुक्त जीव मनका दास होकर संसारके भिन्न भिन्न नाम तथा रूपमें फँस जाता है और इसीसे नवीन नवीन संस्कारोंको प्राप्त करता हुआ जन्ममृत्युचक्रमें परिभ्रमण करता रहता है। इसलिये नाम और रूपके प्रति मनकी आसक्ति अनादि अभ्यासजनित होनेके कारण अनादि है। इस अनादिरूप तृष्णाको छोड़नेके लिये प्रबल वैराग्यके विना मनुष्य कदापि

समर्थ नहीं हो सकता इसी लिये महर्षि पतञ्जलिने चित्तवृत्ति निरोध-के वास्ते—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

श्रीभगवान्ने गीतामें—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"

यही अभ्यास और वैराग्यरूपी उपाय मनःस्थिर करनेके लिये बताया है। परमात्मामें चित्त स्थितिके यत्नका नाम अभ्यास और विषयका दोषदर्शन करते हुए विषयत्यागकी चेष्टाका नाम वैराग्य है; परन्तु जबतक संसारके रूपसे प्रवल वैराग्य न हो तबतक यह निश्चय है कि रूपरहित परमात्माके भावमें चित्त स्थिर कभी नहीं होगा, क्योंकि अनादि अभ्यासके कारण रूपमें आसक्त चित्त रूपको ही चाहेगा और संसारके रूपके अवलम्बनसे ही शान्त होनेमें अभ्यास होनेके कारण रूपके आश्रयसे ही शान्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं हो सकेगा; परन्तु संसारके रूपमें क्षणभङ्गुर सुख होनेके कारण नित्यानन्दप्रयासी जीव उसमें चिरशान्तिको प्राप्त हो नहीं सकता; अधिकन्तु वैषयिक रूपमें काम लोभ मोहादि वृत्तियोंका दास होकर और भी अवनतिको प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर शमादि अभ्यासके कारण रूपका अवलम्बन होना भी जरूरी है इसलिये परमकरुणामय महर्षियोंने मन्दमति मायाबद्ध जीवोंकी वैषयिक तृष्णाको घटाकर भगवद्भावमें साधकको निमग्न करनेके लिये निराकार सर्व-शक्तिमान् परमेश्वरकी अनन्तलीला—विलासमयी भावमयी मूर्त्तिका विधान साधनकी प्रथम दशामें मन्त्रयोगके अधिकारियोंके वास्ते किया है। श्रीभगवान्-की लीलामयी भावमयी मधुर मूर्त्तिमें चित्तको अर्पण करनेसे, उनके किसी अङ्गमें अथवा सर्वाङ्गमें ही प्रेमके द्वारा चित्तको आसक्त करनेसे, विषयासक्त चित्त धीरे धीरे संसारके रूपोंको छोड़ देगा और सांसारिक काममोहादि वृत्तियां नष्ट होकर भगवान्के रूपमें आसक्ति द्वारा केवल श्रद्धा भक्ति और सात्त्विक प्रेम ही वह प्राप्त करेगा। इस तरहसे आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ, पूर्ण वैराग्य प्राप्ति होनेसे जब उसको नामरूपासक्ति बिलकुल छूट जायगी, तब वह राजयोगोक्त रूपरहित, अद्वितीय, सर्वव्यापी परब्रह्म भावमें निमग्न होकर निःश्रेयसपद प्राप्त करेगा। यही श्रीभगवान्की साकार मूर्त्तिकी पूजाका प्रयोजन है इसलिये मन्त्रयोगका सिद्धान्त है, जैसा कि पहले बताया गया है—

तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।

जिस प्रकार जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसीको पकड़कर उठ सकता है, वायु या आकाशको पकड़कर नहीं उठ सकता, उसी प्रकार जब नाम तथा रूपको पकड़ कर ही जीव बन्धनदशाको प्राप्त हो गया है तो नाम तथा रूपके द्वारा ही वह उन्नतिको प्राप्त करेगा। यह नाम तथा रूप बन्धनदायी वैषयिक नाम और रूप नहीं, किन्तु यह नाम और रूप मुक्तिप्रदानकारी श्रीभगवान्‌के दिव्य नाम और दिव्य रूप हैं इसीलिये शास्त्रमें अधिकारिनिर्णय प्रसङ्गमें कहा गया हैः—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

साधारण अधिकारी निर्गुण, निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेमें अशक्त होते हैं, उनके लिये सगुण साकार मूर्तिपूजाका विधान किया जाता है। सगुण साकार पूजाके द्वारा चित्तके वशीभूत होनेपर उपाधिरहित निर्गुण परब्रह्मकी साधनाका अधिकार साधक प्राप्त कर सकते हैं। तथा च—

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः।
साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पनम्॥

चिन्मय, अप्रमेय, निर्गुण और निराकार ब्रह्मकी रूपकल्पना साधकके कल्याणके लिये ही की जाती है। मन्त्रयोगसंहितामें लिखा हैः-

आकारो न हि विद्यते किमपि वा रूपं परब्रह्मणो
रूपं तत्परिकल्प्यते जनगणैः किञ्चिज्जगद्रूपिणः।
ध्यायद्भिर्निजवृत्तिमार्गचलितैर्देवं परं रूपिणम्
मन्त्रं वा सततं जपद्भिरिह तैर्मुक्तिः परा लभ्यते॥

परब्रह्म निराकार है, उनका कोई रूप नहीं है। रूपरहित और विराट्‌रूपी परमात्माके रूपकी कल्पना साधकगण भाव द्वारा किया करते हैं। अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार भगवद्रूपका ध्यान और बीजमन्त्रके जपसे योगी शीघ्र ही मुक्ति पदको प्राप्त कर लेते हैं।

अब नीचे भावके अनुसार सगुणोपासनामें रूपकी प्रतिष्ठा प्रतिमा आदि द्वारा किस प्रकारसे होती है सो बताया जाता है। अर्वाचीन पुरुषोंने भावका यथार्थ तत्त्व न समझकर अनेक मिथ्या काल्पनिक दोषारोप भावपर किये

हैं, यथाः—"तुम मृत्तिकामें सुवर्ण रजतादि, पाषाणमें हीरा पन्ना आदि और धूलिमें मैदा शक्कर आदिकी भावना कर वैसा क्यों नहीं बनाते?" इत्यादि इत्यादि। अर्वाचीन पुरुषोंका इस प्रकारका प्रलाप भावतत्त्वके न समझनेका ही फल है। जिन भावोंके अनुसार पाषाणादिमें भगवन्मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा होती है वे भाव मिथ्या मानसिक कल्पनामय नहीं हैं क धूलिमें मैदा आदिकी झूंठ मूढ़ भावना कर ली जाय। वे सब भाव श्रीभगवान्की सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी अनन्त लीलाओंके भावोंमेंसे महर्षियोंकी समाधिशुद्ध बुद्धिके द्वारा अनुभूत सत्य तथा दिव्य भाव हैं और इन्हीं सत्य और दिव्य भावोंका परिप्रकाश जिन रूपोंके द्वारा हो सकता है, सगुणोपासनाकी प्रतिमाओंमें उन्हीं रूपोंकी प्रतिष्ठा की गई है। अब नीचे भावोंके अनुसार कुछ रूपोंका तात्पर्य वर्णन किया जाता है। वेदमेंः—

"विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्" "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" "तामग्निवर्णां दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये" "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" "त्र्यम्बकं यजामहे" "यो भूतानामधिपती रुद्रस्तं तिचर" आदि।

इन विविध मन्त्रोंके द्वारा सगुणोपासनामें आराध्य पञ्चमूर्तियोंका वर्णन किया गया है और साथ ही साथ—

"उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाराणि"

ऐसा कह कर उपासनाराज्यमें प्रतिमापूजनकी महिमा और परमावश्यकता बताई गई है। इन्हीं पंचमूर्ति तथा अन्यान्य मूर्तियोंकी जो विचित्र प्रतिमाएं बनवा कर पूजी जाती हैं उन सबोंके पृथक् पृथक् रूप वर्णनमें भावकी पृथक्ता ही कारण है सो निम्नलिखित प्रबन्धसे स्पष्ट हो जायगा। शास्त्रमें शेषशायी भगवान्की ध्यानयोग्य मूर्ति इस प्रकारसे वर्णित हैः—

ध्यायन्ति दुग्धाब्धिभुजङ्गभोगे
शयानमाद्यं कमलासहायम्।
प्रफुल्लनेत्रोत्पलमञ्जनाभं
चतुर्मुखेनाश्रितनाभिपद्मम्॥
आम्नायगं त्रिचरणं घननीलमुद्य-
च्छ्रीवत्सकौस्तुभगदाम्बुजशंखचक्रम्।

हृत्पुण्डरीकनिलयं जगदेकमूल-
मालोकयन्ति कृतिनः पुरुषं पुराणम् ॥

इस ध्यानमें शेषशायी भगवान्की निम्नलिखित मूर्ति बनाई गई है, यथाः—भगवान् क्षीरसमुद्रमें भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नागपर सोये हुए हैं, कमला अर्थात् लक्ष्मीरूपिणी प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही हैं, उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई है, उनका रङ्ग घननील है, उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला है, उनके चार हाथ हैं, जिनमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं, वे जगत्के आदिकारण तथा भक्तजनहृत्सरोज-विहारी हैं, इनके ध्यान तथा इनकी भावमयी मूर्तिमें तन्मयता प्राप्त करनेसे भक्तका भवभ्रम दूर होता है। अब निराकार भगवान्की प्रकृतिके साथ अन त लीलाओंमेंसे कौन कौन भावोंको लेकर शेषशायी भगवान्की यह मूर्ति बताई गई है सो विचारकरने योग्य है। यह सब रूपवर्णन कविकल्पना या अलङ्कार नहीं है; परन्तु दिव्य भावोंको ही विकाशरूप दिव्य मूर्ति है। क्षीरका अनन्त समुद्र सृष्टि उत्पत्तिकारी अनन्त संस्कार समुद्र है जिसको कारणवारि करके भी शास्त्रमें वर्णन किया है। कारणवारि जल नहीं है; किन्तु संसारोत्पत्तिके कारण अनन्त संस्कार हैं। इसका पूर्ण वर्णन वेदके अध्यायमें पहले ही किया गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजनीय है। संस्कारोंको क्षीर इसलिये कहा गया है कि क्षीरकी तरह इनमें उत्पत्ति और स्थितिविधानकी शक्ति विद्यमान है। ये सब संस्कार प्रलयके गर्भमें विलीन जीवोंके समष्टि संस्कार हैं। भुजङ्ग अर्थात् अनन्त नाग, अनन्त आकाशका रूप है जिसके ऊपर श्रीभगवान् सोये रहते हैं। श्रीभगवान् अनन्त आकाशमें संस्कारोंके भीतर निद्रित रहते हैं। उनके सोनेके लिये अनन्त आकाश इसलिये चाहिये कि वे स्वयं अनन्त रूप हैं सान्त अर्थात् देशकालवस्तुपरिच्छिन्न नहीं हैं। अनन्तदेवकी सहस्रफणा महाकाशकी सर्व-व्यापकता प्रतिपादन करती हैं, क्योंकि शास्त्रमें 'सहस्र' शब्द अनन्तता-वाचक है। आकाश ही सबसे सूक्ष्म भूत है, आकाशकी व्यापकतासे ही ब्रह्मकी व्यापकता अनुभव होती है और आकाशसे परे ही परम पुरुषका भाव है इस कारण महाकाशरूपी अनन्त शय्यापर भगवान् सोये हुए हैं। संस्कारोंके बीचमें श्रीभगवान्के सोये रहनेका कारण यह है कि उनके रहे बिना संस्कारके द्वारा पुनः सृष्टि नहीं हो सकती; क्योंकि संस्कार जड़ हैं और श्रीभगवान् चेतन हैं, चेतनकी शक्तिसे ही जड़में कार्यकारिणी और फलप्रदायिनी प्रेरणा उत्पन्न

होती है। श्रीभगवान् प्रलयके बाद अपना चेतन बीज संस्कारोंमें अर्पण करते हैं और उसीसे पूर्वकल्पसञ्चित संस्कारानुसार सृष्टि होने लगती है, यथा—मनुसंहितामें:—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।

पहले जल अर्थात् संस्कारराशिको उद्बुद्ध करके उसमें बीज अर्थात् अपनी चेतन शक्तिका सन्निवेश किया। कमला अर्थात् प्रकृति उनकी पादसेवा कर रही है। इस भावमें प्रकृतिके साथ श्रीभगवान्का सम्बन्ध बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है:—

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्"

प्रकृति ही माया और परमात्मा उस प्रकृतिके प्रेरक मायी हैं। मायोपहित चैतन्य परमात्मा मायाके द्वारा सृष्टि करते हैं, परन्तु मायाके अधीन नहीं हैं, जीव ही मायाके अधीन हैं। माया परमेश्वरकी दासी बनकर उनके अधीन होकर उनकी प्रेरणाके अनुसार सृष्टि, स्थिति, प्रलय करती है। इसी दासी भाव अर्थात् अधीनता भावके बतानेके अर्थ शेषशायी भगवान्की पादसेविका-रूपसे मायाकी मूर्त्ति बताई गई है।

उनके नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। शेषशायी भगवान्में प्रलयकालमें सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी ब्रह्मविष्णुरुद्रशक्ति प्रच्छन्न रहती है और सृष्टिके समय उन्हींसे धीरे धीरे लीनशक्ति प्रकट होती है। उन्हींमेंसे सृष्टिकारिणी शक्ति ब्रह्मा है जो कि श्रीभगवान्के नाभिकमलसे प्रकट हुई है।

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं"

"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं"

इन वचनोंसे श्रुतिने भी ब्रह्माजीकी उत्पत्ति बताई है। ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके विज्ञानके विषयमें वेद और पुराणके प्रबन्धोंमें पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है। शरीरके अन्यान्य अङ्गोंमेंसे नाभिके साथ सृष्टिकार्यका सम्बन्ध अधिक है इसलिये परमात्माकी नाभिसे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजीका उत्पन्न होना विज्ञानसिद्ध है। कमल अव्याकृतसे व्याकृतिके अभिमुखीन प्रकृतिका रूप है और उसीसे ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है, यथा-मुण्डकोपनिषद्में—

"अन्नात्माणः"

अन्न अर्थात् व्याकृतावस्थ प्रकृति, प्राण अर्थात् समष्टि प्राण हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, इस प्रकारसे श्रीभगवान् शंकराचार्यजीने अर्थ किया है जैसा कि पहले ही वेदके अध्यायमें बताया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें कमलके विषयमें लिखा हैः—

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा ।
तस्मात् पद्मात्समभवद्ब्रह्मा वेदमयोनिधिः ॥
मानसस्येहया मूर्त्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता ।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः ।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः ॥

तदनन्तर श्रीभगवान्‌ने एक तेजोमय दिव्य कमलकी सृष्टि की जिसमें हाथमें वेदोंको लेकर ब्रह्माजी प्रकट हुए। श्रीभगवान्‌के सृष्टिकार्यजनित संकल्पसे ही ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई और उनके आसनरूपसे पृथिवीको ही पद्म कहा गया है। यहां पर पृथिवी शब्द व्यक्तावस्थ ब्रह्माण्डका बोधक है, जिसका—

"तदण्डमभवद्धैमं सरस्रांशुसमप्रभम्"

इस प्रकारसे मनुजीने अपनी संहितामें वर्णन किया है। गगनविस्तारी मेरु पर्व्वत ही इस पद्मकी कर्णिका है और उसी पद्ममें विराजमान होकर ब्रह्माजी समस्त संसारकी सृष्टि करते हैं। यही श्रीभगवान्‌के नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीकी उत्पत्तिका भाव है।

श्रीभगवान्‌के शरीरका रङ्ग घननील है। आकाशका रंग नील है। निराकार ब्रह्मका शरीर निर्द्देश करते समय शास्त्रमें उनको आकाशशरीर कहा है, क्योंकि सर्वव्यापक अति सूक्ष्म आकाशके साथ ही उनके रूपकी कुछ तुलना हो सकती है, यथा-श्रुतिमें—

"आकाशशरीरं ब्रह्म" "आकाशसलिङ्गात्" इत्यादि।

अतः आकाशशरीर ब्रह्मका रंग नील होना विज्ञानसिद्ध है। उनके गलदेशमें कौस्तुभमणिविभूषित माला है—श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा हैः—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

श्रीभगवान्‌की सत्ताको छोड़कर कोई भी जीव पृथक् नहीं रह सकता, समस्त जीव सूत्रमें मणियोंकी तरह परमात्मामें ही ग्रथित हैं। समस्त जीव मणि हैं. परमात्मा सर्वजीवमें विराजमान सूत्र हैं। गलेमें मालाकी तरह जीव परमात्मामें ही स्थित हैं। इसी भावको बतानेके लिये उनके गलेमें माला है। सब मालाकी मणियोंके बीचमें उज्ज्वलतम कौस्तुभमणि नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव कूटस्थ चैतन्य है। ज्ञानरूप तथा मुक्तस्वरूप होनेहीसे कूटस्थरूपी कौस्तुभकी इतनी ज्योति है। मालाकी अन्यान्य मणियां जीवात्मा और कौस्तुभ कूटस्थ चैतन्य है। यही कौस्तुभ तथा मणिसे युक्त मालाका भाव है। श्रीभगवान् चतुर्भुज हैं—गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अधिकारानुसार जो साधक जिस प्रकारसे श्रीभगवान्‌की भक्ति करते हैं उनको श्रीभगवान् अधिकारानुसार धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षफल प्रदान करते हैं। इसी चतुर्वर्ग फलप्रदानके अर्थ ही श्रीभगवान्‌के चार हाथ हैं। यही चतर्भुज मूर्तिका भाव है और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस चतुर्वर्गके परिचायक शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। इस प्रकारसे क्षुद्र मूर्तिमें उनके विश्वरूपकी कल्पना की गई है अतः इन सब वर्णनोंके द्वारा सिद्धान्त हुआ कि किस प्रकारसे सृष्टिस्थितिप्रलयके अनन्त भावोंके अनुसार निराकार भगवान्‌की रूपकल्पना होती है और उन्हीं रूपोंके अनुसार प्रतिमा बनाकर भक्त निज निज अधिकारानुसार श्रीभगवान्‌की पूजा करके मुक्तिभूमिमें अग्रसर हो सकता है। जिन भावोंके अनुसार रूपकी प्रतिष्ठा होती है. भक्त उसी रूपका ध्यान करते करते उन्हीं भावोंमें अपना चित्त विलीन कर सकता है और भावसे चित्तविलय करके भावग्राही भगवान्‌का दर्शन कर सकता है। शेषशायी भगवान्‌के साथ सर्वशक्तिमान्, जगन्माता द्वारा सेवित, तत्त्वातीत और जीवको चतुर्वर्ग फल देनेवाले भगवान्‌का सम्बन्ध रहनेसे उनके भावोंमें चित्त विलीन करके भक्तलोग शीघ्र ही प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मपदको प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार समस्त विश्वव्यापिनी प्रकृतिके भावोंके अनुसार भगवान्‌की मूर्त्तिका वर्णन होता है उसी प्रकार प्रकृतिके परिच्छिन्न भावोंके अनुसार भी देवदेवियोंकी रूपकल्पना होती है। इस प्रकार रूपकल्पनामें प्रकृतिके जिस भावपर उस देवताकी चेतनशक्ति कार्यकारिणी है उसी भावके अनुसार उस

देवता या देवीकी मूर्त्ति बनाई जाती है। दृष्टान्तरूपसे ब्रह्माजीकी मूर्त्तिका विज्ञान समझ सकते हैं। ब्रह्माजी प्रकृतिके अन्तर्गत राजसिक भावपर अधिष्ठान करते हैं इसलिये ब्रह्माजीका रङ्ग लाल है; क्योंकि रजोगुणका रङ्ग लाल है, यथा–श्वेताश्वतर उपनिषद्में—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्"

त्रिगुणमयी प्रकृति लोहित, शुक्ल तथा कृष्णवर्णा है। रजोगुण लोहित, सत्त्वगुण शुक्ल और तमोगुण कृष्णवर्ण है। समष्टि अन्तःकरण ब्रह्माजीका शरीर है जैसा कि वेद और पुराणके अध्यायमें कहा गया है इसलिये ब्रह्माजीके चार मुख हैं; क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये अन्तःकरणके चार अङ्ग हैं। क्रियाकालमें ज्ञानकी अप्रधानता रहनेपर भी ज्ञानकी सहायता विना क्रिया ठीक ठीक नहीं चल सकती है इसलिये ज्ञानके रूप नीरक्षीर-विवेकी हंसको ब्रह्माजीने वाहन कर रक्खा है और वाहन होनेके कारण उसीकी सहायतासे कार्य्य भी करते हैं इत्यादि इत्यादि। ब्रह्माजीकी मूर्तिके भावोंको विचार कर देखनेसे पता लग जायगा कि प्रकृतिके राजसिक भावकी लीलाके अनुसार ही ब्रह्माजीकी मूर्ति–कल्पना की गई है। योगशास्त्रमें शिवजीका रूप निम्नलिखित भावसे वर्णन किया गया है, यथा—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्राऽवतंसम्।
रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराऽभीतिहस्तं प्रसन्नम्॥
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्।
विश्वाद्यं विश्वबीजं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

इस ध्यानमें शिवजी चांदीके पहाड़के समान श्वेतवर्ण तथा चन्द्रकलासे भूषित हैं। वे उज्ज्वलाङ्ग, प्रसन्नचित्त तथा चतुर्हस्तमें परशु, मृग, वर और अभयके धारण करनेवाले हैं। व्याघ्रचर्मके पहननेवाले देवादिदेव परमात्मा समस्त देवताओंके आराध्य हैं और संसारके आदिकारण भवभयनाशी पञ्चमुख तथा त्रिनेत्र हैं। शिवजीका यह भाव सृष्टिस्थितिप्रलयकारी ईश्वरका भाव है जो सृष्टिके साथ ही साथ जीवको आत्यन्तिक प्रलयके द्वारा भवभयनाशन मुक्तिपद प्रदान भी करते हैं। इस शिवरूप परमात्माके तमोगुणमय संहार भावको धारण करनेसे रुद्रमूर्त्ति भी प्रकट होती है जो प्रलयके समय समस्त ब्रह्माण्डका नाश करती है अतः शिवरूपमें एक शान्तिमय ईश्वरभाव और दूसरा संहारकारी रुद्रभाव विराजमान है और शास्त्रमें जो शिवरूपका स्वतन्त्र

स्वतन्त्र भाव और मूर्ति बताई गई है वह सब इन्हीं दो भावोंके अनुसार है जो कि नीचे क्रमशः बताया जायगा। उनके ईश्वरभावमें जैसा कि ऊपर बताया गया है समस्त प्रकृतिका विलास उन्हींकी कृपासे उन्हींके ऊपर प्रकाशित है इसलिये शिवजी श्वेतगिरिके तुल्य मूर्तिमान्, पंचमुख त्रिनेत्र और चन्द्रशेखर हैं। प्रकृतिका समस्त विलास उन्हींके शरीरमें होनेसे उनका रङ्ग श्वेत है; क्योंकि जहां पर प्राकृतिक समस्त वर्णोंका विकाश होता है वहां श्वेतवर्ण ही होता है। उनका पंचमुख स्वरूप प्राकृतिक पञ्चतत्त्वोंका रूप है जिसके विलासके द्वारा अपूर्व शोभामय ब्राह्माण्डकी उत्पत्ति होती है इसलिये शिवजीके पञ्चमुखोंका हास्य ही प्रकृतिकी ब्रह्माम्डविकाशमयी दिव्य छटा है। उनके दो नेत्र पृथिवी-के तथा आकाशके हैं, तृतीय नेत्र सूर्य या ज्ञानाग्नि है, क्योंकि सूर्यात्मा बुद्धिका अधिदैव है इसलिये इसी ज्ञाननेत्रके द्वारा मदन भस्म हुआ था। चतुर्थ ज्योति का स्थान चन्द्रकला है जो ज्योतिका भी आधार और मनका भी अधिदैव होनेसे संसारका प्रकाशक है। इस प्रकारसे उनके ईश्वरभाव द्वारा समस्त संसारका प्रकाश होता है, यथा—श्रुति—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"

उनकी ही दीप्तिके अनुसार समस्त ज्योतिष्मान् पदार्थोंकी दीप्ति है और उनकी ही ज्योतिसे समस्त संसार आलोकित है। उनके ईश्वर भावोंमें त्रिशूल त्रिगुणका रूप है जिसके ऊपर विश्वरूपी वाराणसी स्थित है। जबतक शिवकी सत्ता त्रिगुणमयी प्रकृतिके भीतर प्रकट रहेगी तबतक वाराणसीका नाश नहीं हो सकता। उनके चार हाथोंमें परशुमृगवराभीति-मुद्राके द्वारा चतुर्वर्गफल-दान शक्ति सूचित की गई है, यथा—जिस हस्तमें मृग है उसी हस्तमें काम अर्थात् सकल मनोरथपूर्णकारी मृगमुद्रा है। जिस हस्तमें परशु है उसी हस्तमें अर्थ है जो कि शत्रुनाश और दिग्विजयकी मुद्रा है। जिस हस्तमें वर है उसीमें धर्म है क्योंकि विना धर्मके वरणीय सुखकी प्राप्ति असम्भव है और जिस हस्तमें अभय है उसी हस्तमें मोक्ष है क्योंकि विना मोक्षके आत्यन्तिक भयनाश अर्थात् भवभयनाश नहीं हो सकता है। इस प्रकारसे ऊपर कथित ध्यान-के द्वारा शिवजीका ईश्वरभाव बताया गया है। शिवजीके अन्य दो भाव नीचे बताये जाते हैं, जिनमेंसे एकमें प्राकृतिक प्रलय और दूसरेमें आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मुक्तिका भाव बताया गया है। इस भावमें शिव त्रिशूलधारी, भुजङ्ग-भूषण, भस्मविभूषित, श्मसानवासी, कपालमाली, श्वेतकाय, हरिप्रिय, व्याघ्रा-म्बरधारी तथा भिखारी हैं। ये सब इनके रूप प्राकृतिक प्रलय तथा आत्यन्तिक

प्रलयके भावानुसार प्रकट होते हैं। जिस समय एक ब्रह्माण्डका नाश हो जाता है वही प्राकृतिक या महाप्रलयका काल है। उस समय ईश्वरकी तामसिक शक्ति रुद्ररूप या कालरूप धारण करके संसारको नष्ट कर देती है। द्वितीय अर्थात् आत्यन्तिक प्रलय मुक्तिको कहते हैं जिस समय जीव ब्रह्ममें विलीन होकर पृथक् सत्ताको छोड़ देता है। इस प्रलयके साथ महाकाल-रूपी परमात्माका सम्बन्ध रहता है, यह भी शिवजीका एक भाव है। शिवका त्रिशूल सृष्टिनाशकारी रुद्रभावमें नियत (अदृष्ट) का चिन्ह है जो सर्वथा अबाधित, सर्वनाशकारी और अति प्रबलपराक्रान्त है जिसके तेजसे समस्त संसारको प्रलयकालमें कालके गर्भमें निमग्न होना पड़ता ही है, परन्तु शिवजीके आत्यन्तिक प्रलयकारी अर्थात् मुक्तिप्रदाता महाकालभावमें यही त्रिशूल आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखरूपी त्रिविध शूलका रूप है; क्योंकि इन्हीं त्रिविध शूलोंके द्वारा पीड़ित होकर ही जीव मुक्तिके लिये महाकालरूपी शिवजीकी शरण लेता है, यथा-सांख्यकारिकामें—

"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ"

आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक, इन तीनों प्रकारके दुःखोंके द्वारा पीड़ित होकर ही जीव त्रिविध दुःखनाशक मुक्तिके लिये जिज्ञासा करता है। रुद्रभावमें भुजङ्गभूषण, भस्मलेपन, श्मसानवास, कङ्कालमाल (अस्थिकी माला) नरकपाल आदि नाशका रूप प्रकाश करनेवाला है। जब रुद्रके द्वारा संसारका नाश होता है तो उनका अलङ्कार सोने चांदीसे निर्मित न होकर अत्यन्त तमो-गुणी और प्राणनाशकारी सर्प ही होना चाहिये इसलिये रुद्रमूर्ति भुजङ्गभूषण है और यह भी इसमें दूसरा भाव है कि सर्प जैसा क्रूर तथा हिंस्र जीव भी कालके द्वारा वशीभूत रहता है जिससे कालकी सर्वग्रासकारी अमोघ गति सिद्ध होती है। प्रलयकालमें समस्त संसारका नाश होकर भस्म ही शेष रह जाता है तथा प्रत्येक जीवका अन्तिम परिणाम भस्म ही है और इसी परिणामके कर्त्ता रुद्रजी हैं इसलिये उनका शरीर भस्म-भूषित है, चन्दनचर्चित नहीं है। समस्त संसारको नष्ट करके श्मसान बनानेवाले रुद्रजीके लिये श्मसानवास विज्ञानसिद्ध होगा, अट्टालिकावास विज्ञानविरुद्ध होगा इसलिये रुद्र श्मसानवासी हैं। उनका कङ्कालमालाधारण और नर-कपालधारण भी नाशके ही भावको सूचित करता है। अब इन सब वर्णनोंके साथ महाकालरूपी मुक्तिप्रदाता शिवजीका क्या सम्बन्ध है सो बताया

जाता है। महाकालका भुजङ्गभूषण प्रकृतिविलयका लक्षण प्रकट करता है। महाकालमें अपनी सत्ताको विलीन करके जीव जिस समय मुक्तिपद प्राप्त करता है उस समय उसकी द्वन्द्वबहुल प्रकृति शान्त हो जानेसे धर्म अधर्म, पाप पुण्य, सत्त्वगुण तमोगुण आदि समस्त विरुद्ध वृत्तियां उसमें लय होकर एकाकार भावको प्राप्त हो जाती हैं. इसीको सूचनाके लिये महाकाल भुजङ्ग-भूषण हैं अर्थात् महाकालकी प्रकृतिमें प्रबल तमोगुणका रूप सर्प भी अपना हिंसावृत्तिको भूलकर सत्त्वगुणके साथ शोभायमान है यही इसका भावार्थ है। जगदम्बा गृहिणी और कुबेर भण्डारी होनेपर महाकालरूपी शिवजीका श्मसानवास, भस्मविभूषण, भिक्षापात्र हस्तमें लेकर भिक्षार्थ पर्यटन, त्याग और वैराग्यभावकी सूचना करता है, क्योंकि त्याग तथा वैराग्यका ही सम्बन्ध मुक्तिके साथ है। समस्त संसारकी विभूतिको छोड़कर जो मुमुक्षु भिक्षापात्र हस्तमें लेकर संन्यासी बन सकते हैं वे ही मुक्तिके अधिकारी हो सकते हैं और महाकालके प्रिय बन सकते हैं। ये ही भाव इनके द्वारा प्रकट किये गये हैं, यथा श्रुति—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः"

"पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणाया व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति"

कर्म, प्रजा या धनके द्वारा नहीं परन्तु त्यागके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। पुत्रकी इच्छा और धनकी इच्छा और यशोलिप्साको त्याग करके ही मनुष्य संन्यास अवलम्बन कर सकता है। कालरूप रुद्र व्याघ्राम्बरधारी हैं, परन्तु महाकाल दिग्वसन अर्थात् नग्न है। चाहे कितना ही बलशाली जीव हो.काल सभीको ग्रास करता है और सभीकी खाल खींचकर उसे मृत्युके ग्रासमें डालता है इसी भावके प्रकाश करनेके अर्थ रुद्र व्याघ्राम्बरधारी हैं; क्योंकि हिंस्र पशुओंमें शेर सबसे बलवान् है, परन्तु उसकी भी खाल खींचकर रुद्रने अपना वस्त्र बनाया है। अन्य वेशमें महाकालके शरीरमें कोई वस्त्र नहीं है जिसका यह तात्पर्य है कि महाकालरूपी परमात्मा देशकालके द्वारा अपरिच्छिन्न और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें सर्वव्यापक है। जो वस्तु असीम और सर्वव्यापक है उसे वस्त्रके द्वारा ससीम और आवृत नहीं कर सकते इसलिये महाकाल दिग्वसन हैं परन्तु कालका सम्बन्ध एक एक ब्रह्माण्डके साथ रहनेके कारण कालकी सीमा ब्रह्माण्डकी आयुके द्वारा परिच्छिन्न है इसलिये कालरूप रुद्र वस्त्र पहना करते हैं। महाकालका तृतीय नेत्र जिसका वर्णन पहिले ही कर चुके हैं ज्ञाननेत्र है

इसलिये उसकी स्थिति कूटस्थ चैतन्यके स्थानके ऊपर ललाटमें है। ज्ञाननेत्रका स्वरूप बतानेके लिये ही उसी नेत्रके द्वारा मदनदहनका वृत्तान्त शास्त्रमें प्रसिद्ध किया गया है। शास्त्रमें कामकी तीन दशाएँ बताई गई हैं। यथा–संस्कार दशा, चिन्त्यमान दशा और भुज्यमान दशा। जिस दशामें काम-सम्बन्धीय स्थूलक्रिया तथा सङ्कल्प विकल्परूपसे उसकी चिन्ता भी नहीं रहती है, कामकी वह दशा संस्कार दशा कहलाती है। कामकी चिन्त्यमान दशामें कामका सङ्कल्प विकल्प होता रहता है और तृतीय अर्थात् भुज्यमान दशामें भोगरूपसे कामकी स्थूल क्रिया होती है। इन तीन दशाओंमें कामके द्वारा ही ज्ञान आवृत होता है और किस तरहसे होता है सो गीतामें लिखा है, यथा—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

जिस प्रकार धूमके द्वारा अग्नि, मलके द्वारा आदर्श (कांच) और गर्भचर्मके द्वारा गर्भ आवृत होता हैं उसी प्रकार ज्ञानियोंके नित्यशत्रु और अग्निकी तरह अतृप्त कामके द्वारा ज्ञान आवृत होता है। इसमें प्रधान दृष्टान्त संसार दशागत कामके लिये है; अर्थात् जिस प्रकार धूमके द्वारा अग्नि आवृत्त होनेपर भी दाहादि कार्य कर सकता है, उसी प्रकार चित्तमें सूक्ष्मरूपसे स्थित काम ज्ञानको बाह्य-रूपसे अधिक आवृत नहीं कर सकता है। द्वितीय दृष्टान्त चिन्त्यमानदशागत कामके लिये है; अर्थात् जिस प्रकार दर्पणके मलयुक्त होनेपर उसकी प्रतिबिम्ब-ग्रहणशक्ति मात्र नष्ट होती है किन्तु स्वरूपकी हानि नहीं होती है उसी प्रकार कामकी चिन्त्यमान अवस्थामें ज्ञानपर आवरण आजानेपर भी स्वरूपकी हानि नहीं होती है। तृतीय दृष्टान्त भुज्यमान दशागत कामका है; अर्थात् जिस प्रकार चर्मावृत गर्भ हस्तपदादि विस्तारपूर्वक स्वकार्य नहीं कर सकता है और यथार्थमें उपलब्ध भी नहीं होता है उसी प्रकार कामकी बाह्य भोगदशामें ज्ञान सम्पूर्णरूपसे आच्छन्न हो जाता है। इन तीनों प्रकारके कामके नाशके लिये योगदर्शनमें कहा है।

"ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः"
"ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः"

सूक्ष्मरूपमें अन्तःकरणमें स्थित कामादि ज्ञान द्वारा अविद्याके नाशके साथही नष्ट होते हैं और स्थूल वृत्तिरूपमें प्रकाशमान काम ध्यानके द्वारा नष्ट होता है। भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यानमें सदा चित्त निविष्ट रहनेसे कामक्रिया और कामचिन्ता नष्ट हो जाती है; परन्तु अन्तःकरणमें निहित कामका सूक्ष्म संस्कार ध्यान द्वारा नष्ट नहीं हो सकता है इसलिये ध्यान द्वारा कामकी चिन्ता और क्रिया बन्द होने पर भी संस्कार भीतर रहनेसे जड़से काम नष्ट नहीं हो सकता है इस लिये कामके पदार्थ सामने आने पर पुनः कामका उदय हो जाता है। इसका आमूल नाश संस्कारतकके नाशके द्वारा ही हो सकता है और संस्कारका नाश संस्कारके कारणरूप अविद्याके नाशके द्वारा और अविद्याका नाश विवेकख्याति अर्थात् ज्ञानके द्वारा होता है इसलिये ज्ञाननेत्रके द्वारा ही मदन भस्म होकर आमूल नाशको प्राप्त हो सकता है। यही ज्ञानस्वरूप शिवजीका तृतीय नेत्र है। शास्त्रमें सत्त्वगुणका रंग श्वेत, रजोगुणका लाल और तमोगुणका कृष्ण बताया गया है, यथा-श्वेताश्वतरमें—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः"

सत्त्वरजस्तमोगुणानुसार श्वेतलोहितकृष्णवर्णा, जन्मरहित और अद्वितीय प्रकृति रूपयुक्त अनेक प्रजाओंकी सृष्टि करती है; परन्तु क्या कारण है कि शिवजी तमोगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी श्वेतवर्ण हैं और विष्णु सत्त्वगुणके अधिष्ठाता होनेपर भी कृष्णवर्ण हैं ? इसका तात्पर्य यह है कि जो चेतनशक्ति क्रिया तथा फल दोनोंको प्रदान करती है उसके भीतर जिस भावका प्रकाश रहता है बाहर ठीक उसके विपरीत भावका प्रकाश रहेगा इसीलिये सत्त्वाधिष्ठाता विष्णुके भीतर सत्त्वगुणका प्रकाश रहनेके कारण बाहर तमोगुण-का विलास है और इसीलिये विष्णुजीका रङ्ग घननील है। इसी प्रकार तमोधिष्ठाता शिवजीके भीतर तमोभावका प्रकाश रहनेके कारण बाहर सत्त्वगुण-का प्रकाश है और इसीलिये शिवजी श्वेतवर्ण हैं; परन्तु रजोगुणमें केवल क्रियाशक्ति रहनेके कारण तथा फलप्रदानशक्ति न रहनेके कारण रजोगुणके अधि-ष्ठाता भीतर बाहर दोनों ओर एक प्रकृतिके हैं और इसलिये रजो गुणके अधिष्ठाता ब्रह्माजीका रङ्ग लाल है। प्रत्येक चेतनशक्तिकी पूजा फललाभके लिये होती है इसलिये रजोगुणमें केवल क्रियाशक्ति रहनेसे और फलदानशक्ति न रहनेसे रजोगुणकी अधिष्ठाता चेतनशक्तिकी पूजा नहीं हो सकती है। यही कारण है कि ब्रह्माजीकी पूजा नहीं होती है। शास्त्रमें सत्त्वगुण और तमोगुणको अन्योन्य-

मिथुनवृत्तिक कहा गया है। दो वस्तुओंकी प्रकृतिमें परस्पर सम्बन्ध हो तो उन्हें अन्योन्यमिथुनवृत्तिक कहा जाता है। प्रकाश तथा अन्धकार, ज्ञान तथा अज्ञान, स्वर्ग तथा नरक, ऊर्द्ध्वगति और अधोगतिके विचारसे सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रकृति एकही है। केवल एक प्रकृति ही नहीं दोनोंमें शक्ति भी तुल्य रूप है; अर्थात् जीवको उन्नत करनेकी जितनी शक्ति सत्त्वगुणमें है, जीवको अवनत करनेकी उतनीही शक्ति तमोगुणमें है इसलिये सत्त्वगुण तथा तमोगुणमें अन्योन्यमिथुन सम्बन्ध है। यही कारण है कि सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु और तमोगुणके अधिष्ठाता शिवजीमें परस्पर तन्मयासक्तिका भाव विद्यमान है। हरिहरका जो अपूर्व प्रेमसम्मेलन शास्त्रमें बताया गया है उसका यही कारण है, यथा–देवीभागवतमें—

शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति अन्योन्यासक्तचेतसोः॥

शिव विष्णुके प्राण हैं और विष्णु भी शिवके प्राण हैं, परस्परासक्तचित्त हरिहरमें कोई भेद नहीं है। सबसे प्रथम जो विष्णु भगवान्की एक शेषशायी मूर्त्तिका वर्णन किया गया है वह विष्णु भगवान्की सप्त प्रधान मूर्त्तियोंमेंसे एक मूर्त्तिका वर्णन है इसी प्रकार श्रीविष्णु भगवान्की अन्यान्य मूर्त्तियोंका भाव भी समझना उचित है और श्रीमहादेवकी मूर्त्तिका एकही रूप वर्णन करके और और मूर्त्तियोंका कुछ कुछ रहस्य कह दिया गया है जिससे जिज्ञासुओंको साधारण ज्ञानकी प्राप्ति हो सके। हरिहर विज्ञानका विस्तारित रहस्य भक्ति और योगके अध्यायमें वर्णित हुआ है।

शिवजी पृथिवी तत्त्वके अधीश्वर हैं इसलिये पृथिवी तत्त्वकी सर्वश्रेष्ठ विकाशभूमि हिमालयका सर्वोच्च शिखर कैलास शिवजीका स्थान है ऐसा शास्त्रमें पाया जाता है। शिवप्रकृतिमें द्वंद्वका अभाव होनेसे, गुणातीत ईश्वरमें सकल गुणोंका लय होनेसे, कैलासनिवासि जीवगण हिंसाशून्य होते हैं और सिंह, मृग, सर्प, नकुल आदि परस्पर विरुद्धप्रकृतियुक्त जीवगण भी विरोध और हिंसा भूलकर शान्तिके साथ विचरण करते हैं। शिवजीका वाहन वृषभ धर्मका रूप है, क्योंकि धर्मका ही आश्रय करके संसारमें शिवसत्ताके द्वारा समस्त कार्य होता है। पशुजातिमें सत्त्वगुणका पूर्ण विकास गौमें ही है और सत्त्वगुणकी पूर्णतामें ही धर्मका पूर्ण विकाश है इसलिये शिववाहन वृषभ है। यही सब प्रकृतिलीलामूलक भावोंके अनुसार सगुण शिवोपासनापरायण

भक्तको सहायताके लिये शिवमूर्त्तिका रहस्य है। इस प्रकार भाववैचित्र्यपूर्ण शिवमूर्तिके अतिरिक्त शिवलिंग-पूजाकी विधि भी शास्त्रमें पाई जाती है, यथा-याज्ञवल्क्य संहितामें—

प्रशस्तं नार्मदं लिंगं पक्वजम्बूफलाकृति।
मधुवर्णं तथा शुक्लं नीलं मरकतप्रभम्॥

नर्मदा नदीसे प्राप्त पक्वजम्बूफलकी तरह आकारयुक्त, मधुवर्ण तथा शुक्ल या नील मरकत मणितुल्य शिवलिङ्ग पूजनमें प्रशस्त है। मत्स्यसूक्तमें—

दृष्ट्वा लिंगं महेशस्य स्वयम्भूतस्य पार्वती।
सर्वपापविनिर्मुक्तः परे ब्रह्मणि लीयते॥

स्वयम्भू महादेवके लिङ्गका दर्शन करनेसे भक्त लोग समस्त पापसे मुक्त होकर परब्रह्मपदमें विलीन हो जाते हैं। स्कन्दपुराणमें—

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते॥
लिङ्गत्वाल्लिङ्गमित्युक्तं सदेवासुरकिन्नरैः।
प्रयच्छामि दिवं देवि यो मल्लिङ्गार्चने रतः॥
त्यक्त्वा सर्वाणि पापानि निर्गदो दग्धकल्मषः।
मन्मना मन्नमस्कारो मामेव प्रतिपद्यते॥

आकाशरूप ब्रह्मलिङ्ग है और पृथिवी रूपिणी जगदम्बा उसकी पीठिका है। लिङ्ग समस्त देवताओंका आलय है और जीव भावका लय इसके द्वारा होनेसे इसका नाम लिंग है। लिंगपूजापरायण भक्त समस्त पापसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। लिंगपुराणमें—

मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णु स्त्रिभुवनेश्वरः।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥
लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः।
तयोः संपूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ॥

लिंगके मूलमें ब्रह्मा, मध्यमें विष्णु और उपरि भागमें ओंकाररूप सदाशिव विराजमान हैं। लिंगकी वेदी जगज्जननी जगदम्बा हैं और लिंग साक्षात् परमात्मा हैं अतः लिंगपीठकी और लिंगकी पूजासे प्रकृति और परमात्मा-

की पूजा हुआ करती है। लिंगके विश्वाधार होनेके विषयमें स्कन्दपुराणमें लिखा है—

सर्वे लिङ्गमया लोकाः सर्वे लिंगे प्रतिष्ठिताः ।
तस्मादभ्यर्च्चयेल्लिंगं यदीच्छेच्छश्वातं पदम् ॥

ब्रह्मा हरश्च भगवान् विश्वेदेवा उमा हरिः ।
लक्ष्मीधृतिः स्मृतिः प्रज्ञा विधिर्दुर्गा शची तथा ॥

रुद्राश्च वसवः स्कन्दो विशाखः शाख एव च ।
नैगमेशश्च भगवान् लोकपाला ग्रहास्तथा ॥

सर्वे नन्दिपुरोगाश्च गणा गणपतिः प्रभुः ।
पितरो मुनयः सर्वे कुवेराद्याश्च सत्तमाः ॥

आदित्या वसवः साध्या अश्विनौ च भिषग्वरौ ।
विश्वेदेवा समरुतः पशवः पक्षिणो मृगाः ॥

ब्रह्मादिस्थावरं यच्च सर्वं लिंगे प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थापयेल्लिंगमैश्वरम् ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ये तीन प्रधान शक्तियां, उमा, लक्ष्मी, शची आदि देवियां, इन्द्रादि समस्त लोकपाल तथा समस्त देवगण, समस्त पितृगण तथा मुनिगण, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि भिन्न भिन्न लोकस्थ जीवगण, पशु, पक्षी, मृग यहां तक कि, ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त चराचर समस्त सृष्टि ही लिंगमें अवस्थित है। अतः परमात्माके इस लिंगकी स्थापना शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्तिके लिये भक्तजन अवश्य ही करें, तथा इसकी पूजाके द्वारा सर्वसिद्धि प्राप्त करें। लिंगपुराणमें लिंगके स्वरूपके विषयमें अपूर्व वर्णन मिलता है; यथा—

अलिंगो लिंगमूलन्तु अव्यक्तं लिंगमुच्यते ।
अलिंगः शिव इत्युक्तो लिंग शैवमिति स्मृतम् ॥
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुर्लिंगमुत्तमम् ।
गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शादिवर्ज्जितम् ॥
अगुणं ध्रुवमक्षय्यमलिंगं शिवलक्षणम् ।
गन्धवर्णरसैर्युक्तं शब्दस्पर्शादिलक्षणम् ॥
जगद्योनिं महाभूतं स्थूलं सूक्ष्मं द्विजोत्तमाः ॥

विग्रहो जगतां लिंगमलिंगादभवत् स्वयम् ।
सप्तधा चाष्टधा चैव तथैकादशधा पुनः ॥
लिंगान्यलिंगस्य तथा मायया विततानि तु ।
लिङ्गवेदी महादेवी लिंगं साक्षान्महेश्वरः ॥
लयनाल्लिङ्गमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः ॥

अलिङ्ग लिङ्गका मूल है, लिंग अव्यक्त है, अलिंग शिव है और लिंग शैव है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिसे अतीत तथा गुणरहित परब्रह्म अलिंग है वही शिव है। लिंग शैव है अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिके साथ युक्त शिव है अर्थात् मायोपहित चैतन्य सगुण ब्रह्म ईश्वर है। इसी लिंग और अलिंगके लक्षणका परवर्त्ती श्लोकोंके द्वारा वर्णन किया गया है,—तथा रूप रस आदि पञ्चतन्मात्राओंसे रहित निर्गुण, ध्रुव, क्षयरहित, शिवसत्ता अलिंग है और रूपरसादि पंचतन्मात्राओंसे युक्त जगद्योनि, स्थूल सूक्ष्म तथा कारण प्रकृतिसंबद्ध सृष्टिमें विग्रह रूपसे प्रकट सत्ता ही लिंग कहलाता है जो अलिङ्गसेही प्रकट हुआ है। अलिंगसे प्रकट यह लिंग मायाके द्वारा सप्त, अष्ट तथा एकादशरूपसे संसारमें व्याप्त है। लिङ्गकी देवी महादेवी जगदंबा है और लिंग साक्षात् महेश्वर है। समस्त जीवोंका लयस्थान होनेसे लिंग नाम है। इसी लिंगमें समस्त देवताओंकी स्थिति है जिस समय मूलप्रकृति परमब्रह्मसे अलग दिखाई देती है उसी अवस्थाको व्यक्तावस्था कहते हैं और उसी समयमें यह लिंगमय जगत् अलिंग ब्रह्ममें भासमान होता है इस कारण व्यक्तावस्थामें पुरुषसत्ता लिङ्गरूपसे और प्रकृतिसत्ता पीठरूपसे अर्चनीय होती है। यह अवस्था सर्वशक्तिमान् सगुण ब्रह्मकी है; परन्तु यह अवश्य समझने योग्य है कि यद्यपि सगुण ब्रह्ममें प्रकृति पुरुष दोनोंकी स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता अनुमेय है परंतु लिंगमें प्रकृति अप्रधान और पुरुषकी प्रधानता रक्खी गई है। लिंग और लिंगपीठके ऊपर वर्णित लक्षणोंके द्वारा सिद्धांत हुआ कि जगदाधार परमात्माकी सगुण पुंसत्ताको ही स्थूल लिंगरूपसे प्रकट किया है और जगज्जननी प्रकृतिकी स्त्री सत्ताकी ही लिंगपीठ रूपसे बताया गया है। रूप भावके अनुसार ही होता है इसलिये जगदुत्पत्तिकारण परमात्माके उत्पत्तिभावको किसी स्थूल रूपमें प्रकट करना हो तो मनुष्य स्थूलसंसारमें उत्पत्तिका कारण जो लिंगका आकार है उसी रूपमें उसको प्रकट करेगा; क्योंकि मनुष्यकी चित्तवृत्ति उसके सिवाय उत्पत्तिके लिये और किसी रूपकी कल्पना नहीं कर सकती। इसी विचारके अनुसार जगदुत्पत्तिकारिणी प्रकृतिका भी

उत्पत्तिभाव तल्लिङ्गरूपसे लिङ्गपीठ बनाकर स्थूलरूपसे मनुष्य प्रकट कर सकता है अन्यथा नहीं कर सकता। यही लिङ्ग और लिङ्गपीठके एतादृशरूपका तात्पर्य है। अब इस लिङ्गकी पूजामें क्या क्या भाव रहता है सो बताया जाता है। यह बात पहले ही कही गई है कि मंत्रयोगका यह सिद्धान्त है कि जिससे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है उसीके अवलम्बनसे जीव लयकी ओर अग्रसर हो सकता है। जब जगद्योनि परमात्मा लिङ्गकी सत्ता द्वारा तथा जगत्प्रसविनी प्रकृतिकी सत्ताके द्वारा समस्त विश्वका विकाश हुआ है और वेही दो सत्ताएं लिङ्ग और लिङ्गवेदी रूपसे प्रथमाधिकारीके लिये प्रतिष्ठित की गई है तो यह बात विज्ञानसिद्ध है कि लिङ्ग और वेदीमें इसी व्यापक भावके साथ पूजा करनेसे चित्तवृत्ति स्थूल लिङ्गकी सहायतासे उसकी भूप्रकाश्य व्यापक परमेश्वरसत्तामें धीरे धीरे विलीनताको प्राप्त करेगी जिससे साधक अनन्तविस्तारमयी मायाकी लीलासे मुक्त होकर कार्यब्रह्मकी सहायतासे कारणब्रह्ममें स्थितिलाभ कर सकेगा। यही लिङ्गपूजाका उद्देश्य और लक्ष्य है। इसी महान् लक्ष्यकी साधक होनेसे ही लिङ्गपूजाकी इतनी महिमा शास्त्रमें वर्णित की गई है। रामायणके उत्तरकाण्डमें शिवभक्त राक्षसराज रावणके शिवलिङ्गपूजा करनेके विषयका प्रमाण मिलता है, यथा—

यत्र यत्र स यातिस्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिंगं तत्र तत्र स्म नीयते॥
बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिंगं स्थाप्य रावणः।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चाऽमृतगन्धिभिः॥

लिंगपूजाके मूलमें और भी एक गूढ़ रहस्य विद्यमान है। मंत्रयोगमें भावकी मुख्यताके अनुसार साधनपद्धति निर्णीत होनेसे लिंगपूजामें भी भावकी महिमाका अपूर्व विलास देखनेमें आता है। यह बात पहलेही कही गई है कि भावकी शुद्धि होनेसे अत्यन्त निन्दनीय वस्तु भी अच्छे स्वरूपमें कल्याणप्रद होकर प्रकट हो सकती है और भावकी अशुद्धि रहनेसे अच्छी वस्तु भी अपने स्वरूपसे च्युत हो जाती है। संसारमें स्त्री और पुरुष परस्पर भोग्य और भोक्ताके संबंध द्वारा बद्ध होकर अधोगतिको प्राप्त करते हैं। उनमें एकके वास्ते दूसरेका रूप और लिंगबंधनका कारण होता है और यह अभ्यास अनादि होनेसे शीघ्र छूट भी नहीं सकता है अतः अनादि संस्कारके कारण जो बात छूट नहीं सकती उसमें भावके परिवर्त्तनसे, उसके द्वारा उत्पन्न चित्तका विकार दूर कर देना, सहज उपाय

होगा अतः कार्य्यब्रह्म कारणब्रह्मका ही रूप होनेसे समस्त संसारके पुरुषोंको शिवरूप समझ कर तथा समस्त संसारकी स्त्रियोंको प्रकृतिरूप समझकर उनके लिङ्ग तथा रूपमें शिवशक्तिरूप दिव्यभावका अभिनिवेश चित्तमें उदय करके समस्त संसारको उपासनाका आधार बनानेकी यदि चेष्टा की जाय तो एतादृश भावशुद्धिकी प्रक्रिया द्वारा मायाकी मोहिनी शक्ति संसारसे नष्ट हो जायगी और स्त्री-पुरुष परस्परमें आसक्त न होकर परस्परको ही दिव्य भावसे देखकर मुक्तिपद प्राप्त करेंगे, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। लिङ्ग और लिङ्गवेदीकी पूजाके द्वारा इस भावकी प्रतिष्ठा होती है जिसके फलसे हर पार्वतीको घट घटमें आराधना करके जीव दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त तथा संसार-सिन्धुसे मुक्त हो सकता है। यही लिङ्गपूजाके मूलमें गम्भीर रहस्य है जिसको बुद्धिमान् विचार-शील उपासक ही समझ सकेंगे।

शिवोपासनामें प्रायः लिङ्गपूजाकी ही विशेषता है इस कारण लिङ्गका रहस्य कुछ कहना आवश्यक समझा गया। उसी प्रकार विष्णुकी उपासनामें जिस मूर्त्तिकी पूजा अधिक प्रचलित है उसी मनोमुग्धकारी मूर्तिका कुछ संक्षेप रहस्य भी वर्णित किया जाता है जिसका ध्यान निम्नलिखित रूप है, यथा—

उद्यत्कोटिदिवाकराभमनिशं शंखं गदां पङ्कजं
चक्रं बिभ्रतमिन्दिरावसुमतीसंशोभिपार्श्वद्वयम्।
कोटीरांगदहारकुण्डलधरं पीताम्बरं कौस्तुभो
दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्सचिन्हं भजे॥

उदय होते हुए अनेक सूर्योंके समान जो दीप्यमान हैं, शङ्ख गदा कमल और चक्रको धारण करते हैं, जिनके दोनों पार्श्वमें लक्ष्मी और वसुमती बैठी हैं, जो अंगद, हार, कुण्डल आदि भूषणोंसे भूषित हैं और पीत वस्त्र धारण किये हैं, जो कौस्तुभमणिसे सुशोभित हो रहे हैं, जिनमें सकल त्रिलोकस्थित हैं और जिनके वक्षस्थलमें श्रीवत्सचिह्न शोभा दे रहा है उनका भजन करता हूं। इस ध्यानमें विष्णुजीकी कान्ति जो कोटि सूर्यके तुल्य कही गई है इसका कारण यह है कि विष्णु सत्वगुणके अधिष्ठाता होनेके कारण चित्सत्ताके साथ विष्णुका विशेष सम्बन्ध है और चित्सत्ताका रूप शास्त्रमें कोटिसूर्यकी तरह बताया गया है। श्रीविष्णुकी अन्यान्य शरीर-शोभा तथा बहुमूल्य अलं-कार आदि ब्रह्माण्डकी स्थितिदशाके साथ उनका सम्बन्ध प्रकट करते हैं।

इससे पहले शिवमूर्तिके रहस्य वर्णन प्रसंगमें बताया गया है कि शिवभावमें तमोगुण और ब्रह्माण्डनाशका सम्बन्ध रहनेसे भुजंग, भस्म आदि शिवजीका अलङ्कार है और श्मसानवास, व्याघ्राम्बरधारण आदि भी नाशको ही सूचित करते हैं; परन्तु विष्णुमूर्तिके साथ ब्रह्माण्डकी स्थितिका सम्बन्ध होनेसे स्थितिदशाकी विलासकलासे विष्णुका शरीर अलंकृत रहता है। ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें सर्वत्र सुजला, सुफला, शस्यश्यामला वसुमती शोभायमाना रहती है और सर्वत्र ही ब्रह्माण्डकी यौवन दशा विलसित रहा करती है। यही कारण है कि विष्णुका शरीर यौवनसुलभसौन्दर्ययुक्त तथा अमूल्य रत्नयुक्त अलङ्कारोंसे और पीतवस्त्रसे सुसज्जित है और लक्ष्मी तथा वसुमती उनकी दासी रूपिणी हैं। उनके चतुर्हस्त आदि अंग प्रत्यङ्ग तथा वर्णका तात्पर्य पहलेही लिखा गया है। विष्णुमूर्तिके साथ आकाशतत्त्वका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे आकाशचर खगपति गरुड़ विष्णुका वाहन है। इन सब भावानुसार विष्णुजीकी मूर्ति बनाई जाती है।

शक्तिके रूपोंमें दुर्गा देवीका रूप माना गया है। उन्हीं दुर्गादेवीके रूपका भाव समझानेके लिये इस प्रकार समझना चाहिये कि महिषासुररूप तमोगुणको सिंहरूपी रजोगुणने परास्त किया है और ऐसे सिंहके ऊपर आरोहण की हुई सिंहवाहिनी माता दुर्गा हैं जो कि शुद्ध सत्त्वगुणमयी ब्रह्मरूपिणी सर्वव्यापिनी और दशदिग्रूपी दश हस्तोंमें शस्त्र धारण पूर्वक पूर्ण शक्तिशालिनी हैं। उनकी एक ओर बुद्धिके अधिष्ठाता गणपति तथा धनकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी देवी और दूसरी ओर बलके अधिष्ठाता कार्तिकेय तथा विद्याकी अधिष्ठात्री सरस्वती विराजमान हैं अतः बुद्धि धन विद्या और बलसंयुक्ता सर्वशक्तिमयी सगुण ब्रह्मरूपिणी दुर्गादेवी जगज्जननी महामाया हैं। प्रकृतिकी अनन्त शोभा, अनन्त विलास और दिगन्तव्यापिनी अनन्त शक्तिके अनुसारही उनकी मूर्ति बनाई जाती है और कहीं चतुर्हस्तसे, कहीं दशहस्तसे कहीं विविध अलङ्कार और अस्त्र शस्त्रोंके द्वारा विविध भावोंकी सहायतासे उनकी विभूतिका वर्णन किया जाता है। संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय विधानके लिये प्रकृतिका नाना रूपमें विकाश होता है और तदनुसार दश महाविद्या आदि अनेक भावोंमें उनका रूपवर्णन ध्यान और पूजा होती है जिसमेंसे सगुण पञ्चोपासनामें प्रचलित ध्यान यह है—

सिंहस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्या चतुर्भिर्भुजैः

शंखं चक्रधनुः शरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता।
आमुक्तांगदहारकंकणरणत्काञ्चीकणन्नूपुरा
दुर्गा दुर्गतिहीरिणी भवतु नो रत्नोल्लसत्कुण्डला॥

जो सिंहारूढ़ा है, जिसके शिरोभागमें चन्द्रमा विराजमान है, जो मरकतके समान हरितवर्णकी है, चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, धनु और शर धारण की हुई है, जो तीन नयनोंसे सुशोभित है, जो अंगद, हार, कङ्कण, काञ्ची, नूपुर इत्यादि भूषणोंसे भूषित है, ऐसी दुर्गा हम लोगोंकी दुर्गतिहारिणी हो। इस ध्यानमें पूर्ववर्णनसे जो कुछ रूपवैचित्र्य बताया गया है सो प्रकृतिकी अनन्त लीलाओंके अनुसार भाववैचित्र्यके अनुसार ही है· जिसको भावुकजन अपने हृदयके भावराज्यमें सत्य अनुभव करेंगे। यही भाववैचित्र्यके अनुसार देवीकी स्थूल मूर्तिका तात्पर्य है।

विष्णुरूपके प्रधान सात भेद, शिवरूपके प्रधान पांच भेद और शक्तिरूपके प्रधान २४ भेद तन्त्रोंमें कहे हैं, जिन २४ भेदोंमेंसे दश प्रधान भेद दश महाविद्या कहलाते हैं। उक्त दश महाविद्याओंमें कालीरूप प्रथम है। इसी कारण कालीरूपका रहस्य कुछ कहा जाता है। इसी प्रकार सब रूपोंके रहस्य विचित्रतासे पूर्ण हैं जो श्रीगुरुदीक्षासे जाने जाते हैं।

कालीरूपके विषयमें महानिर्वाण तन्त्रमें लिखा हैः—

कालसंग्रहणात्काली सर्वेषामादिरूपिणी।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते॥
त्वमेव सूक्ष्मा त्वं स्थूला व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
निराकारापि साकारा कस्त्वां वेदितुमर्हति॥
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका॥
ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं सरूपारूपभेदतः।
अरूपं तत्र यद्ध्यानं अवाङ्मनसगोचरम्॥
अव्यक्तं सर्वतो व्याप्तमिदमित्थविवर्जितम्।
अगम्यं योगिभिर्गम्यं कृच्छ्रैर्बहुसमाधिभिः॥
मनसो धारणार्थाय शीघ्रं स्वाभीष्टसिद्धये।
सूक्ष्मध्यानप्रबोधाय स्थूलं ध्यानं वदामि ते॥

अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना॥

कालके साथ सम्बन्ध तथा आदिस्वरूपा होनेसे आद्या काली यह नाम है। काली सूक्ष्मरूपा और स्थूलरूपा भी हैं, व्यक्ता तथा अव्यक्तरूपिणी, निराकारा और साकारा भी हैं। काली सबकी आदि, अनादि रूपिणी और समस्त संसारकी सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी हैं। निराकार और साकार भेदसे उनका ध्यान द्विविध है। उनके रूपरहित स्वरूपका ध्यान योगी लोग आयाससाध्य समाधि दशामें कर सकते हैं। वह स्थूल इन्द्रियोंका अगम्य, वाक्य और मनसे अतीत, अव्यक्त, सर्वव्यापी और अनिर्देश्य है। इस प्रकारके निराकार स्वरूपका ध्यान अतिकठिन होनेसे मनकी धारणा और शीघ्र अभीष्टसिद्धिके लिये सूक्ष्मध्यानमें अधिकारप्राप्तिके अर्थ स्थूल ध्यानका विधान किया जाता है। कालमाता, महाज्योतिष्मती, रूपरहिता कालिकाकी ध्यानयोग्य रूपकल्पना उनके गुण तथा सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी क्रियाओंके अनुसार होती है, यथा-महानिर्वाण तन्त्रमें—

मेघाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रक्ताम्बरं बिभ्रतीम्
पाणिभ्यामभयं वरं च विकसद्रक्तारविन्दस्थिताम्।
नृत्यन्तं पुरतो निपीय मधुरं माध्वीकमद्यं महा—
कालं वीक्ष्य विकाशिताननवरामाद्यां भजे कालिकाम्॥

जिनका अङ्ग मेघके सदृश कृष्णवर्ण है, जिनके ललाटमें चन्द्र है, जो त्रिनयना तथा रक्तवस्त्रधारिणी हैं, जिनके एक हस्तमें वर और अन्य हस्तमें अभय हैं, जो रक्त कमलपर स्थित हैं और जो मधुपानमें रत महा कालको सामने नृत्य करते हुए देख कर हास्य करती हैं, इस प्रकार आद्याशक्तिस्वरूपिणी कालीका ध्यान करें। इस ध्यानमें वर्णित रूपोंके निम्नलिखित भाव महानिर्वाण तन्त्रमें—

श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते।
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे॥
अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः।
हिताय प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूपितः॥

नित्यायाः कालरूपाया अव्ययाया शिवात्मनः ।
अमृतत्वाल्ललाटेऽस्याः शशिचिन्हं निरूपितम् ॥
शशिसूर्याऽग्निभिर्नित्यैरखिलं कालिका जगत् ।
सम्पश्यति यतस्तस्मात्कलितं नयनत्रयम् ॥
ग्रसनात्सर्वसत्त्वानां कालदन्तेन चर्वणात् ।
तद्रक्तवासोरूपेण भावितं सकलं जगत् ॥
समये समये जीवरक्षणं विपदः शिवे ।
प्रेरणं सर्वकार्येषु वरश्चाऽभयमीरितम् ॥
रजोजनितविश्वानि विष्टभ्य परितिष्ठति ।
अतो हि कथितं भद्रे रक्तपद्मासनस्थिता ॥
क्रीडन्तं कालिकं कालं पीत्वा मोहमयीं सुराम् ।
पश्यन्ती चिन्मयी देवी सर्वसाक्षिस्वरूपिणी ॥
एवं गुणानुसारेण रूपाणि विविधानि च ।
कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम् ॥

जिस प्रकार श्वेत, पीत आदि सभी वर्ण कृष्णवर्णमें लय हो जाते हैं उसी प्रकार महाशक्तिरूपिणी कालीके गर्भमें सभी जीव लयप्राप्त होते हैं इसी भावको प्रकट करनेके लिये कालीका वर्ण कृष्ण निरूपित किया गया है। नित्या, कालरूपा, अव्यया और शिवात्मारूपिणी माताके अमृतरूपा होनेसे सुधाधार चन्द्रका चिन्ह ललाटमें रक्खा गया है। शशि, सूर्य अग्निरूपी त्रिनेत्रके द्वारा प्रकृतिमाता विश्व-संसारका निरीक्षण करती हैं इसलिये उनके तीन नेत्र हैं। समस्त जीवको काली ग्रास करती हैं और कालदन्तसे चर्वण करती हैं इसलिये ग्रस्त जीवोंकी रक्तराशि ही उनका वस्त्ररूप है। समय समयपर विपत्तियोंसे जीवोंकी रक्षा तथा सकल कार्यप्रेरणाके कारण वर और अभय उनके हस्तमें हैं। रजोगुणसे उत्पन्न विश्वको आवृत करके विराजमान रहती हैं इसलिये माता रक्तपद्मासनस्था करके वर्णित की गई हैं मोहमयी मदिराको पान करके काल नृत्य करता है और चिन्मयी माता साक्षीरूपसे कालकी लीलाको देख हास्य करती हैं यही उनके हास्यमय मुखविकाशका कारण है। इस प्रकारसे साधारण अधिकारीके कल्याणके लिये गुणोंके अनुसार जगज्जननी प्रकृतिकी विविध रूप कल्पना की गई है। भावान्तर-में कालीको मुण्डमालिनी, दिगम्बरी, मुक्तकेशी, करालवदनी, पीनोन्नतपयोधरा,

चतुर्हस्ता, शवरूपमहादेवके उपरिभाग स्थित महाकालके साथ विपरीतरता-तुरा बताया गया है, जिसके अनुसार ध्यान है:—

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम्।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम्॥
महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बरीम्।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम्॥
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराभिः स्फुरिताननाम्।
घोररावां महारौद्रीं श्मसानालयवासिनीम्॥
बालार्कमण्डलाकारां लोचनत्रितयान्विताम्।
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु भयानकाम्॥
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम्।
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकचोचयाम्॥
शवरूपमहादेवहृदयोपरिसंस्थिताम्।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम्॥
एवं सचिन्तयेत् कालीं सर्वकामार्थसिद्धिदाम्॥

इस ध्यानमें कालीकी सृष्टिस्थितिसंहारकारिणी तथा परमपदप्रदायिनी महाशक्तिके भावका वर्णन किया गया है। उनका करालवदन, मुण्डमालाभूषण, घोरदन्त, रक्ताक्त मुखमण्डल, भीषण रव, रौद्री मूर्त्ति, श्मसानालयनिवास, चतुर्दिशाओंमें शिवा आदिकी भीषण ध्वनिसे उत्पन्न भयानक भाव आदि समस्तही उनकी संहार मूर्तिको प्रकट करता है। संसारमें धर्मकी रक्षाके हेतु असुरनाशकारिणी तथा युगान्तमें प्रलयकारिणी श्यामा ऐसे ही रूपसे संहार करती हैं। पक्षान्तरमें उनका पीनोन्नतपयोधर, मुक्तकेश, सुखप्रसन्नवदन; हास्यमय मुखपङ्कज, वराभयकर स्थिति और मुक्ति प्रदानके भावकी सूचना करता है। आद्या शक्ति समस्त संसारकी जननी और पालनकर्त्री है इसलिये पीनोन्नतपयोधरा स्थूलस्तनी है। उनका प्रसन्नवदन भी स्नेहमयी माताके वात्सल्यभावको सूचना करता है। उनके हस्तकी वरमुद्रा जगत्पालनशीलता परिचय प्रदान करती है और अभयमुद्रा भवभयनाशकारिणी मुक्तिप्रदान-शक्ति-सूचना करती है। उनका हास्यमय मुखपङ्कज मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें सात्त्विक प्रकृतिका ज्योतिर्मय, प्रफुल्लतामय मधुर विकाश है। उनका दिगम्बर रूप मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें अनादि अनन्त प्रकृतिका देशकालानवच्छिन्न व्यापक स्वरूप है।

आद्याशक्ति मुक्तकेशी क्यों है ? संसारका मायाजाल ही उनका केशपाश है जो महामायाके पृष्ठपर सुशोभित रहता है। केशसमूह चञ्चल है इसलिये माया-मुग्ध जीव सदा ही चंचल और परिणामस्वभाव हैं। पक्षान्तरमें मुक्तात्मागण मायामें बद्ध और चंचल न होकर स्थिर रहते हैं इसलिये आद्याशक्ति मुक्तपुरुषोंके लिये मुक्तकेशी अर्थात् मुक्तबन्धना है। यह उनके मुक्तकेशी होनेका तात्पर्य है। सद्भाव और चिद्भावके ओतप्रोत विकाशके द्वारा ही विश्व संसारकी स्थिति बनी रहती है। उनमेंसे चिद्भावके ज्ञान प्रधान होनेके कारण उसमें क्रियाशक्तिका अभाव है। परन्तु सद्भावमें क्रियाशक्तिका आधिक्य है। सृष्टि स्थिति संसार दशामें क्रियाका प्राधान्य रहनेसे सद्भाव मुख्य रहता है और चिद्भावकी गौणता रहती है। चिद्भावके केवल ईक्षण मात्रसे ही सद्भावमें क्रिया होती है। यही कारण है कि प्रकृतिकी संसारलीलामें चिद्भावप्रधान शिव शवरूप होकर उनके चरणतलमें पड़े हुए केवल ईक्षणमात्र कर रहे हैं और सद्भावमयी आद्याशक्ति काली रणरङ्गिणी होकर क्रियाशक्तिका अपूर्व विलास दिखा रही है, पक्षांतरमें मुक्तात्माकी प्रकृति अपने वेगानुसार स्वयं ही कार्य करती है, उसमें मुक्तात्माकी इच्छा या प्रेरणाकी अपेक्षा नहीं रहती है इसी भावको प्रकट करनेके लिये मुक्तात्मा शिव प्रकृतिरूपिणी कालीके चरणतलमें शवरूप होकर सोये हुए हैं और विराट् प्रकृति उसके ऊपर विराजमान होकर अनंत लीलाओंको दिखा रही है। प्रलय दशाके अनन्तर विराट् प्रकृतिके गर्भमें विलीन अनन्त जीवसंस्कारराशि जिस समय क्रियोन्मुख होती है उसी समय निर्गुण भावापन्न परमात्मामें सगुण भावका उदय होता है। परब्रह्मके निष्क्रिय और इच्छारहित होनेसे उनकी तरफसे कोई भी स्वतः प्रेरणा सृष्टिके लिये नहीं होती है। प्रकृतिकी ही समष्टि जीव-संस्कारानुसार प्रेरणा स्त्री-पुरुषभावरहित नपुंसक ब्रह्ममें सृष्टिकारी पुंभावका विकाश कर देती है। अतः सृष्टिकार्यमें प्रकृति ही प्रधाना है और ईश्वरकी अप्रधानता है। इसी भावको मुख्य रखकर श्रीगीताजीमें वर्णन है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं और विकार और गुणसमूह

प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। प्रकृति ही कार्य और कारणकी हेतुरूपिणी और पुरुष सुखदुःख भोगके हेतु हैं। अध्यात्म रामायणमें लिखा है—

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्याकाङ्क्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित्।
आनन्दमूर्तिरमया परिणामहीनो-
मायागुणाननुगता हि तथा विभाति॥

परमात्मामें गमन, अनुशोचन, आकाङ्क्षा, त्याग आदि क्रियाका कोई भी लक्षण नहीं है, मायाके द्वारा परिणाम भी उनमें नहीं होता है, केवल त्रिगुणमयी मायाके गुणानुसार तत्तद्भावापन्न प्रतीत मात्र होते हैं। वास्तवमें माया ही सृष्टि स्थिति संहार कार्यको गुणपरिणामानुसार करती रहती है। अर्थात् शिव परमब्रह्म निष्क्रिय हैं। प्रकृतिकी इस प्रकार प्रधानता और पुरुषकी गौणता बतानेके अर्थही कालीको महाकालके साथ विपरीतरतातुरा कहा गया है; जिसमें शिव शवरूप होकर नीचे विराजमान हैं और आद्याशक्ति महाकालके ऊपर चढ़कर समस्त क्रियाओंको कर रही है। पक्षान्तरमें विपरीतरति मोक्ष प्रदानकारी भावकी सूचना करती है, क्योंकि यह बात विज्ञानसिद्ध है कि जब शिवसत्ताके प्रकृतिके भीतर जानेसे संसारकी उत्पत्ति होती है तो प्रकृतिसत्ताके शिवके भीतर प्रवेश करनेसे संसारका लय हो जायगा। इसलिये मुक्त पुरुष अपनी प्रकृतिको अपने भीतर लय करके ही विदेहमुक्ति लाभ कर सकते हैं। प्रकृतिकी विपरीत रतिमें प्रकृति महाकालपर लीला करती हुई अन्तमें महाकालमें ही लय हो जाती है जिससे संसारमें जीवको मुक्तिपद प्राप्त हो जाता है। यही विपरीतरतिका मोक्षप्रद अध्यात्म भाव है और अन्यान्य शास्त्रोंमें दूसरे रहस्य भी ऐसे वर्णित हैं कि सदा शिवरूपी परब्रह्म निष्क्रिय अर्थात् तत्त्वातीत होकर शवरूप प्रतीयमान होते हैं और सर्वशक्तिमयी महामाया काली महाकालको अपने अधीन करके विपरीतरतारूपसे महाकालके आनन्दको देखती हुई ब्रह्माण्डकी सृष्टि स्थिति लयमें स्वयं ही प्रवृत्त है। यह कार्यब्रह्मका दृश्य है जो निर्गुण चिन्मय ब्रह्ममें भासमान होता है अतः इसी प्रकार देवीमूर्तिके सब भावोंपर विचार करनेसे सिद्धांत होगा कि उनकी सारी मूर्ति गुणक्रियानुसार अनन्त भावोंका ही विकाश मात्र है।

भगवान् सूर्यके रूपके विषयमें योगशास्त्रमें ध्यान है, यथा—

भास्वद्रत्नाऽऽढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा रञ्जितश्चारुकेशो,

भास्वान् यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः।
विश्वाकाशावकाशे ग्रहगणसहितो भाति यश्चोदयाद्रौ,
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरहृदयः पातु मां विश्वचक्षुः॥

उत्तम रत्नसमूह जिनके मस्तकको शोभा दे रहे हैं, जो चमकते हुए अधर ओष्ठकी कान्तिसे शोभित हो रहे हैं, जिनके सुन्दर केश हैं, जो दीप्तिमान् अलौकिक तेजसे युक्त हैं जिनके हस्तोंमें कमल हैं; जो प्रभाके द्वारा स्वर्णवर्ण हैं, ग्रहवृन्दके सहित आकाश देशमें उदय पर्वत पर शोभा पाते हैं. जिनसे समस्त मानवलोग आनन्द प्राप्त करते हैं, हरि और हर जिनके हृदयमें स्थित हैं, ऐसे विश्वचक्षु भगवान् सूर्यदेव मेरी रक्षा करें। इस ध्यानमें सारे रूपोंके द्वारा ब्रह्मके ज्योतिर्मय प्रभावका वर्णन किया गया है। श्रीपरमात्मा सूर्यात्मा-रूपसे सूर्यमें विराजमान हैं और उनको परम ज्योतिका स्थूल दृश्य सूर्य है। इसी भावको प्रकट करनेके अर्थही सूर्यध्यानमें इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपका वर्णन किया गया है। सूर्यकिरणमें हरित, पीत, लाल, नील आदि सप्तवर्णोंके मेलसे ही सूर्यकिरण श्वेतवर्ण है इसलिये सप्तवर्णोंके रूपसे सप्त अश्वको सूर्यका वाहन कहा है क्योंकि ज्योतिर्मय कारणब्रह्मसे जब कार्यब्रह्म-का आविर्भाव होगा उस समय सप्त रंगही प्रथम परिणाम होता है इस कारण व्यक्त अवस्थाका प्रकाशक वाहन और अव्यक्तरूपी ज्योतिर्मय सगुण ब्रह्मका प्रकाशक सूर्यध्यान है और हाथका कमल मुक्तिका प्रकाशक है, अर्थात् जीवको मुक्ति देना जिसके हाथमें है। अरुणका उदय सूर्योदयसे पूर्व होता है इसलिये सप्ताश्ववाही रथके सारथि सूर्यके सन्मुख विराजमान अरुण हैं। इसी प्रकारसे सूर्य भगवान्‌की मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा ज्योतिःपूर्ण भावोंके अनुसार की गई है।

शास्त्रमें गणपतिकी मूर्त्तिके विषयमें निम्नलिखित ध्यान बताया गया है-

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लंबोदरं सुन्दरं,
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं,
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कर्म्मसु॥

जिनकी आकृति खर्व है, शरीर स्थूल है, मुख गजेन्द्रका है, उदर विशाल है, जो सुन्दर है, जिनके गण्डस्थलसे मदधारा प्रवाहित हो रही है और भ्रमरगण गन्धलोभसे चञ्चल होकर गण्डस्थलमें एकत्रित हो रहे हैं, जिन्होंने

अपने दन्तोंके आघातसे शत्रुओंको विदीर्ण करके उनके रुधिरसे सिन्दूर-शोभाको धारण किया है और जो समस्त कर्मोंमें सिद्धि प्रदान करते हैं ऐसे पार्वतीपुत्र गणेशजीको नमस्कार है। शास्त्रमें गणपतिको ब्रह्माण्डके सात्त्विक सुबुद्धि राज्यपर अधिष्ठात्री देवता कहा गया है, यथा—

बुद्धिर्गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवो ममात्मा मम शक्तिराद्या।
विभेदबुद्ध्या मयि ये भजन्ति मामङ्गहीनं कलयन्ति मूढाः॥

गणपति परमात्माके बुद्धिरूप हैं, सूर्य्य चक्षुरूप हैं, शिव आत्मारूप और आद्या प्रकृति जगदम्बा शक्तिरूप हैं। जो मूढ़ इस रहस्यको न जानकर भेदबुद्धिसे मेरी भजना करता है वह मुझे अङ्गहीन करता है। इस श्लोकमें गणपति श्रीभगवान्की बुद्धिरूपसे वर्णित किये गये हैं। गायत्रीमें जोः—

"धियो यो नः प्रचोदयात्"

कहकर बुद्धिके प्रेरकरूपसे परमात्माका ध्यान किया गया है उसी भावसे गणपतिका सम्बन्ध है।

गणपतिके ध्यानमें जिस प्रकार रूप बताया गया है तदनुसार भावोंपर संयम कर देखनेसे साधकको ज्ञात होगा कि ब्रह्माण्डव्यापिनी सुबुद्धिके अधिष्ठातृत्व विचारसेही ऐसा रूप बताया गया है। जो बुद्धि अद्वैतमय परमात्मामें समस्त संसार-प्रपञ्चका विस्तार करे वह कुबुद्धि है और जो बुद्धि संसारकी द्वैतताको नष्ट करके अद्वितीय ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा करे वही सुबुद्धि है। गणेशजी सुबुद्धिके देवता होनेके कारण खर्वकाय और स्थूलतनु हैं। सुबुद्धिके द्वारा मायामय संसारप्रपंचका विस्तार खर्व होकर अद्वितीय भावमें लवलीन होता है इसलिये गणेशजी खर्वकाय हैं। सुबुद्धि भीतरसे पुष्ट होती है तथा सारसे युक्त होती है इसलिये गणेशजी स्थूलतनु हैं। गणेशजीके स्कन्धपर हस्तीका मुण्ड होनेका हेतु बहुत गूढ़ है। समस्त देवता प्रकृतिके भिन्न भिन्न राज्यपर विराजमान चेतन सञ्चालक-शक्ति होनेके कारण दैवीप्रकृतिसे लेकर मनुष्य तथा पश्वादि प्रकृति पर्यन्त देवताओंका सम्बन्ध रहता है। उसी सम्बन्धके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकृतिके पशुओंको तथा पक्षियोंको कहीं वाहनरूपसे, कहीं शरीरके सम्बन्धसे उन देवताओंके मूर्त्तिस्थापनमें वर्णन किया गया है। उदाहरण स्थलपर शीतलादेवीको समझ सकते हैं। प्रकृतिके जिस अङ्गके साथ चेचक रोगका सम्बन्ध है उस प्रकृतिकी अधिष्ठात्री देवी शीतला है और उस दैवी प्रकृतिसे ठीक

समभावापन्न पाशविक प्रकृतिमें गर्दभकी योनि है। इसी सम्बन्धके कारण ही शीतला खरवाहिनी है। खरकी प्रकृति दैवराज्यमें शीतलासे सम्बन्ध रखनेके कारण जिस प्रकार शीतलाके पूजन द्वारा देशव्यापी चेचकरोग शान्त होता है, उसी प्रकार खरविष्ठाका धूम लगानेसे भी और खरके साथ एक स्थान पर रहनेसे भी चेचक रोगमें बहुत शीघ्र आरोग्यलाभ होता है। अन्यान्य अनेक देवदेवियोंके पशुपक्षी आदि विविध प्रकारके वाहन होनेके मूलमें भी यही विज्ञान निहित है। इस विज्ञानके अनुसार विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि जिस प्रकृतिके अधिष्ठाता गणपति देव हैं उसी प्रकृतिसे समभावापन्न पाशविक प्रकृति बुद्धिराज्यमें हस्तीकी है और इसलिये समस्त पशुओंमें हस्तीकी बुद्धि तीक्ष्णतम है। अतः इस प्रकार प्रकृतिकी एकता होनेके कारणही बुद्धिराज्यके अधिष्ठाता गणेशजी गजेन्द्रवदन हैं; परन्तु गजेन्द्रवदन होनेपर भी दो दन्त न होकर गणेशजीका जो एकही दन्त है इसका कारण यह है कि गणेशजी सुबुद्धिके देवता हैं कुबुद्धिके नहीं; क्योंकि कुबुद्धि चित्तवृत्तिको एकसे अनेककी ओर प्रवाहित करती है और सुबुद्धि सर्वदा अद्वितीयताकी ओर ही जीवको उन्मुख करती है। इसी अद्वैत भावके कारण गणपति एकदेश्वर कहलाते हैं। गणेशजीका लम्बोदर, सुबुद्धिकी गँभीरता सूचक है। द्वैतभावमें प्रपञ्चका विस्तार है परन्तु गाम्भीर्य नहीं है और सुबुद्धिपरिणामी अद्वैत भावमें प्रपञ्चका विस्तार नहीं है परन्तु भावकी गंभीरता है, यही लम्बोदर होनेका तात्पर्य है। गजेन्द्रवदनका मदस्राव सुबुद्धिमथित ज्ञानामृत है जिसके पान करनेके लिये मुमुक्षु मधुकर सदाही व्यग्र रहते हैं। इसी भावका—

"प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्"

यह ध्यान बताया गया है। सुबुद्धिका जो अद्वैत भावमय अमोघ अस्त्र है उसके द्वारा प्रपञ्चपरिणामिनी मायाकी तामसिक आसुरी शक्तियोंका समूल नाश हो जाता है। इसी भावको प्रकट करनेके लिये कहा गया है कि गणेशजीने दन्तके आघातसे समस्त शत्रुओंको मार दिया है। जहांपर सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण तथा तमोगुण नष्ट हो जाते हैं वहांपर रजोगुणकी तमोगुणके साथ तुलनामें सत्त्वगुणकी माधुरी और भी बढ़ने लगती है इसलिये दन्ताघातसे विनष्ट असुरोंकी रुधिर धाराके द्वारा गणपतिकी शोभा वृद्धिगत हुई है ऐसा वर्णन

किया गया है। शैलसुता जगज्जननी आद्या प्रकृति है उसी प्रकृतिके सात्त्विक विद्याभावसे सुबुद्धिकी उत्पति होती है इसलिये गणपति शैलसुतासुत हैं। सुबुद्धिकी सहायतासे सकल कार्यमें सिद्धि प्राप्त होती है इसलिये गणेशजी सिद्धिदाता करके वर्णन किये गये हैं। गणेशजीका वाहन मूषक कुतर्कका रूप है। जिस प्रकार किसी वस्तुका मूल्य और आवश्यकता न समझकर सभीको काट देना मूषकका स्वभाव है, उसी प्रकार कुतर्कीका भी स्वभाव यह है कि किसी विज्ञान या शास्त्रकी गम्भीरताको न समझकर सबका खण्डन कर देवे। सुबुद्धि इस प्रकार कुतर्कको दबा रखती है प्रबल होने नहीं देती है इसलिये कुतर्क-रूपी मूषकको सुबुद्धिके देवता गणपतिजीने वाहनरूपसे दबा रक्खा है। गणपतिका शरीर इतना बड़ा है परन्तु उनके वाहन मूषकका शरीर इतना छोटा है, इसका तात्पर्य यह है कि गम्भीर विचारके द्वारा भगवद्विज्ञानके विषयमें तर्ककी अप्रयोजनीयता और निरर्थकता जितनीही मनुष्यको मालूम होती है उतनीही उसमें कुतर्कबुद्धिकी कमी और सुबुद्धिकी वृद्धि हुआ करती है। शास्त्रमें लिखा है—

"नैषा मतिस्तर्केणापनेया"

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्"

भगवद्विषयिणी बुद्धि तर्कके द्वारा नहीं प्राप्त होती है, जो चिन्तासे अतीत भावसमूह हैं उन्हें तर्कके द्वारा प्राप्त करनेकी स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार विचार तथा शास्त्र प्रमाणद्वारा जितनी सुबुद्धि-सुलभ श्रद्धा भक्ति आदि वृद्धिगत होती है उतनीही चित्तमेंसे तर्कबुद्धि कम होती जाती है। इसलिये सुबुद्धिके सञ्चालक गणेशजी जितने बृहत्कार्य हैं, कुतर्करूपी मूषिक भी इतना ही क्षुद्रकाय है, ऐसा भाव उक्त प्रकारके रूपके द्वारा प्रकट किया गया है। यही सब प्रकृतिलीलाजनित भावानुसार गणपतिके रूप-वर्णनका तात्पर्य है।

इस पूर्वकथित सगुण पञ्चोपासनाके विष्णु, शिव, देवी, सूर्य और गणपति, इन पांचों सगुण परब्रह्मके जो प्रचलित रूप हैं उन्हींको सम्मुख रखकर मन्त्रयोगके अनुसार आध्यात्मिक रहस्यका कुछ दिग्दर्शन करनेका यत्न किया गया है। गुरुभक्तिपरायण और शास्त्रज्ञ शिष्य अपनी अपनी इष्ट मूर्तिका रहस्य इसी प्रकारसे समझनेमें समर्थ होते हैं। यह सब अतिगूढ़ विषय है। परमात्मा एक, अद्वितीय, निराकार और सर्वव्यापक होनेपर भी किस प्रकारसे पञ्च सगुणरूपमें प्रकट होते हैं उसके लिये शास्त्रका एक प्रमाण दिया जाता है, यथा—

विष्णुश्चिता यस्तु सता शिवः सन्
स्वतेजसार्कः स्वधिया गणेशः।
देवी स्वशक्त्या कुशलं विधत्ते
कस्मैचिदस्मै प्रणतिः सदास्ताम्॥

जो परमात्मा चित् भावसे विष्णुरूप होकर, सत् भावसे शिवरूप होकर, तेजरूपसे सूर्यरूप होकर, बुद्धिरूपसे गणेशरूप होकर और शक्तिरूपसे देवीरूप होकर जगत्का कल्याण करते हैं ऐसे परब्रह्मको नमस्कार, है। तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्दमय, मन वाक् बुद्धिसे अतीत, निराकार, निष्क्रिय, तत्त्वातीत, निर्गुण पद कुछ और हा है। वह निर्गुण परब्रह्म भाव जब सगुण रूपसे उपासक भक्तके सम्मुख ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटिके सम्बन्धसे आविर्भूत होता है तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलम्बन या तो चित्भावमय होगा, या सद्भावमय होगा या तेजोमय होगा, या बुद्धिमय होगा, या शक्तिमय होगा। चिद्भावका अवलम्बन करके जो भावना चलेगी वह विष्णुरूपमें परिणत होगी, जो सद्भावका अवलम्बन करके चलेगी वह शिवरूपमें परिणत होगी, जो दिव्य तेजोभावको अवलम्बन करके चलेगी वह सूर्यरूपमें परिणत होगी, जो विशुद्ध बुद्धि भावको अवलम्बन करके अग्रसर होगी वह गणपतिरूपमें परिणत होगी और जो अलौकिक अनन्तशक्तिका अवलम्बन करके अग्रसर होगी वह देवीके रूपमें परिणत होगी। पांचों रूपही सगुण ब्रह्मके परिचायक होते हुए पाँचो भावोंके अवलम्बनसे पञ्चधा बन गये हैं।

अब वैदिक कर्मकाण्डके प्रधान देवता अग्निदेवके. रूपका कुछ वर्णन करके इस रूपरहस्य वर्णनको समाप्त किया जाता है।

अग्निदेवके ध्यानवर्णन प्रसङ्गमें श्रुतिने कहा है—

'ओं चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश॥'

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार जिसके शृङ्ग हैं, भूत भविष्यत् वर्त्तमान ये तीन जिसके चरण हैं; नित्यशब्द और कार्यशब्द जिसके दो मस्तक हैं, प्रथमासे सप्तमी पर्यन्त सात विभक्ति जिसके सात हस्त हैं, हृदय कण्ठ और मस्तकमें जो अग्नि बद्ध रहता है, जो साधकोंके सम्पूर्ण मनोरथकी वृष्टि करनेवाला है, वही शब्दब्रह्मरूप महान्देव स्वरवर्ण-

त्मक शब्दसमूहका आविर्भाव करके मनुष्यदेहमें परिव्याप्त है। इस मन्त्रके द्वारा वेदमें सिद्ध किया गया है कि गुण और क्रियाके भावानुसार ही अग्नि देवताकी स्थूल मूर्तिकी प्रतिमा की जाती है। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंकी अनेक मूर्तियाँ जो वेद स्मृति, पुराणादि शास्त्रमें बहुधा प्राप्त होती हैं उनपर भी विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि अनादि अनन्त प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंकी संचालनक्रियाके अनुसार ही इन सब देव और देवियोंकी मूर्तियां बनी हुई हैं अतः जो पहले कहा गया था कि रूप भावका ही विकाशमात्र है और प्रतिमापूजनमें परिकल्पित समस्त मूर्तियां भावानुसार ही प्रतिष्ठित की जाती हैं सो उपर्युक्त मूर्तिविज्ञान प्रसंगोंके द्वारा सम्यक् प्रमाणित हो गया।

ऊपर जितनी मूर्तियोंका वर्णन किया गया है उनमेंसे विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणपतिकी पञ्चमूर्त्ति सगुण पञ्चोपासना रूपसे मन्त्रयोगमें विहित की गई है। यह पञ्चमूर्त्ति देवताओंकी मूर्ति नहीं है परंतु सगुण ब्रह्म ईश्वरकी ही पञ्चतत्त्वभेदानुसार पञ्चमूर्त्ति है, यथा–योगशास्त्रमें:—

"उपासनं पञ्चविधं ब्रह्मोपासनमेव तत्"

सगुण ब्रह्मोपासनामें विहित गणपति, सूर्य, शक्ति आदि सामान्य देव देवियां नहीं हैं परन्तु सगुण ब्रह्म ईश्वरके ही सब रूप हैं, यथा योगशास्त्रमें—

प्रकृतेः पर एवान्यः स नरः पञ्चविंशकः ।
तस्येमानि च भूतानि तेन नारायणः स्मृतः ॥
सविता सर्वभूतानां सर्वान् भावान् प्रसूयते ।
सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥
ब्रह्माण्डमूलभूता या पूजिता देवतागणैः ।
ईशनात्सर्वलोकस्य मता सा वै महेश्वरी ॥
गुणत्रयेश्वरोऽतीततत्त्वोऽव्यक्तः सुनिर्मलः ।
गणानामीश्वरो यस्मात्तस्माद्व गणपतिर्मतः ॥
ब्रह्मादीनां सुराणां च मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
तेषां महत्त्वाद्देवोऽयं महादेवः प्रकीर्तितः ॥

देवपञ्चकमित्याहुरेकं देवं सुधीवराः।
एकमेव परं ब्रह्म परमात्मपराऽभिधम् ॥

जो पुरुष प्रकृतिसे अतीत और पच्चीसवां तत्त्व है, यह सम्पूर्ण चराचर जगत् जिसके अधीन है उसको नारायण कहते हैं। जो सम्पूर्ण प्राणी और समस्त पदार्थोंको उत्पन्न करता है और जगत्को पवित्र करता है उसे सूर्य कहते हैं। जो इस ब्रह्माण्डको मूलस्वरूपा है, जिसकी देवतागण पूजा किया करते हैं, जो जगत्की ईश्वरी है, उसे महेश्वरी कहते हैं। जो त्रिगुणका स्वामी है, तत्त्वातीत अव्यक्त और नितान्त निर्मल है और जो गुणोंका प्रभु है गणपति कहा जाता है। ब्रह्मादि देवतागण, मुनि और ब्रह्मवादियोंमें जो सबसे महान् है उस देवको महादेव कहते है। इस प्रकार एक ही परमात्मा ईश्वरके पञ्चदेवरूप पाँच भेद पूज्यपाद महर्षियोंने किये हैं; परन्तु एक ईश्वरकी इस प्रकारसे पञ्चमूर्त्ति बनाकर पञ्चोपासनाके विधान करनेकी प्रयोजन क्या है ? इसके उत्तरमें योगशास्त्रमें लिखा है—

मानवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्त्तिताः।
यतो निरूप्यते सर्गः पंचभूतात्मको बुधैः ॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात्।
तथापि पंचतत्त्वानामनुसारेण तत्त्ववित् ॥
प्रत्येकतत्त्वप्राचुर्य्यंविमृश्य विधिपूर्वकम्।
उपासनाधिकारस्य पंचभेद वर्णयत् ॥

क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योम इन पंच तत्त्वोंके द्वारा समस्त सृष्टि उत्पन्न होनेसे तत्त्वोंके अनुसार मनुष्य प्रकृति भी पांच प्रकारकी होती है। यद्यपि प्राकृतिक वैचित्र्यके कारण सब मनुष्योंकी प्रकृतिमें कुछ न कुछ भेद रहता है परंतु आकाश आदि पंचतत्त्वके अनुसार प्रत्येक तत्त्वकी अधिकता-के विचारसे मनुष्यके उपासनाधिकारको महर्षियोंने पांच भेदमें वर्णन किया है। संसारमें प्रायः ऐसा देखा जाता है कि बालकपनसे प्रत्येक मनुष्यकी किसी न किसी भिन्न भिन्न देवतामें स्वाभाविक रुचि रहती है। बालकपनसे ही स्वभावतः किसीको शिवजी अच्छे लगते हैं, किसीको विष्णुजी या कृष्णजी अच्छे लगते हैं, किसीको दुर्गाजी या कालीजी अच्छी लगती हैं इत्यादि। इस प्रकार बालकपनसे ही भिन्न भिन्न उपास्यदेवमें स्वाभाविकी रुचि होनेका कारण

प्रकृति वैचित्र्य ही है; इसी वैचित्र्यके अनुसार ही एक ईश्वरकी पांच मूर्त्ति विहित की गई हैं । अर्थात् जिस तत्त्वके साथ जिस मूर्तिका अधिदैव सम्बन्ध है उस तत्त्वप्रधान प्रकृतियुक्त साधकके लिये वही मूर्ति ध्यानयोग्य बताई है; क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल इष्टदेव मूर्ति होनेसे उसमें अनायास ही साधकका चित्त आकृष्ट और एकाग्र होगा जिससे ध्यानयोगमें विशेष लाभ हो सकेगा । तत्त्वोंके साथ पंचदेवोंका सम्बन्ध निम्नलिखित रूपसे मन्त्रयोग संहिता तथा कापिल तन्त्रमें वर्णन किया गया है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥
गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम् ।
परीक्ष्य कुर्युः शिष्याणामधिकारविनिर्णयम् ॥
ऋतम्भरधिया ज्योतिःस्वरोदयसहायतः ।
उपासनाधिकारो वै निर्णेतुं शक्यते ध्रुवम् ॥
चित्तसंवेगवैराग्यधारणादिविनिर्णयम् ।
परीक्ष्य चाऽस्यान्तरिकान् भावांच्छिष्यस्य योगवित् ॥
तत्सम्प्रदायनियमं तेषां प्रकृतिसन्निभम् ।
करोति जीवकल्याणकल्पनाकलितान्तरः ॥

आकाशतत्त्वके अधिपति विष्णु हैं, अग्नितत्त्वकी अधिपति महेश्वरी हैं, वायुतत्त्वके सूर्य, पृथिवी तत्त्वके शिव और जलतत्त्वके गणेश हैं । योगमें पारदर्शी गुरुदेव शिष्यकी प्रकृति तत्त्वानुसार निर्णय करके उसके उपासनाधिकार अर्थात् इष्टदेवका निर्णय कर देवें । ऋतम्भरा प्रज्ञा, स्वरोदय अथवा ज्योतिष, इन तीनोंकी सहायतासे उपासनाधिकार निर्णय किया जा सकता है । ऋतम्भरा प्रज्ञायुक्त योगी साधकको देखते ही कह सकते हैं कि उसमें कौन तत्त्व प्रधान है और तदनुसार कौन इष्टदेव होना चाहिये । यदि गुरुमें ऐसा उच्चाधिकार न हो तो स्वरोदय प्रक्रियाके द्वारा भी तत्त्वका पता लग सकता है, यदि ऐसा भी न हो सके तो कुलाकुलचक्र, राशिचक्र आदि ज्योतिष चक्रोंकी सहायतासे भी तत्त्वनिर्णय और उपास्य निर्वाचन किया जा सकता है । इस प्रकारसे तत्त्वोंके अनुसार उपासनाधिकार निर्णय होनेके अनन्तर शिष्यके आन्तरिक भावोंकी परीक्षा द्वारा और उसके चित्तसंवेग, वैराग्य धारणा आदिके निर्णय द्वारा

प्रकृतिके अनुसार उसके सम्प्रदाय और ध्येयरूपविशेषके निर्णय करनेसे साधकका कल्याण होता है।

उपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञान द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि आजकल इन पञ्चमूर्तियोंको लेकर जो साम्प्रदायिक विरोध उत्पन्न हुआ है सो सर्वथा निर्मूल और अज्ञानकाही फल है। जब पञ्चदेवता एकही ईश्वरके रूप हैं, भिन्न भिन्न देवता नहीं हैं. केवल साधकके कल्याणार्थ ही तत्त्वानुसार एकको पांच रूपमें बताया गया है, तो शिव विष्णुसे बड़े हैं, विष्णु शिवसे बड़े हैं इत्यादि रूपसे भेद मानकर जो साम्प्रदायिक लोग झगड़ा करते हैं सो सर्वथा व्यर्थ है। यह विवाद यहां तक बढ़ गया है कि एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायके नामसे चिढ़ते हैं, उनके इष्टदेवका नाम लेना भी पाप समझते हैं, एक दूसरेके मन्दिरमें नहीं जाते हैं और कहीं कहीं जाने भी नहीं देते हैं, परस्परके चित्तमें घोर ईर्षानल प्रज्वलित रहता है जिसके फलसे इन सब सम्प्रदायोंमें आजकल धर्मके बदले अधर्मकी ही उत्पत्ति हो रही है। अतः पञ्चोपासना-सम्प्रदायोंके आचार्योंका कर्त्तव्य है कि उपरोक्त पञ्चोपासनाविज्ञानको भली भांति हृदयङ्गम करके अपने अपने चित्तमें शान्ति धारण करें और अपने शिष्यवर्गको भी इसका तत्त्व ठीक ठीक समझाकर शान्तिमय साधनपथमें अग्रसर करें तभी भारतका यथार्थ कल्याण होगा। पञ्चदेवोपासनामें प्रत्येक मूर्ति ही जगत्कारण ईश्वरकी मूर्ति होनेके कारण इन उपासनाओंके भावप्रकाशक शिवपुराण, विष्णुपुराण, गणेशपुराण आदि पञ्चपुराणोंमें शिव विष्णु आदि पञ्चमूर्तिको जगदादिकारण, जगद्योनि, सर्वशक्तिमान ईश्वररूपसे वर्णन किया गया है, यथा—शिवपुराणमें शिव ही परमात्मा हैं और ब्रह्मा विष्णु आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं, विष्णुपुराणमें विष्णु ही परमात्मा है और शिव ब्रह्मा आदि उनसे उत्पन्न हुए है, गणेश पुराणमें गणेश ही जगत्कारण परमात्मा हैं और ब्रह्मा विष्णु आदि उनसे उत्पन्न हुए हैं और देवी भागवतादिमें कहा गया है कि देवीसे ही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए हैं। इत्यादि रूपसे भाव प्राधान्यानुसार सभीको ईश्वर कहा गया है जो उपरोक्त पञ्चोपासना विज्ञानानुसार यथार्थ है। अतः इन सब पुराणोंको लेकर भी विवाद और ईर्षा द्वेष उत्पन्न नहीं होना चाहिये। भावके प्राधान्यानुसार इन पुराणोंका वर्णन भेद-रहस्य पुराणके अध्यायमें पहले ही वर्णित किया गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

यह बात पहले ही कही गई है कि हिन्दुजाति पाषाणादिमयी मूर्तिकी

पूजा नहीं करती है; परन्तु पाषाण, काष्ठ, मृत्तिका आदि उपादानोंके द्वारा पूर्व वर्णित भावोंके अनुसार मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करके श्रीभगवान्की सर्वव्यापिनी दिव्य शक्तिको उस मूर्तिके द्वारा प्रकट करके मूर्तिमें भाव तथा शक्तिकी पूजा करती है। भावके अनुसार मूर्ति कैसे बनाई जाती है सो पहले कहा गया है। अब उस भावानुसार बनी हुई मूर्तिमें दिव्यशक्तिका आविर्भाव किस तरहसे हो सकता है सो बताया जाता है। कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद्व यथा ।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥

जिस प्रकार गोदुग्ध गोमाताके समस्त शरीरमें व्याप्त रहनेपर भी स्तनोंके द्वारा ही वह दुग्ध क्षरित होता है उसी प्रकार श्रीभगवान्की शक्ति सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी प्रतिमारूपी जरिये (medium) के द्वारा वह शक्ति प्रकट होती है; परन्तु स्तनोंके द्वारा युक्तिसे जिस प्रकार गोदुग्ध निकाला जाता है, उस प्रकार प्रतिमाके अवलम्बनसे (medium) भगवत् शक्ति प्रकट करानेके लिये कौन कौन उपाय आवश्यकीय है सो विचार कराने योग्य हैं। कुलार्णव तन्त्रमें लिखा है—

आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद्देवतासन्निधिर्भवेत् ॥

ठीक ध्यान और भावके अनुसार मूर्तिका निर्माण होनेसे, पूर्ण विधिके अनुसार पूजा होनेसे और प्रतिमामें श्रद्धा तथा विश्वासपूर्ण होनेसे दैवीशक्तिका विकाश प्रतिमा द्वारा होता है। शास्त्रमें इस प्रकार शक्तिविकाशको प्राणप्रतिष्ठा कहा गया है जिसके लिये वेदमें भी अनेक मन्त्र पाये जाते हैं।

"अयान्तु वः पितरः" "अग्नऽआयाहि"

इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा देवता तथा पितरोंके आवाहनकी विधि प्रमाणित होता है इस प्रकारसे दैवीशक्तिका आवाहन करके ध्यानानुसार बनी हुई प्रतिमाके सर्वाङ्गमें प्राणका संयोग अर्थात् दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा करना वेदादि शास्त्रसम्मत है।

"वाचे स्वाहा" "प्राणाय स्वाहा"
"चक्षुषे स्वाहा" "श्रोत्राय स्वाहा"

इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा प्रतिमाके चक्षुरादि अङ्गोंमें तथा हृदयमें प्राणकी प्रतिष्ठा की जाती है। यजुर्वेदमें यज्ञमूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके अर्थ ऐसे अनेक मन्त्र बताये गये हैं, यथा—

"या ते धर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याँ हविर्धाने सा त।
आप्यायतान्निष्ठ्यायतान्तस्मै ते स्वाहा" इत्यादि।

हे धर्ममूर्त्ते! तेरी जो दिव्यशक्ति (दिव्या शुक्) समष्टिप्राणमें (गायत्र्यां) तथा समष्टि शरीरमें (हविर्धाने) विद्यमान रहती है वह दिव्यशक्ति (सा ते दिव्याशुक्) इस मूर्तिमें आकर प्रकट हो जायँ (आप्यायतान्निष्ठ्यायतां) उसी दीप्तिको लक्ष्य करके स्वाहा मन्त्रका उच्चारण किया जाता है। शारदातिलकमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें लिखा है—

सर्वेन्द्रियाण्यमुष्यान्ते वाङ्मनःचक्षुरन्ततः।
श्रोत्रघ्राणपदे प्राण इहागत्य सुखं चिरम्।
तिष्ठन्त्वाग्निवधूरन्ते प्राणमन्त्रोऽयमीरितः॥

इसके द्वारा वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण आदि सकल इन्द्रियोंमें प्राणशक्तिकी प्रतिष्ठाके लिये प्रार्थना की जाती है। इसके अतिरिक्त प्राणके प्रयोग मन्त्र भी तन्त्रशास्त्रमें वर्णन किये गये हैं जिनके द्वारा प्रतिमामें प्राणकी स्थापना की जाती है, यथा—ङं कं खं गं घं आकाशवायुवह्निसलिलभूम्यात्मने हृदयाय नमः। ञं चं छं जं झं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने शिरसे स्वाहा। इत्यादि प्रयोगमन्त्र प्राणप्रतिष्ठाके लिये हैं जैसा कि—

"प्राणाय स्वाहा"

आदि वैदिक मन्त्र पहले ही बताये गये हैं। अतः वेदादि शास्त्र प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध हुआ कि भावानुसार मूर्ति निर्मित होकर विधिके अनुसार प्रतिष्ठा और पूजा ठीक ठीक होनेसे प्रतिमामें सर्वव्यापिनी भगवत् शक्तिका विकाश होता है। इसीको कुलार्णव तन्त्रमें—

"आभिरूप्याच्च बिम्बस्य"

इत्यादि श्लोकके द्वारा वर्णित किया गया है। मूर्तिमें शक्ति प्रकट करनेका तीसरा उपाय साधकोंकी श्रद्धा और विश्वास है। जिस प्रकार स्थूल वैद्युतिकशक्तिके विकाशके लिये विज्ञानशास्त्र (Science) में यह प्रक्रिया है कि विषम शक्ति (Negative Electricity) समशक्तको (Positive electricity)

और समशक्ति विषमशक्तिको सदा ही आकर्षण करके प्रकट कर देती है, उसी प्रकार दैवीशक्तिके राज्यमें भी श्रद्धा और विश्वासकी विषमदैवीशक्ति (Negative Divine power) श्रीभगवान्की समदैवीशक्ति (Positive Divine power) को मूर्ति या प्रतिमारूपी जरिये (Medium) के द्वारा प्रकट करती है। जिस प्रकार साधारण काचमें सूर्य्यकी किरण पड़नेपर भी उसमें सूर्यका उत्ताप आकर्षण करनेकी शक्ति नहीं है परन्तु जब प्रकृतिके परिवर्त्तन-नियमके अनुसार वही कश्च आतशी कश्च बन जाता है तो उसमें सूर्यके ताप-आकर्षणकी इतनी शक्ति हो जाती है कि उत्ताप आकर्षण करके आतशी कश्च समस्त वस्तुको दग्ध कर दे सकता है। उसी प्रकार सामान्य पाषाण, मृत्तिका, काष्ठ आदिमें श्रीभगवान्की शक्ति प्रकट करनेकी सामर्थ्य न होनेपर भी, जब उसी पाषाणादिके द्वारा भावानुसार मूर्ति बनाई जाती है, विधिके अनुसार उसकी प्राणप्रतिष्ठा और पूजा की जाती है और श्रद्धा भक्ति तथा विश्वासकी विषम शक्ति उसमें एकाग्र की जाती है तो वही पाषाणादि द्वारा निर्मित मूर्ति आतशी कश्चकी तरह श्रीभगवान्की जगद्विहारिणी दिव्य शक्तिको साधक कल्याणार्थ प्रकट करनेमें समर्थ हो जाती है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। इस प्रकारसे प्राणप्रतिष्ठा द्वारा प्रतिमामें दिव्यशक्तिका आविर्भाव होनेसे अनेक प्रकारका चमत्कार भी दिखाई देता है ऐसा वर्णन सामवेदके ब्राह्मणमें पाया जाता है, यथा—

"देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति" इत्यादि।

देवताओंके शरीर कांपते हैं, देव प्रतिमा हंसती हैं, रोती हैं, नाचती हैं, किसी देशमें स्फुटनको प्राप्त होती हैं, स्वेदयुक्त होती हैं, नेत्र खोलती हैं, बन्द करती हैं इत्यादि। यह सब प्राणप्रतिष्ठा द्वारा मूर्तिमें दिव्यशक्तिके विकाशका लक्षण है और यह सब लक्षण प्रकृतिके या परिवारके भिन्न भिन्न अवस्थाके साथ सम्बन्ध रखते हैं जैसा कि देशमें महामारी या घरमें किसी उत्तम पुरुषकी मृत्युके समय प्रतिमा रोया करे या स्फुटित हो जाय, कांप उठे, देशमें किसी महात्माके आविर्भावके समय या घरमें किसी मङ्गलमय कार्यके होते समय प्रतिमा नाचा करे, हंसा करे, इत्यादि सब प्राणप्रतिष्ठाकी महिमाका परिचायक है।

इस प्रकारसे प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुकूल श्रीभगवान्की भावानुसार निर्मित किसी मूर्तिमें चित्तको अर्पण करके उसीकी पूजा और ध्यान धारणा

आदि साधनके द्वारा साधकका चित्त धीरे धीरे सांसारिक रूपादि विषयोंसे हटता हुआ भगवान्में ही मधुकरकी नाईं निविष्ट हो जाता है। भगवच्चरणकमलासक्त भक्त ध्याता ध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिके अवलम्बनसे साधनकी प्रथम दशामें इस प्रकार साधन करता हुआ रूपकी सहायतासे भावमें तन्मय होनेका प्रयत्न करता है। उस समय भक्तके एकाग्रचित्तमें यदि भावग्राही भगवान्के भावानुसार प्रकाशित रूपके दर्शनार्थ तीव्र लालसा और संवेग उत्पन्न हो तो सर्वशक्तिमान् भगवान् उन्हीं भावोंके अनुसार स्थूल मूर्त्ति धारण करके भक्तको दर्शन भी देते हैं, यथा—श्रीमद्भागवतमें—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्य यद्य धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्व वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

हे नाथ! तुम भावयोगके द्वारा परिभावित होकर भक्तके हृदयसरोजमें अपनी मधुर मूर्त्तिको प्रकाशित करते हो और जिन जिन भावोंसे भक्त तुम्हारी भावना करता है उन्हीं भावोंके अनुसार मूर्त्ति धारण करके तुम भक्तके ऊपर कृपा करके उसे दर्शन देते हो। इस प्रकारसे श्रीभगवान्की मधुरमूर्त्तिका दर्शन करके साधकका नयन तथा मन परितृप्त और प्रफुल्लित हो जाता है। वह उस रूपको देखते देखते आनन्दमें मग्न होकर रूपके द्वारा भगवद् भावमें तन्मय होता हुआ भावसमाधिको प्राप्त करता है। यही मूर्त्तिपूजाका चरमफल और मन्त्रयोगकी यही भावसमाधि है। इस प्रकार भावसमाधिप्राप्त योगीका चित्त संसारसे एकबार ही उपरत होकर पूर्ण वैराग्ययुक्त और निर्म्मल हो जाता है और तभी साधक योगीको राजयोगोक्त देश काल और वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न, निराकार, निर्गुण ब्रह्मध्यानमें अधिकार प्राप्त होता है। वह राजयोगके षोड़श अङ्गोंका साधन नियमित रूपसे करता हुआ अंतमें सर्वत्र विराजमान, अद्वितीय परब्रह्मसत्तामें अपने आत्माको विलीन करके निर्व्विकल्प समाधि और स्वरूपोपलब्धि दशाको प्राप्त कर लेता है और इस प्रकारसे जीवन्मुक्त महात्मा प्रारब्धक्षयपर्यन्त संसारमें ब्रह्मानंदमें निमग्न रहकर प्रारब्धक्षयान्तमें विदेह मुक्ति लाभ करता है। यही सब साधनोंकी अंतिम दशा है। यदि भावसमाधिके अनंतर राजयोग साधनके पहले ही साधकका शरीर त्याग हो जाय तो भगवान्की जिस मूर्त्ति अवलम्बनसे महासमाधि प्राप्त हुई थी उस देवताके लोकको

भक्त देहान्तमें प्राप्त करते हैं। षष्ठलोकके अन्तर्गत इस प्रकार विष्णुलोक, शिवलोक, देवीलोक आदि आराध्यदेवलोक प्राप्त करके वहांपर बहुत दिनोंतक निवास करते हैं और तदनन्तर उच्च ज्ञानाधिकार प्राप्त करके सप्तम लोकमें क्रमोर्द्ध्वगतिके द्वारा गमन करके वहाँसे मुक्त होकर परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। सगुणोपासना द्वारा मुक्तिपद प्राप्त करनेके येही दो उपाय हैं। प्रथम उपाय द्वारा मुक्तिके विषयमें श्रुतिमें लिखा है—

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समविलीयन्ते',

उसके प्राण ऊपर नहीं जाते हैं, यहीं महाप्राणमें विदेहमुक्तिके समय मिल जाता है।

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा"

आदि मन्त्रोंके द्वारा इस गतिका वर्णन पहले ही किया गया है। द्वितीय उपायके द्वारा जो क्रममुक्ति होती है उसके लिये स्मृति प्रमाण है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

इष्ट देवताके साथ उनके लोकमें प्रलय काल पर्यन्त वास करके प्रलय कालमें इष्टदेवके साथ भक्त परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषद्में भी लिखा है—

"सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा"

क्षीणपुण्यपाप साधक उत्तरायण गतिके द्वारा अव्ययात्मा यावत्संसार-स्थायी हिरण्यगर्भके लोकमें जाते हैं। गीतामें भी—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

उत्तरायण गतिके द्वारा उपासक अग्नि, ज्योति, अहः, शुक्लपक्ष, षण्मास आदि अभिमानिनी देवताओंके लोकोंको अतिक्रमण करके ब्रह्मलोकमें आते हैं और वहांसे मुक्त हो जाते हैं। देवी भगवतमें लिखा है—

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग ।

न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ॥

तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति ।

तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग ॥

तेन मुक्तः सदैव स्याज्ज्ञानान्मुक्तिर्न चान्यथा।
इहैव यस्य ज्ञानं स्याद्धृद्गतप्रत्यगात्मनः॥
मम संवित्परतनोस्तस्य प्राणा व्रजन्ति न।
ब्रह्मैव संस्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः॥

भक्ति करनेपर भी यदि प्रारब्धवशात् चिन्मयी प्रकृतिमाताका ज्ञान उत्पन्न न हो तो मृत्युके बाद भक्त देवीलोक मणिद्वीपमें जाता है। वहांपर स्वतः ही उसे अनेक भोग्य वस्तुएं प्राप्त होती हैं। तदनन्तर वहांसे ज्ञानलोभ करके परामुक्तिको भक्त प्राप्त करता है क्योंकि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। पक्षान्तरमें जिस भक्तको यहांही ज्ञानप्राप्ति हो जाती है, उनको पुनः क्रममुक्तिमार्गमें नहीं जाना पड़ता है, जैसा कि पहले कहा गया है—

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।"

वे ब्रह्मको जानकर ब्रह्मरूप बन जाते हैं। यही दो प्रकारकी मुक्तिका क्रम है। मुक्तिके विषयमें विस्तृत वर्णन आगेके समुल्लासमें किया जायगा।

जो भक्त भगवान्‌की पञ्चमूर्त्तिमेंसे किसीकी अर्थात् रामकृष्णादि अवतारोंकी उपासना न करके इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करता है उसके ध्यानमें सुविधाके लिये उन देवताओंकी मूर्त्ति प्रकृतिके जिन जिन विभागोंपर वे देवता अधिष्ठाता हैं उसके अनुसार जैसा कि पहले कहा गया है, बनाई जाती है। ऐसे देवोपासक लोग उन सब देवताओंके रूपमें ध्यान द्वारा तन्मय होकर प्रकृतिके उन भावोंमें आत्माको विलीन करके तत्तद्देवलोक प्राप्त करते हैं; परन्तु इस प्रकारकी देवोपासना प्रायः सकाम होनेसे इसका फल भी क्षणभङ्गुर ही होता है इसलिये देवोपासना द्वारा देवलोक-प्राप्त साधक साधनाके फलसे उन लोकोंमें दिव्यभोगसमूह प्राप्त करता है, यथा-श्रीगीतामें—

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।

परन्तु भोगके अन्तमें पुनः संसारमें उनको आना पड़ता है, यथा-गीतामें:-

"अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्"
"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"

इस प्रकार सकाम देवोपासनाका फल नाशवान् होता है जिससे पुण्य क्षीण होनेपर ऐसे साधकको पुनः मर्त्यलोकमें आना पड़ता है। यही सगुण पञ्चोपासना और इतर देवोपासनाका फल है जिसका वर्णन श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें किया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

देवताओंके उपासक लोग देवलोकको प्राप्त होते हैं, पितरोंके उपासक लोग पितृलोक, भूतोंके उपासक भूतलोक और श्रीभगवान्के उपासक लोग ब्रह्मधामको प्राप्त होते हैं, सो किस प्रकारसे होते हैं ऊपर वर्णन किया गया है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिपूजाके ऊपर लिखित तत्त्वको न जानकर उस पर अनेक कटाक्ष किये हैं; परन्तु वे सब कटाक्ष इतने हल्के और मूर्खतामूलक हैं कि उनपर विचार करना भी अपनेको हल्का बनाना है इसलिये उन सब व्यर्थ कटाक्षकी बातोंको छोड़कर जो कि मूर्त्तिरहस्य जाननेपर खुद ही दूर हो जायंगी केवल दो तीन भ्रान्तिजनक कटाक्षोंपर विचार किया जाता है। वे कटाक्ष निम्नलिखित हैं, यथा—(१) मन्दिरमें व्यभिचार होता है इसलिये मूर्तिपूजा उठा देनी चाहिये। (२) यदि मूर्त्तिमें शक्ति रहती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्तिने अपनेको बचाया क्यों नहीं। (३) यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्त्ति चैतन्य क्यों न हो जाती और इस प्रकारसे मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते। प्रथम कटाक्षका उत्तर निम्नलिखित है। मन्दिर जैसे देवस्थानमें वेश्याका नृत्य व्यभिचार या अन्यान्य असत्कार्य होना बहुत ही निन्दनीय है क्योंकि इसमें केवल स्थानकी पवित्रता नष्ट होती है और दैवीशक्तिका अवहेलन होता है यही बात नहीं, अधिकन्तु जैसा कि पहले कहा गया है जिस देवमन्दिरमें इस प्रकार तामसिक कर्म और तामसिक भाव उत्पन्न होते हैं वहांपर प्रतिमामें दैवीशक्ति ठहर नहीं सकती है और ऐसी प्रतिमाके पूजन द्वारा उपासनाका फल नहीं प्राप्त होता है। यह बात पहले ही कही गई है कि भावके अनुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दैवीशक्तिका विकाश तभी हो सकता है जब उपासक और भक्तोंकी श्रद्धा विश्वासकी शक्ति उस मूर्तिपर एकाग्र (Concentrated) हो। श्रद्धा विश्वासकी सात्त्विक शक्ति ही श्रीभगवान्की सर्वव्यापिनी दैवीशक्तिको मूर्त्तिके द्वारा प्रकट कर लेती है अतः जिस मन्दिरके पुरोहित सदाचारी और भक्त होंगे, समयशील तथा पूजापरायण और क्रियाकाण्डनिपुण होंगे और जिस मन्दिर-स्थित मूर्तिपर मनुष्योंकी श्रद्धा और भक्ति होगी वही प्रतिमामें दैवीशक्ति आकृष्ट

होगी। अन्यथा यदि मन्दिरमें पुरोहित दुराचारी और अभक्त तथा मूर्ख होंगे और वेश्यागान, व्यभिचार आदि तामसिक भावोत्पादक कार्य होगा जिससे लोगोंमें सात्त्विक भाव उत्पन्न न होकर श्रद्धा भक्ति ही नष्ट हो जाय तो उस मन्दिरकी प्रतिमामें श्रीभगवान्की दिव्यशक्ति कभी नहीं प्रकट हो सकेगी और पूर्वप्रकाशित दैवीशक्ति भी प्रतिमारूपी केन्द्रको छोड़कर व्यापक शक्तिमें मिल जायगी अतः मन्दिरमें व्यभिचार, वेश्यानृत्य आदि दुराचरण कभी नहीं होना चाहिये; परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता है कि व्यभिचारके डरसे मन्दिरको ही तोड़ दिया जाय। किसीकी आंखमें यदि फोड़ा हो तो फोड़ेके भयसे आंख फोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है अपितु फोड़ेकी ही चिकित्सा करके फोड़ेको आराम करदेना बुद्धिमत्ता होगी। इसी प्रकार यदि मन्दिरमें व्यभिचार होता होगा तो व्यवस्थाके साथ व्यभिचारको दूर करना, और वेश्या-नाच आदि कुरीतियोंको नष्ट करना ही धर्म होगा और मूर्त्ति और मन्दिरको तोड़ देना धर्म नहीं होगा। आजकल प्रायः देखा जाता है कि धनी लोग मन्दिर बनवाकर उसीमें एक मूर्ख पुरोहितको नौकर रख देते और पीछे कुछ पूजा होती है कि नहीं कुछ भी इसकी खबर नहीं लेते जिसका यह फल प्रायः होता है कि विद्याभक्तिशून्य वह पुरोहित अपनेको उस मन्दिरकी सम्पत्तियोंका मालिक समझ लेता और यथेच्छ आचरण करता रहता है। इस प्रकार पुरोहितोंके अत्याचारसे अनेक मन्दिर भ्रष्ट हो जाते हैं और दैवीशक्तिकी अवमानना होती है इसलिये मन्दिर प्रतिष्ठाताको चाहिये कि इस प्रकार मन्दिरका जीर्णोद्धार करें, योग्य पुरुषको पुरोहित रक्खें, नित्यपूजा आदिका प्रबन्ध ठीक ठीक करें, सम्पत्तिके कुछ अंशके द्वारा पुरोहित-विद्यालय स्थापन करके योग्य पुरोहित प्रस्तुत करें, दर्शक नरनारियोंके प्रतिमादर्शनकी व्यवस्था युक्तिपूर्वक कर देवें, ताकि सभ्यता विरुद्ध किसी प्रकारके व्यवहारका मौका ही न होने पावे—इत्यादि इत्यादि प्रकारसे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार और व्यवस्था करनेपर व्यभिचार आदिकी सम्भावना नष्ट हो जायगी और सभी मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार मन्दिरोंमें देवदर्शन, देवपूजा आदि द्वारा परम कल्याण प्राप्त कर सकेंगे अतः अर्वाचीन पुरुषोंका प्रथम कटाक्ष युक्तियुक्त मालूम नहीं होता। उनका दूसरा कटाक्ष यह है कि यदि मूर्त्तिमें शक्ति होती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्ति अपनी रक्षा अवश्य करती। इस बातके विचार करनेके पहिले मूर्त्तिमें जो शक्ति आवाहन की जाती है उसकी प्रकृति कैसी है सो विचार करना चाहिये।

संसारमें स्थूल या सूक्ष्म समस्त शक्ति ही दो प्रकारकी होती हैं—एक स्वतः-क्रियाशील और दूसरी परतःक्रियाशील। इन्हीं दो प्रकारकी शक्तिओंको पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार एक्‌टिव (Active) और प्यासिव (Passive) शक्ति (energy) कहते हैं। स्वतः क्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति हो और परतःक्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति न हो केवल दूसरी ओरसे प्रेरणा हानेपर प्रेरणाकी शक्तिके अनुसार उसमेंसे फल प्राप्त हो। श्रीभगवान्‌की जो दैवी-शक्ति समष्टिप्रकृतिकी आवश्यकता और प्रेरणाके अनुसार किसी अवतार या विभूतिके द्वारा प्रकट होती है उसके स्वतःक्रियाशील होनेके कारण अवतार या विभूतिके द्वारा संसारमें धर्मसंस्थापन और अधर्मनाशके लिये अनेक कार्य होते हैं; परन्तु मूर्तिमें श्रद्धा क्रिया और मन्त्रद्वारा जो व्यापक दिव्य शक्ति प्रकट की जाती है जिसकी प्रक्रिया ऊपर वर्णित की गई है वह शक्ति स्वतः क्रियाशील नहीं होती है; परन्तु अग्निकी तरह परतःक्रियाशील होती है। जिस प्रकार अग्निमें दग्ध करनेकी शक्ति रहनेपर भी अग्नि स्वेच्छासे किसी वस्तुको दग्ध नहीं करती है या किसीका अन्नपाक नहीं कर देती है; परन्तु जब दूसरी ओरसे किसी मनुष्यके द्वारा इस प्रकारकी प्रेरणा हो अर्थात् कोई मनुष्य अग्निके द्वारा किसी वस्तुको दग्ध करना या अन्नपाक करना चाहे तो उस अग्निको अनुकूलताके साथ काममें लाकर स्वकार्य सिद्ध कर सकता है; ठीक उसी प्रकार मूर्तिमें जो दैवीशक्ति एकत्रित होती है वह स्वयं किसीको शाप या वरप्रदान नहीं करती है क्योंकि उसमें इस प्रकारकी अवतार-की शक्तिकी तरह स्वतःक्रियाशीलता नहीं होती है। वह शक्ति केवल भाव और पूजाके द्वारा उपासकके आत्माके अनुकूल किये जानेपर अनुकूलताके अनुसार अर्थात् भाव और पूजाके अनुसार फलप्रदान करती है। उस फल-प्रदानमें मूर्तिमें विराजमान शक्तिकी स्वयं चेष्टा कुछ भी नहीं रहती है; परन्तु उपासककी प्रेरणा ही उसमें एकमात्र कारण होती है। जहां मूर्तिमें विराजमान शक्तिके प्रति कोई भाव नहीं है वहां उस शक्तिके ऊपर चाहे चूहा ही चढ़ जाय, चाहे उसके सामने व्यभिचार ही हो और चाहे मुसलमान या और कोई पापी उसपर आक्रमण ही करे उस मूर्तिमें विराजमान शक्तिकी ओरसे कोई भी क्रिया नहीं होगी क्योंकि इसपर चढ़नेवाले, कुकर्म करनेवाले या आक्रमण करनेवालोंकी हृदयगत शक्तिके साथ मूर्तिगत शक्तिका भावराज्यमें कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें केवल इतना ही होगा कि जिस प्रकार किसी

अग्निमय गोलोंको तोड़ देनेपर अथवा उसपर जल डाल देनेपर वह अग्नि तोड़नेवाले या जल डालनेवालेको आघात न करके व्यापक अग्निमें मिल जाया करती है उसी प्रकार जिस मन्दिरमें व्यभिचार आदि कदाचार होगा या पापी-का आक्रमण होगा या मूर्त्ति तोड़ी जायगी उस मन्दिरकी मूर्त्तिमें विराज-मान शक्ति उस केन्द्रको छोड़कर व्यापक दिव्यशक्तिमें मिल जायगी। केवल अत्याचार करनेवाले दिव्यशक्तिकी अवहेला करके दैवीजगत्‌में विप्लव उपस्थित करनेके कारण प्रत्यवायी होंगे। यही कारण है कि मूर्त्तिपर चूहे चढ़नेसे भी और मुसलमानोंका आक्रमण होनेपर भी उसमें दिव्य शक्ति स्वयं कूदकर आत्मरक्षा करने नहीं लग गयी थी या विपक्षियोंसे लड़ने नहीं लग गयी थी अतः अर्वाचीन पुरुषोंको चूहेके डरसे धर्मत्याग नहीं करना चाहिये; परन्तु मूर्त्तिपूजाके यथार्थ रहस्यको समझ करके प्रकृतिस्थ होना चाहिये। अर्वाचीन पुरुषोंका तीसरा कटाक्ष यह है कि यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्ति चेतन क्यों न हो जाती, परमेश्वरमें आना जाना कैसे सम्भव हो सकता है और यदि सम्भव होवे तो मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते? इसका उत्तर यह है कि पहले ही वेद प्रमाणके द्वारा बताया गया है कि मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा यथार्थ रीतिसे होनेपर उसमें चमत्कार देखा जाता है। यथा—मूर्ति हंसती है रोती है इत्यादि; परन्तु मूर्तिमें आवाहन की हुई दैवी शक्ति स्वतः क्रियाशील न होनेसे मनुष्यकी तरह चेतनाका कार्य उसमें आ नहीं सकता है क्योंकि मनुष्यका शरीर प्रारब्धकर्मके अनुसार जीवा-त्मासे युक्त होनेके कारण कर्मशक्तिके द्वारा मानवीय कार्य होता है और मूर्तिमें केवल साधककी श्रद्धा पूजा आदिके अनुसार व्यापक शक्तिका आवि-र्भाव होनेके कारण और उसमें किसी प्रकार कर्म सम्बन्ध न होनेके कारण उसके द्वारा इस प्रकार कार्य होनेका कोई भी हेतु नहीं हो सकता है। हां जिस समय वही दैवी शक्ति समष्टि प्रकृतिके कर्म संस्कारको आश्रय करके अवतार या विभूतिरूपसे प्रकट होती है तब उसके द्वारा संसारमें अद्भुत कार्य होते हैं जो मनुष्यके द्वारा भी नहीं हो सकते हैं; अतः मूर्तिमेंसे उस प्रकार चैतन्य क्रियाकी आशा विज्ञान-विरुद्ध है। अवश्य भक्त उपासकमें भावशक्तिके अनुसार मूर्तिके द्वारा जो चाहे सो क्रिया उत्पन्न हो सकती है जैसा कि पुराणादिमें भक्तवत्सल भगवान्‌की अपूर्व लीलाओंके विषय और भक्तकी प्रार्थनाके अनुसार भगवन्मूर्तिके भक्तके साथ अनेक लीलावि-

लासके विषय पाये जाते हैं; परन्तु इसमें भक्तका भाव ही मुख्य रहता है और उसी भावके अनुसार ही इच्छारहित और स्वतः क्रियारहित भगवन्मूर्तिमें क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय सन्देह अर्थात् परमेश्वरमें आना जाना सम्भव कैसे हो सकता है इसके विषयमें यह वक्तव्य है कि इसमें आने जानेकी तो कोई बात ही नहीं है, केवल गोमाताके सर्वशरीरगत दुग्धके स्तनद्वारा क्षरणकी तरह सर्वव्यापिनी भगवत्शक्तिका मूर्तिरूपी जरिये (Medium) के द्वारा विकाशमात्र है। इसमें कहींसे कहीं जानेका कोई प्रयोजन नहीं पड़ता है। केवल सर्वत्र पूर्ण भगवानकी शक्तिको स्वच्छ केन्द्रके द्वारा प्रकाश होना मात्र पड़ता है। जिस प्रकार सूर्यकी ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति यदि आतशी काचके द्वारा प्रकट हो तो सूर्यमेंसे शक्ति कम नहीं हो जाती उसी प्रकार भगवत्शक्ति सर्वतः पूर्ण होनेसे चाहे कितने ही केन्द्रके द्वारा वह शक्ति विकाशको प्राप्त हो उससे न भगवान्‌की पूर्णशक्तिमें कुछ कमी ही आती और न उसपर कहींसे कहीं जाने आनेका कलङ्क लगता क्योंकि ये सब बातें देशकालवस्तु परिच्छिन्न ससीम वस्तुपर ही घटती है और सर्वव्यापी असीम वस्तुपर ये बातें नहीं घट सकती हैं। तृतीय सन्देह अर्थात् यदि मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करना सम्भव हो तो मरे हुए मनुष्यके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते इसका उत्तर निम्नलिखित है। यद्यपि मनुष्य तभी मरता है जब जिस कर्मके अनुसार जो शरीर प्राप्त हुआ था उस कर्मका भोग उस शरीरके द्वारा समाप्त हो जाता है अतः वह शरीर पुनः उस जीवात्माका भोगायतन बनने लायक नहीं रहता है इसलिये मृतपुत्रके शरीरमें पुनः उसके आत्माको बुलाना कर्म्मविज्ञानसे विरुद्ध और असम्भव है। हां यदि कोई शक्तिमान् पुरुष या योगी अपनी शक्तिके द्वारा उस प्रकार शरीरको भोगायतन बना सके तो उसमें वह परलोकगत आत्माको बुला सकते हैं। इसका दृष्टान्त शास्त्रमें बहुत मिलता है। श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने लोकलीला गुरु सान्दिपन मुनिके मृतपुत्रके भीतर इसी तरहसे जीवात्माका सन्निवेश किया था। भगवान् शङ्कराचार्यने इसी प्रकार मण्डनमिश्रकी स्त्रीसे शास्त्रार्थ करनेके बीचमें एक मृत राजाके शरीरमें अपने आत्माको प्रवेश कराकर उसे जीवित कर दिया था। सती सावित्रीने भी अपने मृत पतिको इस तरहसे जिला दिया था अतः अर्वाचीन पुरुषोंका ऐसा कटाक्ष निरर्थक है। इसके सिवाय तान्त्रिक शवसाधनमें मृतशरीरके भीतर दूसरी जीवशक्तिको आवाहन करके शवसाधनकी रीति अब भी प्रचलित है और सत्य है। इस प्रक्रियामें शवदेह चेतनदेहकी तरह खाने पीने और बोलने

लगता है अतः मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें कोई भी सन्देह नहीं होना चाहिये।

अब देशमें श्रीभगवान् तथा अन्यान्य देवताओंकी मूर्तिस्थापना और मूर्तियोंकी पूजाके द्वारा क्या क्या कल्याण मनुष्यको प्राप्त होता है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

[१] जिस जीवनमें उपासनाकी अमृतधारा नहीं प्रवाहित होती है वह जीवन शुष्क कङ्करमय मरुभूमिकी तरह है। यह बात पहलेही कही गई है कि जबतक कर्म और ज्ञानके साथ उपासनाका मधुर मिश्रण न हो तबतक न तो कर्ममार्गमें ही पूर्णता प्राप्त हो सकती है और न ज्ञानमार्गमें ही पूर्णता लाभ हो सकती है इसलिये कर्म और ज्ञानके साथ साधककी पूर्णताके लिये उपासनाका रहना परमावश्यकीय है; परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है साधककी एकाएक निराकारकी उपासनामें चित्तवृत्ति कदापि निविष्ट नहीं हो सकती इसलिये साकार मूर्तिपूजाके अवलम्बनसे कर्म और ज्ञानके साथ अग्रसर होते हुए अन्तमें निराकार उपासना द्वारा जीव अपने ब्रह्मभावको उपलब्ध कर सकते हैं अतः जीवकी पूर्णताके लिये मूर्तिपूजा परम सहायक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं हो सकता है।

[२] सच्चिदानन्दमय परमात्माकी आनन्दसत्ता समस्त जीवोंमें व्याप्त होनेसे परस्परके प्रति प्रेम करना मनुष्य हृदयका स्वाभाविक धर्म है; परन्तु जब यही प्रेम मायाके आश्रयसे क्षणभंगुर विषयोंके साथ होता है तो विषयकी क्षणभगुरताके कारण परिणाममें दुःख उत्पन्न करता है। समस्त संसारके जीव मायामुग्ध होकर इस प्रकार प्रेमसूत्रमें अपने जीवनको बांधकर अनन्त दुःखोंको भोगते रहते हैं। हृदयमें प्रेमकी धारा स्वाभाविक होनेसे किसी वस्तुपर उस धाराको प्रवाहित किये विना मनुष्य रह भी नहीं सकता है और उनके सम्मुख विद्यमान प्रलोभन देनेवाले विषयोंमें प्रेम करनेसे दुःख भी होता है। इस प्रकार दोनों ओरके सङ्कटोंसे मनुष्यको बचाकर हृदयनिहित प्रेमधाराको कल्याणवाहिनी बनाकर श्रीभगवान्की आनन्दसत्तामें मनुष्यको निमग्न करके कृतकृत्य करनेके लिये मूर्तिपूजा ही जीवका एकमात्र अवलम्बनीय है; क्योंकि जैसा कि पहले कहा गया है स्थूलरूपके द्वारा आसक्तचित्त तथा उसमें प्रेमपरायण जीव यदि हृदयनिहित प्रेमधाराको दिक्परिवर्तन द्वारा दूसरी ओर डालना चाहे तो किसी दूसरे दिव्य स्थूलरूपमें ही डाल सकता है क्योंकि जैसा स्वभाव अनादि संस्कारके द्वारा उत्पन्न हुआ है उसीके अनुकूल कार्य करनेसे ही भावशुद्धि द्वारा स्वभाव बदल सकता है इसलिये भगवान्की मूर्तिमें

चित्तको अर्पण करके, उसीके साथ प्रेम सम्बन्ध निज निज भावके द्वारा कहीं दासभावसे, कहीं सखाभावसे, कहीं वात्सल्यभावसे, कहीं मधुरभावसे इत्यादि इत्यादि भावसे स्थापन करके संसारबन्धनको तोड़ सकता है और परमपदको प्राप्त कर सकता है। यही जीवकी आध्यात्मिक उन्नति प्राप्तिके लिये मूर्तिपूजाकी दूसरी आवश्यकता है।

[३] अब तीसरी आवश्यकताका वर्णन करते हैं, यथा—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

संसारमें मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है। सङ्कल्प-विकल्पपरायण मन संसारके भिन्न भिन्न वस्तुओंमें चंचल होकर जीवको सदा ही अशान्तिके समुद्रमें डाल रखता है और इस प्रकार अशान्त चित्तमें किसी प्रकारका आनन्दलाभ नहीं हो सकता है। यह बात पहले ही कही गयी है कि आत्मा ही आनन्दरूप होनेसे और आत्माके सिवाय और कहीं भी आनन्द न रहनेसे विषयी मनुष्य जो विषयमें सुख अनुभव करता है वह भी सुख विषयका दिया हुआ नहीं होता है, परन्तु विषयके जरियेसे उसीमें एकाग्रताके कारण क्षणकालके लिये अन्तःकरण शान्त होनेसे उस शान्त अन्तःकरणमें आनन्दमय आत्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, विषयानन्द उसी आनन्दमय प्रतिबिम्ब-जनित है; परन्तु प्रकृति परिणामिनी होनेके कारण तथा वैषयिक पदार्थोंके क्षणभंगुर होनेके कारण विषयके जरियेसे चित्तकी एकाग्रता भी क्षणस्थायिनी होती है और एकाग्रता क्षणस्थायिनी होनेसे विषयसुख भी नश्वर होता है। इसी तरहसे चञ्चल मन भिन्न भिन्न विषयमें भटकता हुआ कहींपर स्थायी सुखको न पाकर सदा ही अशान्त रहता है और जीवको भी अशान्तिमें डाल रखता है। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्ति ही ऐसी एक वस्तु है जिसमें क्षणभंगुरता और नश्वरताकी कोई भी सम्भावना न रहनेसे स्थूल भावमें अथवा सूक्ष्म भावमें हृदयके भीतर भगवान्‌की मधुर मूर्ति स्थापन करके मत्त मनको जीव मूर्तिमें एकाग्र कर शान्त और लय कर सकता है और विषय सुखको त्यागकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो सकता है। परमात्माका निराकार स्वरूप मन बुद्धिसे अतीत होनेके कारण उसमें मनकी स्थिति कदापि सम्भव नहीं हो सकती है अतः साकार मूर्तिकी पूजाके द्वारा ही बन्धनकारी मन मोक्ष प्रदान करनेकी योग्यताको प्राप्त कर सकता है। यही परमार्थ साधनमें मूर्तिपूजाकी तीसरी आवश्यकता है।

(४) मनुष्य भावका दास है। प्रत्येक इन्द्रियप्रवृत्ति राजसिक और तामसिक भावके साथ संसारमें प्रवृत्त होनेसे मनुष्योंको बन्धन प्राप्त होता है और वही इन्द्रियप्रवृत्ति भावशुद्धिके साथ सात्त्विक रूपसे प्रवृत्त होनेपर मुक्तिका कारण हो जाती है। श्रीभगवान्‌की मूर्त्ति एक ऐसी वस्तु है जिसके साथ सात्त्विक भावसे मनकी प्रवृत्तिको बांधने पर मनुष्योंका सभी दुर्व्यसन छूट सकता है और घोर तमोगुणी पुरुष भी कुछ दिनोंमें परम सात्त्विक बनकर अपनेको तथा संसारको कृतार्थ कर सकता है। आप कामपिपासु हैं, आपकी रति श्रीभगवान्‌की मूर्त्तिमें हो जाय, आप क्रोधी हैं, आपका क्रोध अपनी दुष्प्रवृत्तिके दमनमें लग जाय, आप लोभी हैं, भगवच्चरणारविन्दके मधुर मकरन्दपानमें आपका लोभ प्रवृत्त हो जाय, आप मोहान्ध हैं, श्रीभगवान् आपके पुत्र हैं उनके प्रति चित्तका सारा मोह समर्पण कर दीजिये, आप मदोन्मत्त हैं, श्रीभगवान्‌के प्रति प्रेमरूपी मधुपान करके मस्त हो जाइये, आप अहङ्कारी हैं, श्रीभगवान् मेरे ही हैं मेरा चित्त सिवाय उनके और कहीं भी नहीं जा सकता है इस बातका अहङ्कार आपके हृदयमें उत्पन्न हो, इस प्रकारसे समस्त वृत्तियोंका मुख मोड़कर श्रीभगवान्‌की मूर्त्तिमें प्रयोग कर देनेसे भावशुद्धिके द्वारा बिना आयास ही आप जितेन्द्रिय तथा जितरिपु होकर ब्रह्मधामको प्राप्त करेंगे। इसी भावशुद्धिके द्वारा परम भाव प्राप्त करनेके लिये मूर्त्तिपूजाकी आवश्यकता है। सात्त्विक साधक अपने भावके अनुसार श्रीभगवान्‌को पत्र पुष्प फल जल प्रदान करके भी मुक्तिपद प्राप्त करता है। राजसिक साधक अपने भावके अनुसार राजसिक वस्तुको श्रीभगवान्‌के आगे समर्पण करके भगवत्प्रसाद बुद्धिसे राजसिक वस्तुका सेवन करने पर भी उससे बन्धन नहीं प्राप्त करता है क्योंकि प्रसादबुद्धिके यथार्थ उदय होनेसे लोभबुद्धि नष्ट हो जाती है और समर्पण और पूजाके सात्त्विक भावके फलसे राजसिक बुद्धि ही नष्ट हो जाती है, एतादृश भक्त शीघ्र ही सात्त्विक भक्त बन जाता है। इससे पहले वेदके अध्यायमें बताया गया है कि देवोद्देश्यसे तामसिक मांसादि प्रदान और सेवन करने पर भी भावशुद्धिके प्रभावसे तथा प्रसादबुद्धिके प्रभावसे साधक चित्त अनर्गल मांसादि भक्षणसे किस प्रकार निवृत्त होकर कुछ दिनोंके बाद अहिंसा पर सात्त्विक भावको प्राप्त हो सकता है। उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति क्षण क्षणमें मनुष्यको विषयपङ्कमें निमग्न करनेको तैयार है परन्तु यह भावशुद्धिकी ही महिमा है कि जिस वस्तुको समर्पणके बिना भोजन करनेसे लोभ उत्पन्न होकर बन्धन प्राप्त होगा उसी

वस्तुको श्रीभगवान्को समर्पण कर उनके प्रसाद रूपसे भोजन करनेसे उसमेंसे बंधनकारिणी भोगबुद्धि नष्ट हो जायगी और प्रसाद भक्षण द्वारा चित्त निष्पाप और शान्तिकी अमृतधारामें निमग्न हो जायगा। यह सब मूर्तिपूजाकी ही महिमाका चतुर्थ फल है।

(५) अपनी अपनी चित्तवृत्ति तथा अधिकारके अनुसार संसारमें सकाम निष्काम दोनों प्रकारके साधक होते हैं। श्रीभगवान्को मूर्तिकी पूजाके द्वारा सकाम साधकको इष्टफल प्राप्ति तथा कामना सिद्धि होती हैं क्योंकि श्रीभगवान्ने कहा है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

जो जिस भावसे मेरी आराधना करें मैं उसी भावसे उनका अभीष्ट सिद्ध करता हूँ। इस प्रकार सकाम भावसे देवमूर्तिकी पूजा करने पर भी कामना सिद्धि तथा देवलोक प्राप्ति होती है, यथा—गीतामें—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

कर्मसिद्धिकी आकाङ्क्षा करके लोग देवताओंकी पूजा करते हैं और संसारमें शीघ्र ही सकाम देवपूजाका फल मिलता है। निष्काम भगवन्मूर्ति-पूजन द्वारा जैसा कि पहले कहा गया है रूपके आश्रयसे भावमें समाधि होती है जिसमें साधकको भावराज्यमें भगवान्की आनन्दसत्ताकी उपलब्धि होती है और तत्पश्चात् निराकार परमात्माके साधन द्वारा साधक पूर्णताको प्राप्त करते हैं अथवा सालोक्यादि-मुक्ति प्राप्त करके क्रममुक्तिके अधिकारी होते हैं। श्रीभगवान्का स्थूल भावमयी मूर्तिमें मनःसंयमके विना इस प्रकारकी उन्नत गति साधकको प्राप्त नहीं हो सकती। यही आध्यात्मिक मार्गमें मूर्तिपूजाकी पंचम आवश्यकता है।

(६) श्रीभगवान् अर्ज्जुनको उपासनाका उपदेश देते समय कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे अर्ज्जुन! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, देते हो या साधन करते हो, सब मुझमें समर्पण कर देना। इसका यही फल होगा कि सभी कार्य श्रीभगवान्में समर्पित होनेसे जीवन उपासनामय हो जायगा। श्रीभगवान्की मधुर मूर्तिमें प्रेम बांधकर जिस समय जीवनका सभी कार्य भक्त

उन्हीके लिये कर सकता है और उन्हीमें समर्पण कर सकता है उस समय भक्तके किसी भी कार्यमें दोष या संसारबन्धन-उत्पन्नकारी भाव नहीं रहता। उनके सभी कार्य शुद्ध हो जाते हैं, उनके लिये अपने पुत्र कन्याके प्रति प्रेम भी गोपालजी तथा गौरीके प्रति प्रेम बन जाता है, पितामाताके प्रति प्रेम हरगौरीके प्रति प्रेम हो जाता है, अपने प्रति प्रेम आत्माके प्रति प्रेम हो जाता है, इस प्रकार सभी लौकिक व्यवहारके द्वारा वह भक्त पारमार्थिक फलको प्राप्त कर सकता है, मूर्तिपूजाकी उन्नत दशामें यह एक परम फल साधकको प्राप्त होता है। केवल इतना ही नहीं इस प्रकार भक्तका हृदयभरा प्रेम, दया आदि सद्-वृत्तियां समस्त संसारको श्रीभगवान्‌की मूर्ति मानकर संसारके जीवोंके प्रति परिव्याप्त होती हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥

ईश्वरको सर्वभूतोंमें निवासशील जानकर मित्रभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। श्रीभगवान् जीवरूपसे समस्त संसारमें व्याप्त हैं ऐसा समझ-कर समस्त जीवोंको भगवद्रूप मानकर प्रणाम करना चाहिये। श्रुतिमें भी लिखा है—

"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"
"इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते"

मायाके द्वारा एक परमात्मा नानारूप धारण करके समस्त विश्वमें परि-व्याप्त हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्तिमें परम निविष्टचित्त भक्त उपासनाके उच्चाधिकारमें समस्त संसारको ही मनका रूप समझ हृदयनिहित प्रेमधारा-को समस्त संसारमें परिव्याप्त कर देते हैं। उस समय जगत्‌में किसीके साथ उनका कोई भी रागद्वेषमूलक सम्बन्ध नहीं रहता है, वे सभीके साथ प्रेम, सभीके प्रति दया और सभीके लिये आत्मत्याग और स्वार्थत्याग कर देते हैं। उपासनाकी इस दशामें भक्तके हृदयमें अपूर्व शान्ति और आनन्दका विकाश हो जाता है। वह समस्त संसारको ही आनन्दकन्द जगदाधार श्रीभगवान्‌की मूर्तिरूपमें देखकर आनन्द समुद्रमें निमग्न हो जाता है। यही मूर्तिपूजाकी परमानन्द और परमशान्तिविधायिनी षष्ठ आवश्यकता है।

[७] सत्ताके विचारसे जीव और ईश्वरमें भेद यह है कि जीव अपूर्ण होनेसे उसकी सत्ता देशकाल और वस्तुके द्वारा परिच्छिन्न होती है और ईश्वर पूर्ण होनेसे उनकी सत्ता देशकाल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होती है। साधकका अन्तःकरण भावराज्यमें अपनेको जितना ही अधिक बढ़ाता जाता है उतनीही जीवकी परिच्छिन्न सत्ता घटती जाती है और जीवका परिच्छिन्न अन्तःकरण तथा परिच्छिन्न भाव व्यापक उदारभावमें विलीन होता जाता है। मूर्तिपूजामें जैसा कि पहले वर्णन किया गया है श्रीभगवान्के विविध भावोंके अनुसार ही मूर्तिकी प्रतिष्ठा होती है इसलिये यह स्वतः सिद्ध है कि उस भावप्रकाशक मूर्तिकी साधनासे साधकका अन्तःकरण रूपके द्वारा भावमें जाकर लय होगा और इस प्रकारसे उपासनाका अधिकार जितना ही उन्नत होता जायगा उतना ही देशकाल वस्तुसे परिच्छिन्न अन्तःकरण भगवान्के अपरिच्छिन्न भवसागरमें जाकर लवलीन हो सकेगा। जीवकी परिच्छिन्न सत्ता इस प्रकारसे मूर्तिपूजा द्वारा भावग्राही और भावग्राह्य भगवान्के अनन्त भावोंमें विलीन होकर अपनी परिच्छिन्नताको छोड़कर पूर्णताको प्राप्त कर लेगी, उनका जीवभाव महान् शिवभावमें लय होकर परमानन्द पदवीको प्राप्त करेगा यही जीवत्वविनाशपूर्वक शिवत्वप्राप्ति-साधनमें मूर्तिपूजाकी सप्तम आवश्यकता है।

[८] प्रतिमारूपी आधारके द्वारा श्रीभगवान्की सर्वव्यापिनी दिव्य शक्तिको किस प्रकारसे प्राणप्रतिष्ठाकी प्रक्रियाओंके द्वारा प्रकट किया जा सकता है सो पहले ही वर्णन किया गया है और विस्तारित रूपसे पीठपूजा नामक अध्यायमें किया जायगा। मूर्तिपूजाके द्वारा साधकके अन्तःकरणमें निहित शक्तिके साथ श्रीभगवान्की इस दिव्यशक्तिका मिलन होता है तब जीवचित्तकी परिच्छिन्न तथा लघु शक्ति श्रीभगवान्की अनन्त दिव्य शक्तिमें विलीन होकर अपने परिच्छिन्न भावको छोड़कर असीम भावको धारण कर लेती है जिसके फलसे साधकको असीम दिव्यशक्ति लाभ तथा अनेक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। संसारमें इस प्रकारसे सिद्धि तथा दैवी शक्तियुक्त महात्माओंका आज भी अभाव नहीं है। साधनराज्यमें सिद्धियोंकी प्राप्ति द्वारा साधकचित्तमें भगवान्के प्रति तीव्र विश्वास और आग्रहातिशय उत्पन्न होता है जिसके फलसे आध्यात्मिक मार्गमें एतादृश उपासक शीघ्र ही विशेष उन्नति करनेमें समर्थ हो सकते हैं। यही मूर्तिपूजा द्वारा शक्ति और सिद्धि प्राप्तिरूप अष्टम उपकारिता है।

(९) श्रीभगवान्‌की भावमयी मूर्त्तिमें अत्यन्त प्रेमके साथ ध्यानमग्न होकर समस्त मन प्राण उसीमें समर्पण कर देनेसे और तीव्रसंवेगके साथ श्रीभगवान्‌की दर्शनकामना करनेसे भक्तवत्सल भगवान् साधकके भावके अनुसार अनन्तशोभासे युक्त मधुर भावमयी मूर्त्तिको धारण करके भक्तको दर्शन देते हैं। उनके दर्शनसे भक्तका हृदयकमल खिल जाता है, समस्त शरीर रोमाञ्चयुक्त हो जाता है, दरदरित धारासे प्रेमाश्रु बहने लगता है, भक्तकी समस्त सद्वृत्तियां असंख्य मन्दाकिनीका रूप धारण करके श्रीभगवान्‌के आनंद समुद्रकी ओर प्रबल वेगसे धावमाना होने लगती हैं, उनके चित्तकी समस्त मलिनता प्रेमाश्रुधाराके द्वारा दूर हो जाती है, समस्त अज्ञानान्धकार सूर्यके उदयसे रात्रिके अन्धकारके सदृश भगवन्मूर्त्तिकी तेजोमयी किरणच्छटासे पूर्ण नाशको प्राप्त हो जाता है, भक्त संसारके क्षणभंगुर समस्त वैषयिक रूपको पूर्ण रूपसे भूलकर अनन्तरूपाधार श्रीभगवान्‌के रूपसागरमें चिरकालके लिये डूब जाता है, उसकी विषयतृष्णा श्रीभगवान्‌की प्रेमसुधाको पान करके चिरकालके लिये निवृत्त हो जाती है और प्रेमभरी दृष्टिसे चकोरकी तरह श्रीभगवान्‌की आनन्दमयी मूर्त्तिका आस्वादन करते करते भक्त ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटीको पार करके उसी रूपमें तन्मय हो भावसमाधिको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार दिव्यभावमय आनन्दमय रूपसुधास्वादनकी सौभाग्यप्राप्ति साकार मूर्त्ति-पूजनपरायण साधकको ही प्राप्त हो सकती है। देवता यज्ञके अंगीभूत नहीं हो सकते हैं कर्ममीमांसाकृत इस पूर्व पक्षके उत्तरमें महर्षि वेदव्यासजीने स्वकीय ब्रह्मसूत्रमें लिखा है।

"विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्"

यदि कर्मके विषयमें इस प्रकारसे विरोध माना जाय कि एक समय पर एक देवता अनेक स्थानोंमें कैसे उपस्थित रह सकते हैं तो इसका उत्तर यह है कि देवताओंमें ऐसी शक्ति है कि एकही समय पर अनेक रूप धारण करके अनेक स्थानमें दर्शन दे सकते हैं अतः ब्रह्मसूत्रके अनुसार सिद्ध हुआ कि भक्तकी प्रार्थना तथा अनुष्ठानके अनुसार इष्ट देवता मूर्त्तिपरिग्रह कर सकते हैं यही मूर्त्तिपूजनकी नवम उपकारिता है।

(१०) श्रीभगवान्‌के अवतार राम कृष्ण आदिकी मूर्त्ति बनाकर पूजा करनेसे भगवदवतारकी पूजा द्वारा भी विष्णुलोक शिवलोक आदिकी प्राप्ति, रूपके द्वारा भावमें लय होकर भावसमाधिकी प्राप्ति तथा तदनन्तर निराकार उपासना द्वारा पूर्णता लाभ, अवतारकी मधुर मूर्त्तिमें आसक्ति होनेसे

विषयासक्तिका परित्याग, चञ्चल मनकी रूपमें स्थिति द्वारा चाञ्चल्य नाश तथा आनन्द प्राप्ति, उनके मधुर लीलाविलासका गुणकीर्त्तन, उनके प्रति प्रेम, दास्यादि भावसे आसक्ति द्वारा आध्यात्मिक उन्नति लाभ आदि मूर्त्तिपूजाके द्वारा कल्याणकी प्राप्ति तो होती ही है, इसके अतिरिक्त उनके प्रति भक्ति तथा प्रेम तथा उनके मधुर चरित्रोंके श्रवण और पठन पाठनके द्वारा मानवचरित्रमें परमोन्नतिसाधन हो जाता है। श्रीभगवान् रामचंद्रकी अपूर्व पितृभक्ति, अलौकिक चरित्र, एकपत्नीव्रत, मर्यादापरायणता, प्रजावत्सलता, धर्मभाव, सर्वजीवहितैषिता, भ्रातृप्रेम, सर्वतोमुखिनी स्वभावसुंदरता आदि सद्गुणावलीको देखकर और उन भावोंके साथ उनकी सेवा करके मनुष्यजीवन अपूर्व आदर्शचरित्रयुक्त तथा संसारका भूषण बन सकता है। भगवती सीताका लोकोत्तर मधुर चरित्र तथा अपूर्व पातिव्रत्यका आदर्श उनकी पूजाके साथ प्रत्येक नरनारीके हृदयमें खचित हो जाता है। श्रीभगवान् कृष्णचंद्रकी पूर्णता, अलौकिक लोकलीला, दिव्य विभूतिका विकाश, अपूर्व धैर्य्य, अद्भुत ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, निष्काम भावकी पूर्णता, निर्लिप्तताकी पराकाष्ठा आदि सद्गुणोंको उनकी उपासनाके द्वारा हृदयमें प्रतिष्ठापित करके प्रत्येक मनुष्य पूर्णताकी पदवीपर पहुँच सकता है। इस तरहसे अन्यान्य अवतारोंकी पूजाके द्वारा भी दया शान्ति आदि अनन्त सद्वृत्तियोंका लाभ साधकको हो जाता है। यही मूर्त्तिपूजाकी दशम उपकारिता है।

(११) राग तथा द्वेषही संसारमें अनंतद्रोह और दुःखके कारण हैं। मायाके प्रभावसे मुग्ध होकर अनुकूल वस्तुके प्रति राग और प्रतिकूल वस्तुके प्रति द्वेषबुद्धि प्राप्त करके संसारमें लोग घोर अनैक्य और अनंत द्रोहकी सृष्टि करते हैं; परन्तु जिस समय मनुष्यके चित्तमें श्रीभगवान्‌के प्रति परम पवित्र प्रेमधाराका सञ्चार होने लगता है उस समय साधक समस्त सांसारिक रागद्वेषोंको त्याग कर समस्त अन्तःकरणको श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें ही समर्पण कर देता है। उस समय रागद्वेषका भाव उसके चित्तसे आमूल नाश प्राप्त होनेके कारण समस्त अनैक्य और द्रोह संसारसे नष्ट होकर परस्परके प्रति प्रेमभावका ही उदय हो जाता है। इसके सिवाय उपासनाकी उच्च दशामें जब साधकोंका जीवन ही उपासनामय बन जाता है और समस्त संसारको उन्हींका रूप भावना करके साधक संसारके प्रति प्रेमभाव प्रदर्शन करने लगते हैं, उस समय उनके चित्तसे द्रोहभाव एकबार ही उठ जाता है। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्तिमें पवित्र प्रेमका जितना विकाश होता है, उतना ही उपरोक्त द्रोहहीन, एकतायुक्त तथा मधुरिमामय स्वभावकी प्राप्ति मनुष्यको होती है अतः जिस देशमें विचारानुसार इस

प्रकार पूजापद्धतिकी जितनी प्रतिष्ठा होगी उस देशके लोग उतने ही परस्पर प्रेम और एकताके साथ देश और धर्मकी सेवा कर सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही देश और धर्मकी उन्नति साधनमें एकता प्राप्ति रूप मूर्ति-पूजाकी एकादश उपकारिता है।

(१२) जिस गृहस्थके गृहमें श्रीभगवान्‌का विग्रह प्रतिष्ठित रहता है वह गृह मानो भगवान्‌का मन्दिर और आवासस्थान बन जाता है। उसमें देव-विग्रह रहनेके कारण लोग बहुत शुद्धि और शौचका विचार रखते हैं। विग्रहा-शुद्धि तथा विग्रहकी अप्रतिष्ठाके भयसे किसी प्रकार अपवित्र वस्तु उस गृहमें आने नहीं देते हैं जिससे गृहस्थके आबालवृद्ध-वनितामें आचारपरायणता और शौचकी प्राप्ति होती है। मन्दिरमें वृद्ध गृहस्थ लोग नित्य पूजा आदि करते हैं जिनके आदर्शको देखकर गृहस्थके बालक बालिकाकी आस्तिकता, भक्तिभाव, पूजापरायणता, सच्चरित्रता, शीलता आदि सद्गुणावली गृहस्थ बिना प्रयास ही प्राप्त कर लेते हैं। जिस घरमें देवप्रतिष्ठा हो उसमें बच्चोंको आचार और आस्तिकता सिखानी नहीं पड़ती है, वे स्वयं ही सीख लेते हैं। यही मूर्तिपूजा-की द्वादश उपकारिता है।

(१३) श्रीभगवान्‌की दैवी शक्ति विग्रहके द्वारा जिस परिवारके गृहमें प्रकट रहती है वहांपर आसुरी शक्तिका प्रकोप नहीं हो सकता है। पिशाच आदिका अत्याचार, प्रेत आदिका उपद्रव और देशव्यापी कठिन बीमारी (epidemic) आदि सभी आसुरी शक्तिके प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं; परन्तु जिस परिवारके गृहमें दैवी शक्तिसे पूर्ण प्रतिभा विराजमान रहती है वहां पर ऐसे अत्याचार साधारणतः कभी नहीं हो सकते हैं। दैवीशक्तिके सात्त्विक भावका प्रभाव उस परिवारके अन्तर्जगत्‌में भी विराजमान रहनेसे उस परि-वारके लोग प्रायः सच्चरित्र और कुकर्मसे विमुख होते हैं। वे उस प्रतिमाको जाग्रत और अन्तर्यामी समझकर पाप करनेसे सदा ही डरते रहते हैं। उनके संकल्पके साथ उस गृहदेवताका भाव और दैवराज्यमें सम्बन्ध रहनेके कारण गृहस्थका हर एक प्रकारका कल्याण होता है। अनेक दैवीबाधा और आपत्तिसे गृहस्थ उस दैवी शक्तिके प्रभावसे बचते रहते हैं। गृहमें नित्य धूप दीप सुगन्ध द्रव्यादिका प्रज्वलन, हवन और पुष्पादिके द्वारा वहांकी वायु शुद्ध रहती है जिससे अशुद्धवायुसे उत्पन्न रोग वहां कम उत्पन्न होते हैं और समस्त गृहस्थोंकी आरोग्यतामें सहायता मिलती है। इस प्रकार घर घरमें तथा पञ्चायतकी तरफसे देवमन्दिर देवविग्रह स्थापित होनेसे समस्त देशमें

और देशके आबालवृद्धवनिताओंमें उपरोक्त सुफलोंकी प्राप्ति होती है जिससे देशमें आधिभौतिक, आदिदैविक और आध्यात्मिक सुख सम्पत्ति, उन्नति और शान्ति सदैव विराजमान रहती है। देशव्यापी प्रारब्धजनित कुसंस्कारके भयसे कदाचित् कोई महामारी, जैसा—हैजा, प्लेग, चेचक आदि होजाने पर भी दैवी अनुष्ठान तथा पूजा आदिके द्वारा सुसंस्कार उत्पन्न करनेसे ऐसे कठिन रोग दूर हो जाते हैं, इत्यादि इत्यादि सभी मूर्त्तिपूजाकी उपकारिता है।

(१४) प्रत्येक पदार्थ तभीतक अपनी नीरोग अवस्थामें रह सकता है जबतक उस पदार्थकी प्राणशक्तिकी समतामें किसी प्रकारकी हानि उत्पन्न न हो। प्राणशक्तिके अधिक व्यय या अपव्ययसे उसकी समतामें हानि हो जाती है जिससे कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दृष्टांतरूपसे समझ सकते हैं कि मनुष्यशरीरमें प्राणशक्तिकी समता रहनेसे वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंका भी सामञ्जस्य रहता है जिससे मनुष्यशरीर नीरोग रहता है; परन्तु ब्रह्मचर्यनाश, अधिक परिश्रम, अधिक बोलना, काम मोह क्रोध आदि वृत्तियोंके वशीभूत होना आदि कारणोंसे मनुष्यकी प्राणशक्ति घट जाती है, उसकी समतामें विरोध पड़ता है जिस कारण वात पित्त कफ और अन्यान्य धातुओंमें विकार उत्पन्न होकर शरीरको रोगग्रस्त तथा अल्पायु कर देता है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरमें है ठीक उसी प्रकार समष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डशरीरमें जो प्राणशक्ति विद्यमान है जिसकी समता और सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्ड-शरीरान्तर्गत वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंकी समता रक्षित होकर ब्रह्माण्डशरीर नीरोग रहता है और उस नीरोगताके फलसे देशकालानुसार ऋतुओंका ठीक ठीक परिवर्त्तन, शस्य सम्पत्तिकी वृद्धि, प्रजाका सुख, दुर्भिक्ष आदिका अभाव, महामारी और देशव्यापी रोगोंकी अनुत्पत्ति आदि महत्फल उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्माण्डशरीर व्यापी प्राणशक्तिकी समता यदि किसी तरह-से बिगड़ जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्माण्डके वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंमें विकार होगा, पंचतत्त्वोंमें विकृति उत्पन्न होगी जिससे ब्रह्माण्डशरीर रोगग्रस्त होकर ऋतुविपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कुलक्षण, दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोगोंको उत्पन्न करेगा। पञ्चतत्त्वोंके जिस प्रकार परिणामके द्वारा सुजला सुफला वसुंधरा अपनी निर्दिष्टगतिको प्राप्त कर रही है और विराट् पुरुषका स्थूल ब्रह्माण्डशरीर नीरोगतापर प्रतिष्ठित है, उस प्राकृतिक गतिपर यदि बलात्कार किया जाय अर्थात् प्राकृतिक गतिको तोड़कर इच्छानुसार अप्राकृतिक बनाया जाय—जल जिस गतिके अनुसार

चलनेसे जगद्जीवनकी रक्षा कर सकता है, वायु जिस गतिसे प्रवाहित होनेपर संसारकी स्थितिविधान कर सकता है, पृथ्वी जिस प्रकारसे परिसेविता होनेपर सुफल प्रदान कर सकती है, इन सबोंमें यदि बलात्कार द्वारा अप्राकृतिक अनुष्ठान किया जाय तो पञ्चतत्त्वोंमें अवश्यही विकार उत्पन्न होकर ऋतुविपर्यय, महामारी, अतिवृष्टि अनावृष्टि, आदि दुर्लक्षण प्रकाशित करेगा जिससे समस्त जगत्की शान्ति नष्ट होकर अशान्ति और दुःख दारिद्र्य बढ़ जायगा। इसके सिवाय ब्रह्माण्डकी प्राणरूप वैद्युतिक शक्तिको तत्त्वोंके भीतरसे यदि खींचकर अन्यान्य कार्यमें लगा दिया जाय तो भी प्राणशक्तिहीन ब्रह्माण्डशरीर मृतवत् हो जायगा, इसकी जीवनी शक्ति घट जायगी जिससे इसमें उत्पन्न करनेकी शक्ति, उत्तम सन्तानोत्पादिका शक्ति ऋतुओंका क्रमविकाश आदि सभी नष्ट हो जायगा और विराट्धातुमें विकार और वात पित्त कफका सामञ्जस्य बिगड़कर देशमें महामारी, दुर्भिक्ष, संग्राम, दुःख, दारिद्र्य और अशान्ति फैल जायगी। आस्तिकताविहीन आधिभौतिक विज्ञानोन्नति (godless scientific improvement) के फलसे ब्रह्माण्डकी प्राण शक्तिकी ऐसी ही हानि और पञ्चतत्त्वोंमें ऐसाही वैषम्य (elemental disturbance) उत्पन्न होता है जिसको सभी लोग देख सकते हैं। इसमें ब्रह्माण्डव्यापिनी वैद्युतिक शक्ति आकर्षित करके अन्यान्य कार्यमें लगाई जाती है और स्वाभाविक रूपसे प्रवाहशील तत्त्वों पर बलात्कार करके उनको मनमाने कार्यमें लगाया जाता है अर्थात् उनकी प्राकृतिक गतिमें बाधा दी जाती है अतः आधिभौतिक विज्ञानोन्नतिके द्वारा विराट् धातुमें विकार उत्पन्न होकर देशमें संग्राम, दुर्भिक्ष, महामारी दारिद्र्य तथा अशान्ति आदिका उत्पन्न होना निश्चित है। संसारमें जिस जिस समय ऐसा संग्राम अथवा महामारी, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका प्रकोप देखा गया है उसके मूलका अन्वेषण करनेसे अवश्यही पता लगेगा कि आसुरी शक्तिके अयथा प्रयोग द्वारा प्रकृतिराज्यमें वैषम्य, आसुरी अस्त्रोंके प्रयोग द्वारा पञ्चतत्त्वोंमें विकार अथवा ब्रह्माण्ड शरीरकी प्राणशक्तिनाश या प्राणवैषम्यके द्वारा ही ऐसी बहुदेशव्यापी दुर्घटनाएं हुई हैं। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

विराट्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना।
तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम्।
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयति।

विराट् शरीरमें तत्त्वविकार और धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषम-स्पन्दनसे विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होती है जिससे दुर्भिक्ष, कुग्रहोंका उदय, उल्कापात, धूमकेतु आदिका उदय, महामारी आदि उत्पात होने लगते हैं। प्राचीन कालमें आधिभौतिक विज्ञान (material science) की उन्नति पूर्णरूपसे होनेपर भी महर्षियोंकी दूरदर्शिताकारण वह इस प्रकारसे नहीं अनुष्ठित होती थी जिससे प्रकृति पर किसी प्रकारका बलात्कार हो। अवश्य आसुरी शक्तिका अत्याचार भी उस समय था जिससे विराट् धातुमें विकार, अनार्य अस्त्रप्रयोग आदिके द्वारा उत्पन्न होकर दुर्भिक्ष, कुग्रहोत्पात आदि दुर्घटनाओंकी उत्पत्ति करता था। इन सब आसुरी शक्तियोंके प्रकोपको दूर करनेके वास्ते ऋषिगण आवश्यकतानुसार कभी यज्ञ द्वारा, कभी दैवानुष्ठान और देवपूजा द्वारा या कभी अन्य प्रकारसे भी दैवीशक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्तिको दबाकर देशव्यापी अकल्याणको दूर कर देते थे। विचार कर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि महर्षियोंके द्वारा प्रतिष्ठित गृहदेवता, ग्राम-देवता, वनदेवता आदिके मन्दिर तथा तीर्थादि, इसी प्रकारसे समस्त देशमें दैवीशक्तिके पोषण द्वारा प्रकृतिके शक्ति सामञ्जस्य विधानके लिये भी हैं; अर्थात् इन सब दैवीशक्तिके केन्द्रस्थानोंके द्वारा आध्यात्मिक आदि अन्य प्रकारके उपकार अनेक होनेपर भी समष्टि जगत्में शान्ति रक्षा भी इनका अन्यतम उद्देश्य है। शास्त्रमें तीर्थ दो प्रकारके कहे गये हैं। एक नित्यतीर्थ, दूसरे नैमित्तिक तीर्थ। नित्य तीर्थ वह है जहां पर दैवीशक्ति स्वयं निकलती है और नैमित्तिक तीर्थ वह है जहां पर तपस्या, यज्ञ आदिके बलसे दैवीशक्तिका विकाश किया जाता है। भारतवर्षकी प्रकृति पूर्ण होनेसे भारतवर्ष पृथिवीके मर्मस्थान तुल्य है और इसी कारण यहां पर अनेक स्थानोंमें दैवीशक्ति स्वयंही निकलती है, वे सब नित्य तीर्थ कहलाते हैं, यथा—ज्वालामुखी, काशी, कामाख्या, प्रयाग आदि। पुराणोंमें जो आख्यायिका पाई जाती है कि जगदम्बा सतीका देह खण्ड खण्ड करके कामाख्या, ज्वालामुखी आदि स्थानोंमें डाल दिया गया वे सब तीर्थ बन गये और इसी प्रकार शिवके लिङ्गको काट काट कर अनेक स्थानोंमें फेंक दिया गया और वे सब द्वादश ज्योतिर्लिङ्गनामसे प्रसिद्ध तीर्थस्थान बने, यह सब नित्यतीर्थोंकाही लौकिक वर्णन है; अर्थात् भारतवर्षके विशेष मर्मस्थान होनेसे शिवशक्ति और प्रकृतिशक्ति यहां नित्य स्थायिनी है। ये सब नित्यतीर्थोंके दृष्टान्त हैं। इन सब पीठोंसे प्रकाशित दैवीशक्ति द्वारा सदा ही आसुरी शक्तिका नाश और प्राकृतिक वैषम्य विदूरित होकर संसारमें शान्तिका

विस्तार होता है। इसके सिवाय महर्षिगण अपनी तपस्याशक्ति और यज्ञानुष्ठान द्वारा अनेक नैमित्तिक तीर्थ भी बनाया करते थे। नैमित्तिक तीर्थ वह है जहांपर दैवीशक्तिका विकाश पहले नहीं था परन्तु तपःशक्ति या यज्ञ आदि द्वारा वहांपर दैवीशक्ति आकृष्ट की गई है और इससे दैवीशक्तिका आधारभूत वह स्थान तीर्थ बन गया है। इस प्रकारसे दैवी शक्ति जितनी ही प्रकट की जायगी उतना ही आसुरी शक्तिका प्रकोप ह्रास होगा और आधिभौतिक विज्ञान, आसुरी अस्त्रोंका प्रयोग, प्राकृतिक प्राणशक्तिका नाश आदि द्वारा जो संग्राम दुर्भिक्ष आदि विराट् शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जायंगे। गृह, ग्राम और देशमें मन्दिर बनवाकर प्रतिमाके द्वारा श्रीभगवान्‌की अथवा अन्य देवताकी दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा द्वारा भी उपरोक्त प्रकारसे आसुरी शक्तिका दमन होता है। अधिभौतिक विज्ञानकी प्रक्रया द्वारा विकृत पञ्चतत्त्वोंकी विषमता दूर होकर देशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिका नाश होता है और अन्य कार्यमें नष्ट ब्रह्माण्डवत् प्राणशक्तिकी पुष्टि होती है जिससे इस प्रकार आधिभौतिक विज्ञानका प्रचलन रहने पर भी इसके द्वारा प्रकृति राज्यमें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती है। वर्त्तमान समयमें आस्तिकताविहीन आधिभौतिक विज्ञान (Godless science) की उन्नति पराकाष्ठापर पहुँच रही है जिसके द्वारा स्थूल संसार कुछ उन्नतिपर प्रतीत होनेपर भी विराट् प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होकर संग्राम, महामारी, दुर्भिक्ष आदि अवश्यम्भावी है और प्राचीन कालकी दूरदर्शिता जो महर्षि लोगोंमें थी वह आज दिन होना कठिन ही है अतः इस समय आधिभौतिक विज्ञानोन्नतिके समष्टिगत कुपरिणामका दूर करनेके लिये तीथ, मन्दिर, यज्ञ आदि द्वारा दैवीशक्तिका उत्पादन करना परमावश्यकीय है। भारतवर्षमें जितनी मन्दिरोंकी स्थापना शास्त्रानुसार होकर प्रतिमापूजन द्वारा दैवीशक्तिकी अनुकूलता होगी, तीर्थोंका जीर्णोद्धार होकर जितनी तीर्थमहिमा बढ़ायी जायगी और यज्ञादि द्वारा दैवीशक्ति जितनी उत्पन्न की जायगा उतनीही वर्त्तमान समयमें भारतके लिये कल्याण और शान्ति प्राप्ति हो सकेगी। अथर्ववेदमें इसी सिद्धान्तका प्रकाशक एक मन्त्र आता है, यथा—

"न घ्नंसरतताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्।"

इसका अर्थ निम्नलिखित है-(यत्र) जहांपर (सोम) प्रतिमानिहित दैवीशक्ति रहती है (तत्र) वहांपर (सदमित्) सदाही (भद्रं) कल्याण होता है। (घ्नंस) सूर्य (न

ततप) कठिन तथा दुःखदायी उत्ताप नहीं देता है (हिमः) शिलावृष्टि (न जघान) आघात नहीं करती है, पृथिवी (जीरदानुः) शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती है (आपश्चित्) जल भी (अस्मै) उपासकको (घृतमित्) घृत ही (क्षरन्ति) देता है (प्रनभताम्) हे सोम! तुम आसुरीशक्तिका नाश करो। इस मन्त्रके द्वारा मूर्तिव्यापिनीदैवी शक्ति द्वारा पृथिवीका सम्पूर्ण कल्याण साधन तथा आसुरी शक्तिका नाश ऊपरलिखित वर्णनके अनुसार प्रमाणित होता है अतः ऊपर लिखित मूर्त्ति विज्ञानके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त हुआ कि श्रीभगवान्‌के अनन्त भावोंमेंसे कुछ भावोंको लेकर प्रकृतिभेदानुसार साधारण अधिकारी साधकोंके कल्याणके लिये भावानुसार जो मूर्तिकी प्रतिष्ठा वेदादिशास्त्रानुसार सिद्ध होती है उसके द्वारा समस्त मनुष्य ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकारके लाभको प्राप्त करते हुए अन्तमें निर्गुणोपासनाके अधिकारी बनकर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं।

मन्त्रयोगके सिद्धान्त वर्णन प्रसङ्गमें पहले ही कहा गया है कि समस्त संसार नाम तथा रूपमय होनेके कारण अविद्याग्रस्त जीव नाम और रूपके द्वारा ही बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये जीवकी मुक्ति भी दिव्य नाम और दिव्यरूपकी सहायतासे होती है दिव्य रूपकी सहायतासे किस प्रकारसे साधक भाव समाधि द्वारा उन्नत अधिकार लाभ करके मुक्त हो सकता है सो पहले ही वर्णित किया गया है। अब दिव्य नामकी सहायतासे मुक्तिका उपाय नीचे बताया जाता है।

शास्त्रमें मन्त्रको दिव्य नाम कहा गया है क्योंकि जिस प्रकार प्रकृतिके दिव्य भावोंके अनुसार बनी हुई मूर्ति दिव्यरूप कहलाती है उसी प्रकार मन्त्र भी प्रकृतिके दिव्यराज्यका स्पन्दनजनित शब्द होनेसे दिव्यनाम कहलाता है। अब नीचे आदिमन्त्र ओङ्कारसे लेकर प्रकृति स्पन्दन द्वारा समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति बताई जाती है। योगशास्त्रमें लिखा है:—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम्
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा।
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी
शब्दश्चोद्भवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः॥
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।

वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः।
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा॥

जहां कुछ कार्य है वहां कम्पन अवश्य होगा, जहां कम्पन है वहां शब्द भी अवश्य होगा। सृष्टिक्रिया भी एक प्रकारका कार्य है इसलिये सृष्टि कार्यके समय प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है वही मङ्गलकारी ओंकाररूप प्रणव है। सत्त्व रज तम तीनोंकी साम्यावस्थासे जब वैषम्यावस्था होना प्रारम्भ हुआ तो सबसे प्रथम हिल्लोल जो हुआ, जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिल्लोलकी ध्वनिही ओंकार है। जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ओंकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाओंके अनेक बीजमन्त्र हैं। वेदमें ओंकारको उद्गीथ कहा गया है, यथा—छान्दोग्योपनिषद्में—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।

ओं इस उद्गीथ अक्षरकी उपासना करनी चाहिये। ओंकार इस शब्दको मुख्य रखकरही भगवान्की स्तुति होती है, इसलिये ओंकारका नाम उद्गीथ है। भगवान् शङ्कराचार्यजीने भी लिखा है—

ओं इत्यारम्भ हि यस्माद्द उद्गायति अतः उद्गीथ ओंकारं इत्यर्थः।

भगवान् पतञ्जलिजीने ओंकारको ईश्वरका वाचक कहा है, यथा—योगदर्शनमें—

"तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थभावनम्"

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

ओंकार ईश्वरका वाचक है, ओंकारका जप तथा अर्थभावनाके द्वारा ईश्वरप्राप्ति तथा विघ्नविनाश हुआ करता है। इसीके अनुसार श्रीभगवान् शंकराचार्यजीने लिखा है—

"तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहणेनेव लोकाः"

जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारनेसे लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्रीभगवान्का प्रिय नाम ओंकार उच्चारण करके उनको बुलानेसे भगवान भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। ओंकार ही ईश्वरका मन्त्र है, यथा गीतामें—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्यहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

एकाक्षर ब्रह्ममन्त्र ओंकारका उच्चारण तथा भगवान्का स्मरण करते हुए जो साधक प्राणको त्याग देते हैं उनको परमधाम प्राप्त हो जाता है।

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते"

ओंकार धनु, शर जीवात्मा और लक्ष्य ब्रह्म हैं।

"आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिं"

जीवात्माको पूर्वारणि और ओंकारको उत्तरारणि करके मथन करनेसे ब्रह्माग्निकी उत्पत्ति होती है इत्यादि श्रुतिमन्त्रोंके द्वारा ओंकारको ईश्वरका मन्त्र कहा गया है जिसके जप करनेसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं। माण्डूक्योपनिषद्में ओंकारका सार्द्धत्रिमात्रा कहकर तीन मात्राके साथ परमात्माकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिरूपी तीन दशाका सम्बन्ध बताकर शेष अर्द्ध मात्राके साथ तुरीयपदगम्य परमात्माका सम्बन्ध बताया गया है। इन सभोंका विस्तृत विवरण तथा ओंकारकी महिमा पूर्णरूपसे किसी आगेके अध्यायमें बताई जायगी। वर्त्तमान प्रबन्धका यह प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकारसे ऊपर लिखित वर्णनोंके अनुसार शब्द राज्यमें ओंकारके साथ ईश्वरका और अन्यान्य मन्त्रोंके साथ अन्यान्य देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है जिस कारण ओंकारके जपसे ईश्वर तथा अन्यान्य मन्त्रोंके जपसे तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं। यह बात वेदसम्मत है कि प्रलयके समय समस्त जीवोंका संस्कार प्रकृतिमें और प्रकृति ईश्वरमें लय हो रहती है। पुनः प्रलयविलीन जीवोंके समष्टि संस्कार फलोन्मुख होनेसे ईश्वरमें यह स्वतः इच्छा होती है कि, "मैं एकसे बहुत हो जाऊं और संस्कारानुसार सृष्टि करूं" उस समय भगवान्में सृष्टिका संकल्प उदय होते ही उनकी अद्वैतसत्तामें त्रिगुण समावेशके अनुसार ब्रह्मा विष्णु महेश्वररूपी त्रिभावकी सत्ता परिस्फुट होने लगती है और उनके संकल्पसे उत्पन्न प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डप्रकृतिमें जहांपर अभीतक सत्त्वरजस्तमोगुणकी समता थी त्रिगुणका वैषम्य होने लगता है। त्रिगुणमयी प्रकृतिका गुणसाम्य प्रलयदशाका लक्षण है और वैषम्य सृष्टिदशाका लक्षण है अतः उस समय परमात्मासे सङ्कल्पके साथ साथ मूल प्रकृतिमें कम्पन होने लगता है, जैसा कि योगशास्त्रमें कहा गया है कि जहां कार्य होता है वहां कम्पन होता है और जहां कम्पन होता है वहां शब्द होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार मूल प्रकृतिमें सृष्टिकार्यकी

सूचना होते ही त्रिगुणमें कम्पन होता है और जिस प्रकार एक थालीमें जल रखकर थालीके हिलानेसे एक बार समस्त जल हिल उठता है और पश्चात् जलके भिन्न भिन्न देशमें कम्पन होकर भिन्न भिन्न तरंग उठते हैं उसी प्रकार सृष्टिकी सूचना होते ही समस्त ब्रह्माण्डकी मूल प्रकृतिके एकदम हिल जानेसे कम्पनजनित प्रथम एक शब्द होता है उसीका नाम ओंकार है। इस कारण अधिदैव जगत्में प्रथम शब्द होनेसे ओंकारके साथ ईश्वरका वाच्य वाचक सम्बन्ध है। पहले कहा गया है कि सृष्टिके समय क्रम यह निश्चय हुआ— परमात्माके अन्तःकरणमें सिसृक्षा तदनन्तर त्रिगुणसमतायुक्त प्रकृतिमें वैषम्य-जनित गुणस्पन्दन तथा ओंकार नादका प्रकाश, अतः ओंकारके साथ परमात्मा-का साक्षात् दैवसम्बन्ध है—मानो ओंकार उनका नाम ही है, क्योंकि गुणा-तीत साम्यावस्था प्रकृतियुक्त निष्क्रिय ब्रह्मभावमें जब सिसृक्षा उत्पन्न हुई तो वही भाव सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर भाव कहाया। उसी भावके साथ जो साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला शब्द होगा सो अवश्य ही ईश्वरका वाचक अर्थात् प्रथम नाम होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्था प्रकृतिके प्रधान विभागोंके साथ जिन शब्दोंका सम्बन्ध है वे बीज मन्त्र हैं। यही ओंकारके अकार, उकार, मकारके साथ त्रिदेव सम्बन्ध और समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका कारण है। जब प्रकृति सृष्टि अभिमुखीन हो ही गई तो त्रिगुणोंमें पुनः स्पन्दन होगा; क्योंकि त्रिगुणोंके विकारके द्वारा ही समस्त सृष्टि होती है, अतः आधिभौतिक राज्यमें गुणस्पन्दन द्वारा पञ्चतत्त्व आदिके क्रमविकाशसे जड़चेतनात्मक जग-त्की सृष्टि होगी और शब्दराज्यमें प्रकृतिके नाना प्रकारके स्पन्दनके द्वारा नाना प्रकारके शब्द उत्पन्न होंगे। यही सब शब्द प्रथम अवस्थामें नाना बीज मन्त्र और उसके बादके परिणाममें देवनागरी वर्णमाला और नाना भाषाके शब्द हैं। प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा ओं बीज उत्पन्न हुआ और तदनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें आठ प्रकृतिके अनुसार अष्ट बीजमन्त्रकी उत्पत्ति हुई। गीतामें लिखा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, परमात्माकी माया शक्ति इसी अष्टभागमें विभक्त है। इसी प्रकार प्रकृतिके अष्ट स्पन्दनानु-सार अष्ट बीजमंत्र हैं और तदनंतर प्रकृतिके भिन्न भिन्न अंगमें अनेक स्पंदन और

तदनुसार अनेक मन्त्र होते हैं और इससे यह भी बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके स्पन्दनजनित शब्द ओंकारके साथ ब्रह्माण्डनायक ईश्वरका अधिदैव सम्बन्ध होनेसे ओंकार उनका मन्त्र है उसी प्रकार प्रकृतिके जिस विभागके कम्पनसे जो मन्त्र उत्पन्न होंगे उस विभागके अधिष्ठाता देव या देवीके साथ उस मन्त्रका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे उस देवता या देवीके साधनके लिये वे ही मन्त्र होंगे महर्षिगणने जिस प्रकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागमें संयम करके तत्तद्विभागोंपर अधिष्ठात्री देवताओंकी मूर्ति बताई है उसी प्रकार प्रकृतिके उन विभागोंके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्दोंको भी संयम द्वारा सुनकर तत्तद्देवताओंके मन्त्ररूपसे उन उन शब्दोंका विधान किया है। प्रकृतिका जो प्रथम स्पन्दन व्यापक प्रकृतिमें एक महान् शब्द उत्पन्न करता है उसीके ही परिणामरूपसे अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं ऐसा सिद्धान्त ऊपर लिखित शब्दोत्पत्ति विज्ञानके द्वारा स्पष्ट होता है इसलिये प्रथम महान् शब्द ओंकारसे ही अन्यान्य समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है और संसारके जितने शब्द और वर्णमालाके वर्ण हैं सभी ओंकाररूपी महा शब्दके विकारसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा समझना शास्त्रसम्मत होगा। केवल संस्कृत वर्णमालाके ककारादि शब्द प्रकृतिके साक्षात् स्पन्दनके साथ प्राकृतिक सम्बन्ध रखनेके कारण और बीजमंत्रोंके निकट होनेके कारण सभी बीजरूप हैं और संस्कृत भाषा संसारकी सभी भाषाकी जननीरूप है और अन्यान्य भाषाओंके शब्दोंके साथ प्रकृतिके दूर परिणामका सम्बन्ध होनेसे तथा साक्षात् सम्बन्धके अभाव होनेसे वे प्रकृतिका स्पन्दन न होकर विकृतिका स्पन्दन है और इसलिये वे बीजमंत्र नहीं हो सकते हैं। शास्त्रमें कहा गया है—

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः"

प्रणव मन्त्रोंका सेतु है अर्थात् जिस प्रकार सेतुके आश्रय मनुष्य नदी पार होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक मंत्रके साथ ओंकारको मिलाकर उच्चारण करनेसे मन्त्र अपनी व्यापकशक्तिको प्राप्त कर सकता है इसलिये छान्दोग्योपनिषद्में वर्णित है—

"तद्द यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोङ्कारेण
सर्वा वाक् संतृणा ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम्"

जिस प्रकार पत्रनाल द्वारा समस्त पत्र गुथे हुए रहते हैं, उसी प्रकार ओंकारके साथ समस्त शब्द गुथे हुए रहते हैं, ओंकार ही सब हैं। ओंकारमें

समस्त मंत्रोंको सिद्धि प्रदान करनेकी शक्ति रहनेसे ही ओंकार परम मङ्गलकर कहा गया है, यथा, स्मृतिमें—

माङ्गल्यं पावनं धर्म्म्यं सर्वकामप्रसाधनम्।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम्॥
आद्यमन्त्रोऽक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते॥
तेन संपरिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि।
सर्वमन्त्राधियज्ञेन ओंकारेण न संशयः॥

परब्रह्मरूप ओंकार समस्त मन्त्रोंका नायक, परम पवित्र, मंगलमय तथा सकल कामनाओंका साधक है। तीनों वेदोंकी प्रतिष्ठा इसी आदि मंत्रमें है और सकल मंत्रोंके प्रयोगमें ओंकारका प्रयोग प्रथम होता है। अन्य मंत्रोंके साथ प्रथम ओंकारका उच्चारण होनेसे मन्त्रोंका फल यथावत् प्राप्त होता है। "संसारकी समस्त वाणी ओंकारमें ही संग्रथित है" छान्दोग्योपनिषद्के इस सिद्धान्तका बड़ा ही सुंदर वर्णन लिङ्गपुराणमें मंत्रोत्पत्तिके प्रसंगमें किया गया है, यथा—

तदा समभवत्तत्र नादो वै शब्दलक्षणः।
ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः॥
किमिदन्त्विति संचिन्त्य मया तिष्ठन् महास्वनम्।
लिङ्गस्य दक्षिणे भागे तदाऽपश्यत् सनातनम्॥
आद्यं वर्णमकारन्तु उकारं चोत्तरे ततः।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति॥
सूर्यमण्डलवद्दृष्ट्वा वर्णमाद्यं तु दक्षिणे।
उत्तरे पावकप्रख्यमुकारं पुरुषर्षभः।
शीतांशुमण्डलप्रख्यमकारं मध्यमं तथा।
तस्योपरि तदाऽपश्यच्छुद्धस्फटिकवत् प्रभुम्॥
तुरीयाऽतीतममृतं निष्कलं निरुपप्लवम्।
निर्द्वन्द्वं केवलं शून्यं बाह्याभ्यन्तरवर्जितम्॥
अकारस्तस्य मूर्द्धा तु ललाटं दीर्घमुच्यते।
इकारो दक्षिणं नेत्रमीकारो वामलोचनम्॥
उकारो दक्षिणं श्रोत्रमूकारो वाममुच्यते।

ऋकारो दक्षिणं तस्य कपोलं परमेष्ठिनः ॥
वामं कपोलमृकारो ऌऌृनासापुटे उभे ।
एकारमोष्ठमूर्द्ध्वश्च ऐकारस्त्वधरो विभोः ॥
ओकारश्च तथौकारो दन्तपङ्क्तिद्वयं क्रमात् ।
अमस्तु तालुनी तस्य देवदेवस्य धीमतः ॥
काऽऽदिपञ्चाऽक्षराण्यस्य पञ्चहस्तानि दक्षिणे ।
चाऽऽदिपञ्चाऽक्षराण्येव पञ्चहस्तानि वामतः ॥
टाऽऽदिपञ्चाऽक्षरं पादस्ताऽऽदिपञ्चाऽक्षरं तथा ।
पकारमुदरं तस्य फकारः पार्श्व उच्यते ।
बकारो वामपार्श्वे वै भकारं स्कन्धमस्य तत् ॥
मकारं हृदयं शम्भोर्महादेवस्य योगिनः ।
यकारादिसकारान्ता विभोर्वै सप्तधातवः ॥
हकार आत्मरूपं वै क्षकारः क्रोध उच्यते ॥

सुव्यक्त और सुतलक्षण ॐनादका प्रकाश हुआ। लिङ्गके सर्वतः स्थित इस प्रकारके नादका स्वरूप निम्नलिखित है। उसका आद्यवर्ण अकार है जो कि दक्षिणकी ओर स्थित और सूर्यमण्डलवत् दीप्तिमान् है। उत्तरकी ओर अग्निप्रभ उकारकी स्थिति है और मध्यस्थलमें चन्द्रमण्डलकी तरह तेजोमय मकारकी स्थिति है। इन तीनोंके ऊपर शुद्धस्फटिककी तरह भासमान ओंकार-रूपी परम पुरुष विराजमान हैं। वे तुरीयातीत, अमृत, निष्कल, चाञ्चल्य और द्वन्द्वविहीन और आकाशवत् तथा बाह्य और अभ्यन्तरमें रहते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं। ॐकाररूपी उस परब्रह्मके विराट् रूपसे ही समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है, यथा—अकार उनका मस्तक और आकार उनका प्रशस्त ललाट है। इकार उनका दक्षिण नेत्र और ईकार वाम नेत्र है। उकार दक्षिण-कर्ण और ऊकार वामकर्ण है। ऋकार दक्षिण कपोल और ॠकार वाम कपोल है। ऌकार ॡकार दोनों नासापुट हैं। एकार ओष्ठ और ऐकार अधर है। ओकार और औकार दोनों दन्तपंक्ति हैं। अं और अः उनके दो तालु हैं। कसे ङ तक पांच अक्षर उनके दक्षिण पांच हस्त और चसे ञ तक पांच अक्षर उनके वाम पांच हस्त हैं। टसे ण तक पांच अक्षर और तसे न तक पांच अक्षर उनके पाद हैं। पकार उनका उदर, फकार दक्षिण पार्श्व, बकार वामपार्श्व, भकार स्कन्ध और मकार हृदय है। यकारसे सकार तक

ओंकाररूपी विराट् पुरुषके सप्त धातु हैं, हकार उनका आत्मारूप और क्षकार क्रोधरूप है। इस प्रकारसे ओंकारसे समस्त वर्णोंकी उत्पत्ति आर्यशास्त्रमें बताई गई है। यही सब वर्ण विराट् पुरुषके भिन्न भिन्न अङ्गसे उत्पन्न होनेके कारण प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्र हैं और इन मन्त्रोंके साथ तत्तत् प्रकृतिके देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है इसलिये जिस प्रकार समष्टि प्रकृतिके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द ॐ परमेश्वरका वाचक नाम है जिसके जप और अर्थभावना द्वारा परमेश्वर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्द भी तत्तत् प्रकृतिके देवताओंके वाचक नाम हैं जिनके जप और अर्थभावना द्वारा तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं और दर्शन दिया करते हैं, यथा—योगदर्शनमें—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।

स्वाध्यायके द्वारा इष्टदेवताका दर्शन होता है। यहां स्वाध्यायका अर्थ श्रीभगवान् वेदव्यासकृत योगदर्शनभाष्यमें मन्त्र-जप लिखा है। और भी सामवेद संहितामें—

उपह्वरे गिरीणाँ सङ्गमे नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥

पर्वतप्रान्त तथा नदीसङ्गम स्थानपर स्तुति करनेसे इन्द्र प्रकट होते हैं। समष्टि प्रकृतिके साथ व्यष्टि प्रकृतिका एकत्व सम्बन्ध होनेसे समष्टि प्रकृतिके स्पन्दनजनित सारे शब्दोंका आविर्भाव व्यष्टि प्रकृतिके द्वारा भी अनुभव होता है; अर्थात् ओंकारसे लेकर समस्त वर्णोंका और मन्त्रोंका उच्चारण जीवशरीरके भिन्न भिन्न अङ्गों द्वारा होता है। जिस प्रकार समष्टि प्रकृतिका प्रथम स्पन्दन ओंकार समष्टि प्रकृतिके गर्भसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यष्टि शरीरमें भी प्रकृतिका स्थान मूलाधारचक्रस्थित कुलकुण्डलिनीमें होनेके कारण आदि नाद प्रणवकी उत्पत्ति कुण्डलीनीसे होती है और अन्यान्य समस्त नाद वहांसे ही निकल कर इडा, पिङ्गला और सुषुम्नारूपी त्रिविध योगनाडीके द्वारा भिन्न भिन्न पथमें प्रवाहित होकर मन्त्र और वर्णन रूपसे हृदय, तालु, कण्ठ, जिह्वा, ओष्ठ, दन्त आदि स्थानोंके द्वारा प्रकट होते हैं, यथा-शारदातिलकमें—

भिद्यमानात्पराद्विन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥

कुण्डलीनीमेंसे प्रकाशित परा नाम्नी अविनाशी वाक्से शब्दकी उत्पत्ति होती है जो जीव शरीरमें अनेक प्रकारसे घूम करके गद्यपद्यादि भेदसे विविध वर्णमें प्रकाशित होता है। और भी—

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥
स एव चोर्द्ध्वतां नीतः स्वाधिष्ठानविजृम्भितः।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्द्ध्वं शनैः शनैः॥
अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाऽभिधः।
तथा तयोरूर्द्ध्वगतो विशुद्धे कण्ठदेशतः॥
वैखर्य्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात्॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठस्थः कण्ठौष्ठद्वयतस्तथा।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि॥

परमात्माकी इच्छाशक्तिरूपिणी मूलाधार पद्मस्थिता कुलकुण्डलिनीकी शक्तिसे उक्त पद्ममें प्रथमतः परानादकी उत्पत्ति होती है। तदनन्तर वह नाद स्वाधिष्ठान पद्ममें उठकर पश्यन्ती आख्याको प्राप्त होता है। तदनन्तर धीरे धीरे और भी ऊपर आकर अनाहत पद्ममें बुद्धितत्त्वके साथ मिलकर उस नादका नाम मध्यमा होता है। उसके ऊपर कण्ठस्थित विशुद्ध चक्रमें उस नादका नाम वैखरी होता है, यही शब्दनिष्पन्न वैखरी नाद कण्ठ, मस्तक, तालु, ओष्ठ, दन्त, जिह्वामूल, जिह्वाग्र, जिह्वापृष्ठ तथा नासाग्र द्वारा क्रमशः अग्रसर होता हुआ कण्ठ, तालु, ओष्ठ और कण्ठौष्ठद्वय द्वारा प्रकाशित होकर अकारसे क्षकार तक वर्णमालाओंका विकाश करता है। जीवशरीरमें कुलकुण्डलिनी प्राणशक्तिरूप है। उसीके साथ इडा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सम्बन्ध है और इन तीनों नाडियोंके द्वारा ही प्राण, अपान, समान, उदान आदि दशविध वायुका प्रवाह समस्त शरीरमें व्याप्त होता है। प्राणशक्तिके द्वारा प्राणादिवायु सञ्चालित होकर समस्त शब्दोंको प्रकाशित करता है। उल्लिखित तीनों नाड़ियोंके साथ समस्त वायुका सम्बन्ध होनेसे प्रकृतिस्पन्दन जनित अकारसे लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त वर्णमालाकी उत्पत्ति इन तीनों नाड़ियोंके द्वारा होती है, यथा-अ से अः पर्यन्त समस्त वर्णमाला इडा नाड़ीसे प्रवाहित होती है। क से म पर्यन्त समस्त वर्णमाला पिङ्गला

नाड़ीसे प्रवाहित होती है और य से क्ष पर्यन्त समस्त वर्णमाला सुषुम्ना पथमें प्रवाहित होती है। इस प्रकारसे ॐसे लेकर समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति समष्टि प्रकृतिकी तरह व्यष्टिप्रकृतिमें होती है। केवल इतनाही नहीं अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिकी ही प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब होनेसे समष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात व्यष्टि प्रकृतिमें और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात समष्टि प्रकृतिमें होता है और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्तरका समसम्बन्ध समष्टि प्रकृतिके उसी अधिकारके स्तरके साथ रहता है इसलिये इसके नादका प्रतिबिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमें आ गिरता है इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिके जिस जिस स्तरपर चित्तको संयत करता है उसीमें ही समष्टि प्रकृतिके तत्तत् स्तरका नाद सुन सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृतिका प्रथम शब्द प्रणव होनेसे जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिको भी साम्यावस्थापर पहुँचावेंगे उसी समय अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके प्रथम नाद ॐकारको सुन सकेंगे। वह नाद मूलाधार चक्रस्थित कुलकुण्डलिनीसे निकल कर सहस्रारमें जा लय हो जायगा। उसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृतिको पूर्ण साम्यावस्थाके अतिरिक्त जिस जिस स्तरपर संयम करेंगे उस स्तरके साथ समष्टि प्रकृतिके जिस स्तरका समसम्बन्ध है उस स्तरके नादका प्रतिबिम्ब अपनी प्रकृतिमें अनुभव करेंगे। इसी प्रकारसे महर्षिगण अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके नादको सुनते हैं और उन्हीं नादोंके अनुसारही श्रीभगवान् तथा उनकी शक्तिस्वरूप भिन्न भिन्न देवताओंके साधनार्थ मन्त्रसमूह और संस्कृत वर्णमालाओंका आविष्कार उन सब अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंके द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणव यन्त्रकी उत्पत्तिके अनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें जो गीतोक्त वर्णनके अनुसार अष्ट प्रकृतिका कम्पन हुआ है उससे प्रधान अष्ट बीजकी उत्पत्ति हुई है। इनके नाम मन्त्रशास्त्रमें, यथा—

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत्॥
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता॥

बीज मन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं. यथा—गुरुबीज, शक्तिबीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज शान्तिबीज और रक्षाबीज।

क, ल, ई और मकारसे कामबीजका अनुभव होता है। क, र, ई और मकारसे योगबीजका अनुभव होता है। आ ए और मकारसे गुरुबीजका अनुभव होता है। हकार, रकार, ईकार, और मकारसे शक्तिबीजका अनुभव होता है। शकार, रकार, ईकार और मकारसे रमाबीजका अनुभव होता है। टकार, रकार, ईकार और मकारसे तेजबीजका अनुभव होता है। सकार, तकार, रकार, ईकार और मकारसे शान्तिबीजका अनुभव होता है और हकार, लकार, ईकार और मकारसे रक्षाबीजका अनुभव होता है, योगशास्त्रमें लिखा है—

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कारणब्रह्मणो यथा ।
याभिराविर्भवदिदं कार्यब्रह्म सनातनम् ॥
तथा प्रधानभूतानि बीजान्यष्टौ मनीषिभिः ।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कार्यरूपस्य ब्रह्मणः ॥

जिस प्रकार कारण ब्रह्मकी आठ प्रकृति है, जिससे कार्यब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वैसे ही शब्दब्रह्मके ये आठ बीज आठ प्रकृति हैं। येही प्रधान बीज कहाते हैं। ये सब प्रकारकी उपासनामें कल्याणकारी हैं। शास्त्रान्तरमें इनके नामभेद भी पाये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृतिके विस्तारके साथ साथ अनेक मन्त्र निर्णीत किये जाते हैं जो भिन्न भिन्न देवताओंके प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट हैं।

शास्त्रमें मन्त्रोंकी असाधारण शक्ति बताई गई है जिससे भगवान् प्रसन्न, देवता वशीभूत और अनेक प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, यथा-योगशास्त्रमें—

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्ध्या तपःसिद्ध्या हठान्वितः ।
ऐशीं विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः ॥
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम् ।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम् ॥

मंत्रयोगी मंत्रसिद्धि द्वारा, हठयोगी तपःसिद्धि द्वारा और लययोगी संयमसिद्धि द्वारा ऐसी विभूतियोंको लाभ किया करते हैं। मन्त्रसाधन द्वारा देव देवीगण स्वतः ही वशीभूत हो जाते हैं और मन्त्रयोगकी सिद्धिप्राप्त योगीको संसारके सब वैभव सुलभ होजाते हैं। श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है ऐसा लिखा है, यथा—

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः"

पूर्वकर्मके वेगसे कभी कभी जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है, औषधिक

द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है और तपस्या और समाधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। प्रकृति श्रीभगवान्‌की शक्तिस्वरूपिणी होनेसे उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। उस शक्तिका विकाश सूक्ष्मसे स्थूलपर्यन्त समस्त प्राकृतिक पदार्थमें विद्यमान है। प्रत्येक वस्तुकी शक्ति जितनी ही वह वस्तु स्थूलसे सूक्ष्मताको प्राप्त होती उतनी ही विकाशको प्राप्त होती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अन्तःकरणके विकाशरूप स्थूलदेहमें जितनी शक्ति है उससे अनेकगुणी शक्ति सूक्ष्मदेह अन्तःकरणमें विद्यमान है। शरीर तीन वर्षमें जहांपर नहीं जा सकता है, मन शरीरसे सूक्ष्म होनेसे इतनी शक्ति रखता है कि एक पलमें ही वहांपर चला जा सकता है। इस तरह अन्यान्य सूक्ष्म वस्तुमें भी समझ सकते हैं। जलमें जो शक्ति है, जलके सूक्ष्मपरिणामरूप बाष्प तथा बाष्पपुञ्जरूप मेघमें इससे अनेक अधिक शक्ति है जो विजलीके रूपसे मेघमालामें विलास किया करती है। जब प्रकृतिके विविध विकारके द्वारा उत्पन्न लौकिक शब्दके भीतर ही इतनी शक्ति विद्यमान है कि उसके द्वारा मनुष्य वशीभूत होते हैं और केवल मनुष्य ही नहीं राग रागिनीके साथ उसे प्रयोग करनेपर क्रूर सर्प और मदमत्त हस्ती पर्यन्त वशीभूत हो जाते हैं, तो प्रकृतिके विशेष स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न दिव्य शब्दोंके भीतर बहुत ही शक्ति होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है; क्योंकि प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्र-समूह प्रकृतिके सूक्ष्मराज्यका परिणाम है इसलिये सूक्ष्म दिव्य नामरूपी मन्त्रोंमें अनन्तशक्तिरूपिणी प्रकृति माताकी अनन्तशक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार समस्त सूक्ष्म ब्रह्माण्डप्रकृतिको कँपाकर प्रणव नादकी उत्पत्ति होनेसे उसमें समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिकी अनन्त शक्ति भरी हुई है; उसी प्रकार अन्यान्य जो मन्त्र प्रकृतिके जिस विभागको कँपाकर उत्पन्न होता है, उस मन्त्रमें प्रकृतिके उस सूक्ष्म विभागकी शक्ति निहित रहती है। प्रत्येक सूक्ष्मराज्यके विभागके जो अधिष्ठात्री देवता हैं वही उक्त राज्यसम्बन्धीय शक्तिके अधिनायक हैं; क्योंकि विना दैवी सम्बन्धके शक्तिका प्रयोग नहीं हो सकता है। पहले अध्यायोंमें सिद्ध किया गया है कि जड़ कर्मके चालक देवतागण हैं। दैवी सहायतासे ही शक्ति उत्पन्न होकर कर्मकी उपत्ति तथा कर्मफलकी प्राप्ति होती है। अस्तु, मन्त्रके साथ जब दैवीशक्तिका साक्षात् सम्बन्ध है तो मन्त्रकी सहायतासे यथावत् शक्तिका प्रकाश होना स्वतः सिद्ध है। यही मन्त्रोंसे शक्तिके आविर्भावका विज्ञान है। जिन अक्षरोंके परस्पर समन्वयसे मन्त्र बनते हैं वे इस तरहसे मिलाये जाते हैं कि जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थों-

को विचारपूर्वक मिलानेसे उसमेंसे बिजलीकी शक्ति प्रकाश होती है उसी प्रकार शक्तिमान् उन अक्षरसमूहके सूक्ष्म विचारपूर्वक मिलनेके द्वारा अद्भुत दैवी-शक्ति मन्त्रमें प्रकाशित हो जाती है। इसके सिवाय जिस प्रकार शब्द-प्रयोक्ताकी प्राणशक्ति और हार्दिक शक्तिके द्वारा शब्दमें अपूर्व शक्ति आ जाती है जिसके द्वारा श्रोताओंके ऊपर प्रभाव पड़ जाता है, इसी प्रकार साधकके अन्तःकरणकी शुद्धशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और संयमशक्तिके द्वारा मन्त्र प्रयुक्त होने पर उसमें असाधारण शक्ति बन जाती है जिससे वह मन्त्र चाहे जहां पर प्रयोग किया जाय ईप्सित फल प्रदान किये विना नहीं रहता है; परन्तु जिस प्रकार शब्दमें शक्ति होने पर भी दुष्ट उच्चारण द्वारा तथा प्राणहीन, हृदयहीन मनुष्यके द्वारा उच्चारित होनेसे एतादृश फल प्राप्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी स्वरसे या वर्णसे ठीक ठीक उच्चारित न होने पर तथा मन्त्रप्रयोगकर्त्तामें प्राणशक्ति, संयमशक्ति और हार्दिकशक्तिकी हीनता होनेपर यथार्थ फलको नहीं दे सकता है, परन्तु उल्लिखित किसी प्रकारका दोष यदि न हो और अन्तःकरणकी पूर्णशक्तिके साथ साध्य वस्तुको लक्ष्य करके प्रयुक्त हो तो अवश्यही मन्त्र ईप्सित फलको उत्पन्न करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। वर्त्तमान समयमें जो अनेक स्थल पर मन्त्र ठीक फल नहीं देता है इसके लिये ऊपर लिखित प्रयोग-दोष ही कारण है। जिस साधकने पुरश्चरण आदि प्रक्रिया द्वारा मन्त्रचैतन्य करके ठीक ठीक साधन किया है वह अवश्य ही मन्त्रशक्तिका अपने अनुकूल करके संसारमें असाधारण दैवी शक्तियोंको प्राप्त करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। वह अपनी प्राणशक्तिके साथ मन्त्रशक्तिका प्रयोग करके जो चाहे सो कर सकेगा। शास्त्रवर्णित सभी सिद्धियां इस तरहसे प्राप्त होती हैं। मन्त्रशक्तिके बलसे दैवजगत् पर प्रभाव डालकर तत्तत् प्रकृतिके अधिनायक देवताको इस प्रकार मन्त्रद्वारा वशीभूत किया जा सकता है और आसुरी प्रकृतिपर विराजमान पिशाच, दैत्य, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि तामसिक शक्तियोंको भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा साधक वशीभूत कर सकते हैं। इसके सिवाय विविध प्रकारकी अस्त्र-सिद्धि भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा हो सकती है जैसा कि आर्यशास्त्रमें वर्णित किया गया है। रामायण और महाभारतमें जो दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि शस्त्रोंके प्रयोगका प्रमाण मिलता है सो इसी प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा सिद्ध अस्त्रसमूह है। उन मन्त्र समूहको चैतन्य करके अपनी प्राणशक्तिके साथ शत्रुपर प्रयोग करनेसे प्राणशक्ति और मन्त्रशक्तिसे पूर्ण अस्त्रसमूह

लक्ष्यस्थल पर जाकर अवश्य ही ईप्सित फल उत्पन्न करेंगे इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। कोई कोई अर्वाचीन पुरुष अस्त्रसिद्धि पर इस तरह कटाक्ष करते हैं कि जब मन्त्रमें शक्ति है तो उच्चारण करनेवालोंकी जिह्वा क्यों नहीं जल जाती। उनके इस बालवत् प्रलापपर धन्यवाद है!! सामान्य दृष्टान्तके द्वारा समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सूर्य्यकिरणमें दग्ध करनेकी शक्ति होने पर भी जहाँ तहाँ वह शक्ति दग्ध नहीं कर सकती है परन्तु आतसी काँचके द्वारा आकृष्ट होकर जहाँ पर वह शक्ति केन्द्रीभूत (focus) की जाती है वहाँ पर ही वस्तुको दग्ध कर सकती है, उसी प्रकार मन्त्रमें शक्ति होने पर भी वह शक्ति मन्त्रमें साधारणरूपसे व्याप्त रहती है परन्तु जिस वस्तु पर लक्ष्य करके अन्तःकरणकी एकाग्रता और प्राणशक्तिके द्वारा वह मन्त्र अस्त्रकी सहायतासे प्रयुक्त होता है वहीं जलाना, मार देना, मुग्ध कर देना आदि अद्भुत क्रियाओंको कर सकता है। प्रत्येक मन्त्रकी सिद्धि, साध्य वस्तु पर भावशक्तिके द्वारा केन्द्रीकरण (focus) होनेसे तब हो सकती है, जहाँ तहाँ नहीं हो सकती है। जिस साधकके अन्तःकरणमें भावशक्ति तथा प्राणशक्तिकी जितनी प्रबलता होगी, मंत्रोंके द्वारा अस्त्रप्रयोग, मंत्रसाधन द्वारा आसुरी शक्ति तथा देवताओंका वशीकरण और श्रीभगवान् तककी भी प्रसन्नता प्राप्ति वह उतना ही कर सकेगा।

मंत्रयोगमें जो नाम तथा रूपके द्वारा साधनकी विधि बताई गई है उसमेंसे दिव्यनाम अर्थात् मन्त्रके द्वारा ऊपर लिखित उपायसे इष्टदेवकी साधना हुआ करती है। इष्टदेवको लक्ष्य करके इष्टदेवमन्त्रका जप तथा उसकी अर्थभावना करते करते साधक जिस प्रकृतिके साथ इष्टदेव तथा मंत्रका सम्बन्ध है उसमें अपनी चित्तवृत्तिको विलीन कर सकते हैं। जिस प्रकार रूपके अवलम्बनसे भावमें और भाव द्वारा भावग्राही भगवान्‌में आत्मा विलीन होता है उसी प्रकार मंत्रसाधन द्वारा मन्त्रमूलक प्रकृति और उस प्रकृतिके अधिनायक इष्टदेवतामें आत्मा विलीन होता है। इस प्रकारसे व्यापक प्रकृतिके साथ मंत्रके द्वारा जितनी अपने आत्माकी एकता होती है उतनी ही व्यापक प्रकृतिकी शक्तिको साधक प्राप्त कर सकता है और अन्तमें मन्त्र और देवताका भेद भूलकर दैवी प्रकृतिमें विराजमान इष्टदेवतामें साधकका आत्मा लवलीन हो भावसमाधिको प्राप्त करता है। जिस नाम तथा रूपके अवलम्बनसे जीव संसारमें बद्ध हो गया था उसी नाम तथा रूपको दिव्यभावके साथ आश्रय करके जीव इस तरहसे नामरूपनिर्मुक्त ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। नामरूपमय

मंत्रयोगकी साधनाके द्वारा अन्तमें सविकल्प समाधिरूप महाभाव समाधिको प्राप्त करके साधक चिन्मय निराकार तथा निर्गुण ब्रह्मकी राजयोगोक्त साधनाका अधिकार लाभ करता है जिसके गुरुमार्गप्रदर्शित नियामत षोड़शाङ्गके साधन द्वारा अंतमें निर्विकल्प समाधि पदवीको प्राप्त करके साधक मुक्त हो जाता है। यही सकल साधनाका अंतिम फल है।

मंत्रयोगोक्त नाम तथा रूपके आश्रयसे मायाबद्ध जीव किस प्रकारसे माया निर्मुक्त हो सकता है सो ऊपर बताया गया है। अब नामरूपमय मंत्रयोगोक्त साधनप्रणाली कितने अंगोंमें विभक्त है सो बताया जाता है। मंत्रयोगकी साधनप्रणाली सोलह अंगोंमें विभक्त है, यथा-योगशास्त्रमें—

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोड़शाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोड़श शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

चन्द्रकी सोलह कलाकी तरह मंत्रयोग भी सोलह अंगोंसे पूर्ण है। ये सोलह अंग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि। नीचे संक्षेपसे प्रत्येक अंगका रहस्य वर्णन किया जाता है।

(१) भक्ति—भक्तिके तीन भेद हैं, यथा-वैधी, रागात्मिका और परा। इन तीनोंका पूर्ण रहस्य पहलेही पृथक् प्रबन्ध द्वारा बताया गया है। भक्त त्रिगुण भेदसे त्रिविध होते हैं, यथा-आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और चतुर्थ ज्ञानी जो त्रिगुणातीत हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें भी लिखा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

ज्ञानी भक्त ही पराभक्तिका अधिकारी हो सकता है। त्रिगुणभेदसे उपासक तीन प्रकारके होते हैं। ब्रह्मोपासक सबमें श्रेष्ठ है। ब्रह्मबुद्धिसे सगुणोपासक और ब्रह्मबुद्धिसे अवतारोपासक इसी श्रेणीमें हैं। सकामबुद्धिसे ऋषि, देवता और पितरोंकी उपासना करने वाले द्वितीय श्रेणीके हैं।

और क्षुद्र शक्तिओंकी उपासना करने वाले तृतीय श्रेणिके हैं। उपदेवता, प्रेतादिककी उपासना इसी निम्नश्रेणीमें समझी जाती है।

(२) शुद्धि—शुद्धिके शरीर, मन, दिक् और स्थान भेदसे चार भेद हैं। वेही स्थानशुद्धि, दिक्शुद्धि कायशुद्धि और आभ्यन्तर शुद्धि कहे जाते हैं।

दिक्शुद्धि।

आसीनः प्राङ्मुखो नित्यं जपं कुर्याद्व यथाविधि।
रात्रावुदङ्मुखः कुर्याद्व दैवकार्यं सदैव हि॥
दिक् शुद्ध्या साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः॥

योगसंहिता।

पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख बैठकर नित्य यथाविधि जप करें और रात्रिको उत्तर मुख बैठकर देवकार्य सदा करें। दिक्शुद्धि द्वारा साधकको साधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है और साधकका मन वशीभूत होता है। अतः दिक्शुद्धिका विचार अवश्य रखना चाहिये।

कायशुद्धि।

साधन क्रियाके अर्थ मनुष्यको स्नान कार्य सबसे प्रथम करना चाहिये। शास्त्रमें सात प्रकारका स्नान कहा गया है—

मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानं प्रकीर्त्तितम्॥
आपोहिष्ठादिभि र्मान्त्रं भौमं देहप्रमार्जनम्।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम्॥
यत्तदातपवर्षेण स्नानं दिव्यमिहोच्यते।
वारुणं चावगाहः स्यान्मानसं विष्णुचिन्तनम्॥

योगसंहिता।

मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस—स्नानके सात भेद हैं। 'आपोहिष्ठा' आदि मन्त्र और जल आदिसे जो स्नान किया जाता है उसका मान्त्रस्नान कहते हैं। शरीरको वस्त्रसे भली प्रकार पोछनेको भौम स्नान कहते हैं। भस्मधारण करनेसे आग्नेय स्नान कहा जाता है। गोरजको शरीर पर लेपन अथवा शरीरमें उसका स्पर्श वायव्य स्नान है। वृष्टिपात होते समय यदि सूर्यका आतप हो तो उस समय वृष्टिजलमें स्नान करनेसे

दिव्यस्नान कहाता है। जलमें डूबकर स्नान करनेसे वारुण स्नान कहाता है और अनन्तसूर्यके समान प्रभायुक्त, चतुर्भुज सत्त्वगुणमय विष्णु भगवान्के रूपका ध्यान ही मानसस्नान है। इस प्रकार बाह्यशुद्धि द्वारा आत्मप्रसाद और इष्टदेवकी कृपा उपलब्ध होती है।

स्थानशुद्धि ।

गोमयेन यथा स्थानं कायो गंगोदकेन च ।
पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः ॥
गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतनकाननम् ।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम् ॥

योगसंहिता ।

जिस प्रकार गङ्गाजलसे शरीरकी शुद्धि होती है और गोमयसे स्थानकी शुद्धि होती है उसी प्रकार पञ्चशाखायुक्त स्थान अर्थात् अश्वत्थ, वट, बिल्व, आमलकी और अशोक यह पञ्चवृक्षयुक्त पञ्चवटीके नीचेका स्थान सिद्धियोंका देनेवाला है। गोशाला, गुरुगृह, देवमन्दिर, वनस्थान, तीर्थादि पुण्यक्षेत्र और नदीतीर ये सदाही पवित्र समझे जाते हैं। स्थानशुद्धिके द्वारा पवित्रता तथा पुण्यवृद्धि होती है।

अन्तःशुद्धि।

अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोग, निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति आदि जो गीताजीमें दैवी सम्पत्तिके लक्षण कहे गये हैं उनके अवलम्बन द्वारा अन्तःशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण निर्मल हुआ करता है। गीतोक्त आसुरी संपत्तिको छोड़कर दैवीसंपत्तिका लाभ करना ही अन्तःशुद्धि है जिसके द्वारा इष्टदेवका दर्शन तथा समाधिकी प्राप्ति होती है।

(३) आसन—मंत्रयोगमें हितप्रद होनेके कारण प्रधानतः दो आसन लिये गये हैं, यथा–स्वस्तिक तथा पद्मासन। आसन भेद, आसनशुद्धि और आसनक्रिया इन तीनोंके द्वारा आसनसिद्धि होती है। सकाम निष्काम विचार, उपासना-पद्धति और कामनाके तारतम्यसे आसनभेद निर्णीत हुए हैं। पट्टवस्त्र, कम्बल, कुशासन, सिंहचर्म और मृगचर्मके आसन अतिशुद्ध कहाते हैं और ये सबही सिद्धिफलके देनेवाले हैं। काम्यकर्मके अर्थ कम्बलासन श्रेष्ठ है; परन्तु रक्त कम्बलनिर्मित आसन ही सबसे उत्तम समझा जाता है। कृष्णाजिन अर्थात् काले मृगके चर्मके आसनसे ज्ञानकी सिद्धि, व्याघ्रचर्मसे मोक्षकी सिद्धि,

कुशासनसे आयुकी प्राप्ति और चैल अर्थात् रेशमके आसनसे व्याधिका नाश हुआ करता है और प्रथम चैल उनके नीचे अजिन और सबसे नीचे कुशासन इस प्रकार गीतोक्त—

"चैलाजिनकुशोत्तरम्"

के क्रमसे आसन निर्माण करनेसे योगसाधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है। पृथिवीको आसन बनानेसे दुःखकी प्राप्ति, काष्ठासनसे दुर्भाग्यका उदय, वंशनिर्मित आसनसे दरिद्रता, पाषाणनिर्मित आसनसे व्याधिकी उत्पत्ति, तृणके आसनसे यशकी हानि, पल्लवके आसनसे चित्तविभ्रमकी प्राप्ति और वस्त्रनिर्मित आसनसे जप, ध्यान और तपकी हानि हुआ करती है, इस कारण ये सब आसन निषिद्ध हैं। सिंहचर्म, व्याघ्रचर्म और कृष्णसारचर्म पर गुरुदीक्षाविहीन गृहीको कदापि बैठना उचित नहीं है। ऐसे आसनों पर गृहस्थगण केवल गुरु आज्ञा पानेसे ही बैठ सकते हैं; परन्तु स्नातक ब्रह्मचारिगणको इन आसनों पर उदासीनके समान बैठना चाहिये। उचित आसन पर बैठकर पृथ्वी इस मंत्रके ऋषिका नाम उच्चारण पूर्वक, यथा–मेरु आदि क्रमसे छन्द आदिका उच्चारण कर

"आसने विनियोगः"

मंत्रद्वारा आसनकी शुद्धि करके सुखपूर्वक जपपूजा आदि करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है और अन्यथा करनेसे साधनकार्य निष्फल हुआ करता है। इन सब विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(४) पंचांग सेवन योगशास्त्रमें लिखा है—

गीतासहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च।
हृदयं चेति पंचैते पंचागं प्रोच्यते बुधैः॥

गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय इन्हें विद्वानोंने पंचाङ्ग कहा है. स्व स्व उपासना सम्प्रदायके अनुसार गीता और स्व स्व पद्धतिके अनुसार सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदयके प्रतिदिन पाठ करनेसे योगी कल्मषरहित होता हुआ योगसिद्धिको प्राप्त करता है। पंचोपासनाके अनुसार गीता पांच हैं—भगवद्गीता, (विष्णुगीता) गणेशगीता, (धीशगीता) भगवतीगीता, (शक्तिगीता) सूर्यगीता और शिवगीता (शम्भुगीता) इसी प्रकार सहस्रनाम भी पृथक् पृथक् पांच हैं और अनेक पद्धतिके अनुसार स्व स्व उपासनामूलक स्तव, कवच और हृदय अनेक हैं सो साधकका गुरूपदेशद्वारा प्राप्त करने योग्य हैं।

सब गीताओंमें जगज्जन्मादिकारण विचारसे एक अद्वितीय ब्रह्मके विचित्र भावमय विज्ञानका वर्णन किया है, क्योंकि पञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है ।

(५) आचार—योगशास्त्रमें लिखा है—

आचारस्त्रिविधः प्रोक्तः साधकानां मनीषिभिः ।
दिव्यदक्षिणवामाश्चाधिकाराः सप्त कीर्त्तिताः ॥
सप्ताधिकारा विदुषः साधकस्य मता इमे ।
दीक्षा ततो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च ॥
ततो महापुरश्चर्याऽभिषेकस्तदनन्तरम् ।
षष्ठो महाभिषेकश्च तद्भावोऽन्तिम ईरितः ॥

साधकोंके अर्थं त्रिविध आचारोंका वर्णन आचार्योंने किया है, यथा—दिव्य, दक्षिण और वाम । और साधकके अधिकार सात कहे गये हैं, यथा दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक, महाभिषेक और तद्भाव । आचारोंके विषयमें वर्णन पहले ही तन्त्रप्रकरणमें बहुत कुछ किया गया है अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है । अब साधकके सात अधिकारोंका वर्णन किया जाता है । जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता तथा मन्त्रका उपदेश दें तो वह संस्कार दीक्षा कहाता है । तदनन्तर साधकको उपयुक्त समझकर जब गुरुदेव साधनके साथ गुरुलक्ष्ययुक्त योग क्रियाओंका उपदेश देना प्रारंभ करते हैं और शिष्यको प्रतिज्ञाबद्ध कर दिया करते हैं तो वह दूसरा उन्नत अधिकार महादीक्षा कहाता है । जिस गुरुलक्ष्ययुक्त साधन द्वारा साधक क्रमशः मंत्रसिद्धिको प्राप्त करता है उसे पुरश्चरण कहते हैं । ग्रहण आदि शुभकालोंमें जो साधारण रीति पर मंत्रपुरश्चरण किया जाता है वह क्रिया पुरश्चरण शब्दवाच्य है और विशेष क्रियासाध्य, कालसाध्य और उपदेशसाध्य जो पुरश्चरण होता है उसको महापुरश्चरण कहते हैं । पुरश्चरण द्वारा सिद्धिलाभ करनेसे साधक उन्नत अधिकारोंको प्राप्त हो जाता है । जब गुरुदेव शिष्यको साधन सम्बन्धीय गुप्त रहस्योंके उपदेश देनेके उपयोगी समझते हैं तो संस्कारोंके प्रदान द्वारा गुरुदेव उस शिष्यको गुप्त रहस्योंके भेद बताकर आनन्दराज्यका अधिकारी किया करते हैं । उस विधिका अभिषेक कहते हैं । पञ्चदेवात्मक पञ्चसम्प्रदायोंमें इस अभिषेकके स्वतन्त्र स्वतन्त्र नाम सुननेमें आते हैं । जब श्रीगुरुदेव उन्नत तम-संस्कार द्वारा साधकको अपने समान करके अपनेमें मिला लेते हैं उसको महाभिषेक कहते हैं । कहीं कहीं इसको पूर्णाभिषेक भी कहा करते हैं । आध्यात्मिक उन्नति द्वारा जब

उपासक सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त करके नामरूपकी ऐक्यता प्राप्त करनेको समर्थ होने लगता है उसी सर्वोत्तम अधिकारको तद्भाव कहते हैं। इस भाव द्वारा साधककी अपने इष्टदेवके साथ एकता स्थापन होने लगती है और इसी अवस्थासे महाभावकी प्राप्ति हुआ करती हैं। इन सभोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(६) धारणा—बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे धारणा दो प्रकारकी होती है। मन्त्रयोगमें धारणा परम सहायक है। बहिः पदार्थोंमें मनके योगसे बहिर्धारणाका साधन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्जगत्के विषयोंमें मनके योगसे अन्तर्धारणाका साधन होता है। धारणाकी सिद्धि श्रद्धा और योगमूलक है। योगशास्त्रमें लिखा है—

भक्तिर्जपस्य संसिद्धिराचारः प्राणसंयमः।
साक्षात्कारो देवताया दिव्य देशेषु नित्यशः॥
देवशक्तिविकाशो वै ऽभीष्टदर्शनमेव च।
लभ्यन्ते धारणासिद्धया सर्वाणीति विनिश्चयः॥

धारणामें सिद्धि प्राप्त करनेसे योगी मन्त्रसिद्धि, भक्ति, आचार, प्राणसंयम, देवतासान्निध्य, दिव्यदेशमें दैवीशक्तिका आविर्भाव और इष्टरूपदर्शन, यह सब प्राप्त करते हैं। मंत्रमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये मन्त्रोंका संस्कार और मन्त्रचैतन्य करना होता है जो निम्नलिखित दश प्रकारसे हो सकता है। सरस्वती तन्त्रमें लिखा है—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।
शतकोटि जपेनापि तस्य विद्या न सिद्ध्यति॥

मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्राके न जाननेसे चैतन्यविहीन तथा संस्कारविहीन मन्त्रके शतकोटि जपके द्वारा भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है अतः मन्त्रोंका संस्कार अवश्य करना चाहिये। जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गुप्ति इन दशविध संस्कारोंके द्वारा मन्त्रकी सिद्धि हुआ करती है। योगशास्त्रोक्त मातृकायन्त्र द्वारा मन्त्र वर्णोंके उद्धारको 'जनन' कहते हैं। उद्धृत वर्णोंको पंक्तिके क्रमसे लिखकर प्रत्येक वर्णको प्रणव द्वारा पुटित करके एक एकको शतवार अथवा दश वार जप किया जाय तो इस प्रकारकी जपक्रियाको 'जीवन' कहते हैं। मन्त्रके वर्णोंको पृथक् पृथक् लिखकर 'वं' मन्त्र द्वारा चन्दनोदकसे दश अथवा शतवार ताड़न करनेको

मुनिगण 'ताड़न' क्रिया कहते हैं। मन्त्रके वर्णोंको पृथक् पृथक् रूपसे लिखकर मन्त्रवर्णोंकी संख्याके अनुसार रक्त करवीर-पुष्पों द्वारा 'रं' इस मन्त्रसे मन्त्र वर्णोंको हनन करे तो इस क्रियाका नाम 'बोधन' होगा। मन्त्रवर्णोंको लिखकर मन्त्राक्षर संख्याके अनुसार रक्त करवीर पुष्पों द्वारा 'रं' इस मन्त्रसे एक एक वार वर्णोंको अभिमन्त्रित करके उस मन्त्राक्तविधानके अनुसार अश्वत्थपल्लव द्वारा मन्त्रवर्णोंकी संख्याके अनुसार अभिसिञ्चित करनेसे अभिषेक क्रिया होती है। सुषुम्नाके मूलभाग और मध्यभागमें मन्त्रचिन्तन करके ज्योतिर्मन्त्र अर्थात् 'ओं ह्रौं' इस मन्त्रसे मलत्रय दग्ध करनेको 'विमलीकरण' कहते हैं। स्त्रियोंसे जो मल उत्पन्न होता है उसको 'मायिक', पुरुषोंसे जो मल उत्पन्न होता है उसे 'कर्म्मण' और दोनोंसे जो मल उत्पन्न हो उसे 'आनव्य' कहते हैं। ये मलत्रय साधनके बाधक हैं। तार=ओं, व्योम=ह, अग्नि=र, मनु=औ और दण्डी=म इन सबोंके मेलसे 'ओंह्रौं' हुआ करता है जिसको ज्योतिर्मन्त्र कहते हैं। मन्त्र वर्णोंको स्वर्णके जलमें, कुशजलमें अथवा पुष्पजलमें पूर्वलिखित रीतिके मन्त्रसे अर्थात् ज्योतिर्मन्त्रसे विधिपूर्वक आप्यायन करनेको 'आप्यायन' कहते हैं। पूर्वकथित ज्योतिर्मन्त्र द्वारा जलसे मन्त्रपर तर्पण करनेको 'तर्पण कहते हैं। शक्तिमन्त्रको मधुसे, विष्णुमन्त्रको कर्पूरमिश्रित जलसे और शिवमन्त्रको दुग्ध द्वारा तर्पण करनेकी विधि शास्त्रोंमें कथित है। तार=ओं, माया=ह्रीं और रमा=श्रीं इनके द्वारा अर्थात् "ओं ह्रीं श्रीं" इस मन्त्र द्वारा मन्त्रके दीपन करनेको "दीपन क्रिया" कहते हैं। और जिस मन्त्रका जप किया जाय उसे अति गुप्त रखनेको "गुप्ति क्रिया" कहते हैं। यही मन्त्रोंके दशसंस्कार हैं जिनके द्वारा मन्त्रको संस्कृत और चैतन्ययुक्त करके जप करनेसे साधक इच्छित फलको प्राप्त कर सकता है।

(७) दिव्यदेशसेवन—योगशास्त्रमें लिखा है—

> यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
> पयोधराभ्निःसरतीह केवलम्।
> तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतो
> विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः॥

जिस प्रकार गौके सर्वशरीरमें दुग्ध व्याप्त रहनेपर भी केवल स्तन द्वारा ही क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माकी शक्ति सर्वव्यापक होनेपर भी उसका विकाश दिव्यदेशोंके द्वारा ही होता है। योगशास्त्रमें सोलह प्रकारक दिव्यदेश कहे गये हैं। यथा—

तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडश प्रोक्ता यथाऽत्र कथ्यन्ते।
अग्न्यम्बुलिङ्गवेद्यो भित्तौ रेखा तथा च चित्रं च॥
मण्डलविशिखौ नित्यं यन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च।
मूर्त्तिर्विभूतिनाभी हृदयं मूर्धा च षोडशैते स्युः॥

वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुड्य, पट, मण्डल, विशिख, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय और मूर्द्धा येही सोलह दिव्य-देश हैं। इन दिव्य देशोंमें किस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश होता है सो 'विग्रह' या प्रतिमारूप दिव्यदेशमें शक्तिविकाशके प्रसङ्गमें पूर्णरूपसे पहले ही वर्णन किया गया है। साधकके अधिकारानुसार इन दिव्य देशोंमें उपासना करनेका उपदेश उसको प्राप्त होता है। योगसिद्धि प्राप्त करनेमें ये सभी परम हितकर हैं। धारणाकी सहायतासे दिव्य देशोंमें इष्ट देवताका आविर्भाव होता है। मृण्मय आदि मूर्त्तियोंमें प्रथम देवताका आवाहन करके पूजा आरम्भ करना उचित है, परन्तु प्रतिष्ठित देवविग्रह, संस्कृत अग्नि अथवा जलमें आवाहन और विसर्जनकी आवश्यकता नहीं रहती।

(८) प्राण क्रिया—मन, प्राण और वायु ये तीन एक सम्बन्धसे युक्त हैं। वायु और प्राण, कार्य और कारणरूप हैं इस कारण प्राणायाम क्रिया-के साथ न्यास क्रियाका एकत्व सम्बन्ध है। प्राणायामके विस्तारित भेद हठ-योगके आचार्योंने वर्णन किये हैं जो आगे बताये जायंगे। मन्त्रयोगमें सहित प्राणायाम ग्रहण किया गया है और सहज प्राणायामका भी उपदेश कोई कोई आचार्य करते हैं। न्यासके कई भेद हैं उनमेंसे सात प्रधान हैं जो यथाधिकार गुरुदेवसे सीखने योग्य हैं। साधारण उपासनामें करन्यास और अङ्गन्यास ही उपयोगी होते हैं। विस्तारित उपासनामें ऋष्यादिन्यास और मातृकान्यास अवश्य करणीय हैं। इन सबोंके प्रमाण और विस्तृत वर्णन योग-शास्त्रमें द्रष्टव्य हैं।

(९) मुद्रा—योगशास्त्रमें लिखा है—

मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पापसन्ततेः।
तस्मान्मुद्रेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥

मुद्राओंके द्वारा देवताओंका आनन्दवर्द्धन होता है और साधकके पापों-का भी नाश होता है इस कारण मुनियोंने इनकी मुद्रा संज्ञा की है। पूजन,

जप, ध्यान, आवाहन आदि कार्यौंमें उन कार्यौंके लक्षणानुसार मुद्राओंका प्रदर्शन करना उचित है। आवाहन आदि नौ प्रकारकी मुद्रा सर्वसाधारणी मानी गई है और षडङ्ग मुद्रा भी सब कामोंके लिये प्रशस्त है। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड़, नारसिंही, वाराही, हायग्रीवी, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहनिका और कम्भनाभिका, इन उन्नीस मुद्राओं द्वारा श्रीविष्णु भगवान्‌को आनन्द प्राप्त होता है। लिंग, योनि, त्रिशूल, माला, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल और डमरू ये दश मुद्रायें श्रीमहादेवको आनन्दित करनेवाली हैं। श्रीसूर्य उपासनाके अर्थ एकमात्र पद्ममुद्रा ही कही गई है। श्रीगणेशपूजाके अर्थ दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशु, लड्डुक और बीजपूरमुद्रा ये सात मुद्राएं वर्णित हैं और पाश, अंकुश, वर, अभय, खड्ग, चर्म, धनु, शर और मूसल ये नौ मुद्रा दुर्गा देवीकी अतिप्रिय हैं। पञ्चोपासनामें विहित इन मुद्राओंके अतिरिक्त अन्यान्य देवदेवियोंके प्रीत्यर्थ भी अनेक मुद्राओंका वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है जो विस्तारभयसे नहीं दिया गया। ज्ञानमुद्रा, भक्तिमुद्रा, तपोमुद्रा, कर्ममुद्रा, दानमुद्रा इन सब मुद्राओंसे ऋषिगण प्रसन्न होते हैं वरमुद्रा और अभयमुद्रा आदिसे ऋषि, देवता और पितर तथा लोकत्रयवासी प्रसन्न होते हैं। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१०) तर्पण—योगशास्त्रमें वर्णन है, यथा—

तर्पणाद्‌देवताप्रीतिस्त्वरितं जायते यतः।
अतस्तत्तर्पणं प्रोक्तं तर्पणत्वेन योगिभिः॥

देवताग तर्पण द्वारा शीघ्र तृप्त होते हैं इस कारण इसका नाम तर्पण है। तर्पण निष्काम और सकाम भेदसे दो प्रकारका होता है। कामनाके अनुसार तर्पण करनेके द्रव्य भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हैं। तर्पण मन्त्रयोगका एक प्रधान अङ्ग है। इष्ट तर्पणके अनन्तर ऋषितर्पण, अन्य देवतर्पण और पितृतर्पण करनेकी विधि है। तर्पणकी विशेषता यह है कि विधिपूर्वक तर्पण करनेसे देवयज्ञ भूतयज्ञ और पितृयज्ञ करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अपने इष्टदेवको शीघ्र प्रसन्न करनेकी इच्छा यदि कोई रक्खे तो विधिपूर्वक प्रतिदिन तर्पण किया करे। मधुसे तर्पण करनेसे सकल अभीष्ट पूर्ण होते हैं, मन्त्रकी सिद्धि होती है और सम्पूर्ण महापातक नष्ट हो जाते हैं। घृतसे तर्पण करनेसे पूर्ण आयु होती है। आरोग्य प्राप्तिके लिये दुग्धसे तर्पण करना चाहिये। नारिकेलजलयुक्त

जलसे तर्पण करनेसे निखिल अभीष्टोंकी सिद्धि होती है इत्यादि इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकार तर्पणके फल आर्षशास्त्रमें वर्णित किये गये हैं।

(११)—हवन-योगशास्त्रमें हवनविधि निम्नलिखित रूपसे वर्णित की गई है—

अर्घ्योदकेन सम्प्रोक्ष्य तिस्रो रेखाः समा लिखेत्।
विधिवदग्निमानीय क्रव्यादिभ्यो नमस्तथा॥
मूलमन्त्रं समुच्चार्य्य कुण्डे वा स्थंडिलेऽपि वा।
भूमौ वा संस्तरेद्व वह्निं व्याहृतित्रितयेन च॥
स्वाहान्तेन त्रिधा हुत्वा षड़ङ्गं हवनं चरेत्।
ततो देवीं समावाह्य मूलेन षोडषाहुतीः॥

अर्घ्योदकसे भूमिशोधन करके तीन रेखा खींचे और विधिपूर्वक अग्नि लाकर—क्रव्यादिभ्यो नमः इस मन्त्रका तथा मूलमंत्रका उच्चारण करके कुण्डमें, स्थण्डिलमें अथवा भूमिपर व्याहृतित्रयसे अग्नि स्थापन करे। स्वाहान्त मन्त्रसे तीन वार हवन करके षडङ्ग हवन करे और स्व स्व सम्प्रदायानुसार इष्टदेवका आवाहन करके मूलमन्त्रसे षोडश आहुति देवे। इस प्रकार हवन करके स्तुति करे और इन्दुमण्डलमें उसका विसर्जन कर देवे। नित्य होमके द्वारा इष्टदेव प्रसन्न होते हैं, सब देवियोंकी तृप्ति और अभीष्ट सिद्धि होती है। वैष्णव, शाक्त शैव आदि सभी सम्प्रदायोंके साधकोंको नित्य हवन करना उचित है। प्रथम इष्टदेवके प्रीत्यर्थ आहुति देकर अन्य देव देवियोंको इष्टदेवके अङ्गीभूत समझकर उनके संवर्द्धनार्थ भी आहुति प्रदान करना उचित है।

(१२) बलि—इष्ट उपासनामें विना विघ्नोंकी शान्तिके सफलता नहीं होती। विघ्नोंकी शान्तिके लिये बलिदान किया जाता है। बलिके साधनमें आत्म-बलि सबसे श्रेष्ठ है। आत्मबलि द्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य होता है। बलिके साधनमें काम क्रोधादिक रिपुओंकी बलि द्वितीय स्थानीय हैं। ये सब अन्तर्यागसे सम्बन्ध रखने वाले विषय हैं। पूजाके अनन्तर अवशिष्ट द्रव्य द्वारा जो बलि दी जाय तो इष्टदेवकी प्रसन्नताके अर्थ उत्तम फलोंकी बलि दी जाती है। किसी किसी सम्प्रदायमें यज्ञपशुओंकी बलि देनेकी भी विधि प्रचलित है। ये सब बलिके भेद त्रिगुण भेदसे माने गये हैं जिनका वर्णन और स्वरूपनिर्णय पहलेही किया जा चुका है। प्रथम विधिपूर्वक अपने इष्टदेवको बलि

समर्पण करके अन्य देवताओंको बलि देवे और भक्तियुक्त साधक तदनन्तर पितरोंके तृप्त्यर्थ बलिदान करे। पुनः भूतोंकी तृप्तिके लिये, श्वा, श्वपच और पक्षियोंके तृप्तिके लिये भूमिपर अन्न रक्खे। यह वैश्वदेव विधि प्रातः और सन्ध्याके समय करना उचित है। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१३) याग—अन्तर्याग और बहिर्याग भेदसे याग दो प्रकारका होता है। अन्तर्यागकी महिमा सर्वोपरि है। मानस याग, मानस जप और मानस कर्मके लिये कालशुद्धि, देशशुद्धि और शरीरशुद्धिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती। वह सब समयमें समानरूपसे हो सकता है। षोडश दिव्यदेशोंमेंसे किसी देशके अवलम्बनसे यागका साधन करना उचित है। स्थूलदेशसे सूक्ष्म देश कोटिगुण फलप्रद है। यागकी सिद्धिके अनन्तर जपकी सिद्धिके साथ ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानकी सिद्धिसे समाधिकी प्राप्ति होती है। यागकी सिद्धोके द्वारा देवताका साक्षात्कार और दिव्यदेशोंमें इष्टदेवका आविर्भाव भी होता है।

बाह्यपूजामें प्रथम मूलमन्त्रका उच्चारण करके पुनः देयवस्तुका उच्चारण करे। पुनः सम्प्रदानका अर्थात् जिसको वस्तु समर्पण किया जाय उसका उच्चारण करके समर्पणार्थक पदका उच्चारण करे। इस प्रकार सब उपचार देवताको अर्पण करना चाहिये। पूजामें एकविंशति, षोडश, दश और पञ्च, इस प्रकार चार उपचारके भेद योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने किये हैं। आवाहन, स्वागत, आसन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, आर्ति, नमस्कार और विसर्जन ये एक विंशति उपचार हैं। आवाहन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, आर्ति, प्रणाम, ये षोडशोपचार पूजाकी सामग्री है, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य ये दश, उपचार हैं। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य, ये पञ्चोपचार हैं। प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१४) जप-योगसास्त्रमें लिखा है—

मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्त्तितः।
जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः॥

जो मनन करनेसे त्राण करे उसे मन्त्र कहते हैं, जप करते करते

साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सांसारिक विषयोंसे मनको हटाकर मन्त्रके अर्थका अनुगमन करता हुआ और उच्चारणमें न बहुत शीघ्रता और न विलम्ब किन्तु मध्यम वृत्तिसे जप करे। मन्त्रका वार वार आवर्त्तन करनेको जप कहते हैं, वह तीन प्रकारका होता है, यथा-मानस, उपांशु और वाचिक। जिस मन्त्रको जप करने वाला भी न सुन सके वह मानसिक जप है। उपांशु जप उसे कहते हैं कि जो जप करनेवालेको सुनाई पड़े और जो मन्त्र वचनसे उच्चारण किया जाय और दूसरेको भी सुनाई पड़े वह वाचिक जप है। वाचिक जपसे उपांशु जप और उपांशुसे मानस जप श्रेष्ठ है। अति शनैः शनैः जप करनेसे रोग होता है और अति शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय होता है। अतः परस्परमें मिला हुआ मौक्तिक हारकी नाईं जप करे। जो साधक जप करते समय मन, शिव, शक्ति और वायुका संयम न कर सके, वह चाहे कल्प पर्यन्त क्यों न जप करे परन्तु सिद्धि दुर्लभ ही है। उपासकोंको उचित है कि देवमन्दिर अथवा साधन-उपयोगी पवित्र एकान्त घरमें बैठकर साधन करे। साधन स्थान गोमय, गङ्गाजल आदिसे संशोधित रहना उचित है और उत्तम भावपूर्ण चित्रोंसे परिशोभित रहना उचित है जिससे चित्तमें पवित्रता उत्पन्न हो। साधनगृहमें तामसिक और राजसिक कार्य तथा असत् पुरुषोंका प्रवेश होना उचित नहीं है। मोक्षाभिलाषी साधक गङ्गातट, पञ्चवटी, अरण्य, मशान, तीर्थ आदि प्रदेशोंको स्व स्व सम्प्रदायके अनुसार सेवन करके साधन करें। विशेष सिद्धि लाभ करनेकी इच्छा हो तो भूगर्त्तमें योगगुहा बनाकर निरुपद्रव हो साधन करें।

विशेष प्रकारसे पुरश्चरण आदि द्वारा यदि मन्त्रसिद्धि न हो तो पुनः पूर्ववत् करे। उससे भी यदि न हो तो तृतीय वार करे। उससे भी यदि न हो तो शिवकथित प्रमोण, रोधन, वशीकरण, पीडन, शोधन, पोषण और दाहन इन सात प्रकारके उपायोंको क्रमशः अवलम्बन करें। ये सब उपाय गुरुमुखसे जानने योग्य हैं।

अपनी, स्थानकी, मन्त्रकी, पूजासामग्रीकी और देवताकी शुद्धि जबतक न कर लेवे तबतक पूजा करना वृथा है। पञ्चशुद्धिरहित पूजा अभिचार मात्र है। स्नान, भूतशुद्धि, प्राणायाम और सकल षडङ्गन्याससे आत्मशुद्धि होती है। संमार्जन, लेपन, वितान, धूप, दीप, पुष्प, माला आदिसे शोभित और विविध वर्णोंसे भूषित करना, इस प्रकारसे स्थान शुद्धि होती है। मूल मन्त्रके अक्षरोंको मातृकावर्णसे संयुक्त करके दो वार क्रम और उत्क्रमसे पाठ

करनेसे मन्त्रशुद्धि हुआ करती है। पूजापदार्थको जलसे धोकर और मूलमन्त्रसे विधिपूर्वक अभिमन्त्रित करके धेनुमुद्रा दिखलावे तो द्रव्यशुद्धि होती है। मन्त्रज्ञ साधक मूलमन्त्रसे पीठदेवीका प्रतिष्ठापन करे, पुनः पुष्पमाल्य धूप आदि समर्पण करके जलसे तीन वार उसे प्रोक्षण करनेसे देवशुद्धि होती है। इस प्रकार पञ्चशुद्धि विधान करके पूजा करनी उचित है।

उपासनाभेदसे बीजमन्त्र अलग अलग हैं, यथा—कृष्णबीज, रामबीज, शिवबीज, गणपतिबीज इत्यादि। ये सब आठ प्रकार मूलबीजसे अतिरिक्त हैं। पुनः बीजके साथ मूलबीज मिलकर अथवा एक बीजके साथ अन्यबीज मिलनेसे मन्त्रोंकी शक्तिका वैचित्र्य उत्पन्न होता है और पुनः मन्त्र शाखा पल्लवसे संयुक्त होनेपर अन्यभावको धारण करता है। मन्त्रविशेषमें बीज शाखा और पल्लव तीनों होते हैं। शान्ति पुष्प है, इष्ट साक्षात्कार फल है, शाखा और पल्लव केवल भावमय हैं और शक्ति बीजमें निहित रहती है। दृष्टान्तरूपसे कहा जाता है कि जैसे "ओं क्लीं कृष्णाय नमः" इस मन्त्रमें ओं प्रणवरूप सेतु है, क्लीं बीज है, कृष्ण शब्द शाखा है और नमः पल्लव है। चित्तवृत्तिकी शान्ति साधकके लिये पुष्परूप है और श्रीकृष्णरूप इष्टदेवका साक्षात्कार फलस्वरूप है, यही मन्त्रविज्ञानका गूढ़ रहस्य है। कोई कोई मन्त्र बीजरहित और शाखापल्लवसे युक्त रहता है वह भावप्रधान मन्त्र कहा जाता है। साधकका प्रकृति, प्रवृत्ति उपासनाधिकार और चित्तसंवेगकी परीक्षा करके मन्त्रोपदेश देनेपर अवश्य ही साधकको पूर्ण फलकी प्राप्ति होती है। उपनिषद् और मन्त्रशास्त्रोंके ज्ञाता योगी ही मन्त्रका विस्तार ज्ञात करने और यथाधिकार उपदेश देनेमें समर्थ होते हैं। प्रणव, प्रधानबीज, उपासनाबीज, शाखापल्लवसंयुक्तबीज, बीजरहित शाखापल्लवयुक्त मन्त्र, इस प्रकार मन्त्रके पांच भेद हैं। साधककी प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकारकी परीक्षा द्वारा यथावत् मन्त्रोपदेश दिया जाता है। इन विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१५) ध्यान—अध्यात्मभावसे ही मन्त्रयोगके ध्यानोंका आविर्भाव हुआ है जैसा कि पहले विशदरूपसे वर्णन किया गया है। मन्त्रशास्त्रके अनुसार योगियोंने विष्णुकी पूजाके विषयमें प्रधानतः सात प्रकारके ध्यान कहे हैं। भगवतीके पूजनमें प्रधानतः चतुर्विंशति प्रकारके रूप और ध्यानकी कल्पना है। महादेवकी उपासनामें प्रधानतः पांच प्रकारके ध्यान माने गये हैं। सूर्य और गणेशकी पूजामें प्रधानतः दो प्रकारके ध्यान माने गये हैं। अपने

अपने इष्टदेवके रूपको मनसे जाननेको ध्यान कहते हैं। ध्यानही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। जैसे जैसे मनुष्य आत्मध्यान करता है, वैसेही वैसे उसको समाधिकी प्राप्ति होती है। आत्मा केवल ध्यानहीके द्वारा वशीभूत होता है। इस प्रकार जिस मनुष्यकी आत्मा जहां प्रसक्त होती है, वहीं उसे समाधि प्राप्त होती है। नदीका जल जिस प्रकार समुद्रमें जानेसे समुद्रजलसे अभिन्न होता है उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा ध्यानके परिणाममें तद्भाव प्राप्त करके परमात्मासे अभिन्न हो जाती है।

(१) समाधि – जिस प्रकार लययोगकी समाधिको महालय और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं उसी प्रकार मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव कहते हैं। जबतक त्रिपुटी रहती है तबतक ध्यानाधिकार रहता है, त्रिपुटीके लय हो जानेसे महाभावका उदय होता है। मन्त्रसिद्धिके साथ ही साथ देवतामें मनका लय होकर त्रिपुटी नाश होने पर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है। प्रथम मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध रहता है; परन्तु ये तीनों बोध एक दूसरेमें लय होते हुए ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटी लय हो जाती है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु और रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकाश होता है। क्रमशः मन लय होकर समाधिका उदय होता है। समाधि प्राप्ति द्वारा साधक कृतकृत्य हो जाता है। महाभाव प्राप्ति ही मन्त्रयोगका चरम लक्ष्य है।

चतुर्थ काण्डकी द्वितीय शाखा समाप्त हुई।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका तृतीय खण्ड समाप्त हुआ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुम

का

तृतीय खण्ड

समाप्त हुआ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशन विभागकी ओरसे
निगमागम-ग्रन्थ-प्रकाशनका नया आयोजन।

निगमागम ग्रन्थमाला।

पाश्चात्य देशोंमें धार्मिक ग्रन्थप्रकाशनका बड़ा महत्त्व है। वहांके लोग स्वदेश-विदेशोंमें टीका-टिप्पणी और भाष्यों सहित अपने धर्मके ग्रन्थोंका ऐसा प्रकाशन करते हैं जिससे वे सर्वसाधारणको विना मूल्य, स्वल्पमूल्य या नाममात्र मूल्यमें मिल जाते हैं। ग्रन्थ भी सर्ववादिसम्मत, सुलभ, शुद्ध और मधुर भाषामें निकलते हैं तथा इस कार्यमें वहांकी जनता प्रति वर्ष करोड़ों रुपये आनन्द और उत्साहसे व्यय कर देती है।

खेदका विषय है कि अपने इस भारतवर्षमें स्वधर्मके ग्रन्थ अप्राप्य हो रहे हैं। यहांतक कि वेदों और उनकी शाखाओं तकके ग्रन्थोंके शुद्ध संस्करण हमें जर्मनीसे खरीदने पड़ते हैं। श्रीभारतधर्ममहामण्डलने अबतक सहस्रों रुपये व्यय कर टीका टिप्पणी और भाष्यसहित कई दार्शनिक और सनातनधर्मके रहस्य-प्रकाशक ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं और 'धर्मकल्पद्रुम' 'नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत' 'प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत' 'सप्त गीताएं' तथा बालक-बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके उपयोगी कई ग्रन्थ प्रकाशित कर सनातनधर्मावलम्बी जनताका प्रचुर उपकार साधन किया है; परन्तु अर्थाभावसे वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों और पुराणोंके वैज्ञानिक टिप्पणियों, अनुवादों और भाष्यों सहित शुद्ध संस्करण निकालनेमें वह असमर्थ रहा है। यह कार्य अबतक अन्य किसी प्रकाशकने भी अपने हाथमें नहीं लिया। इस अभावकी पूर्तिके लिये इसे अब हाथमें लेनेका महामण्डल विचार कर रहा है और इस कार्यमें समस्त सनातनधर्मावलम्बियोंकी सहायता तथा सहानुभूति प्रार्थनीय है।

विचार ऐसा रक्खा गया है कि इस कार्यमें साधारणसे साधारण व्यक्तिसे लेकर स्वाधीन राजा महाराजा तक हमारा हाथ बटा सकें। इस कार्यमें भाग लेनेवाले महानुभावोंकी चिरकालिक जीवित स्मृतिभी रह जायगी, उन्हें पुण्य और यशकी प्राप्ति होगी तथा सनातनधर्मावलम्बियोंका परम उपकार होगा। इसके लिये निम्नलिखित योजना स्थिर की जाती है:—

(१)—इस ग्रन्थमालाके द्वारा चारों वेदों, उनकी शाखाओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों और पुराणोंके शुद्ध संस्करण वैज्ञानिक टिप्पणियों और हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किये जायंगे और ये सब ग्रन्थ विना मूल्य, स्वल्प मूल्य अथवा नाममात्र मूल्यमें दिये जायंगे।

(२) वेदों उपनिषदों, स्मृतियों, महापुराणों, पुराणों, उपपुराणों आदि शास्त्रीय ग्रन्थोंकी ऐसी बृहत्सूची काशीके प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा बनाई गई है, जिससे प्रत्येक श्लोक और एक ही विषय कहां कहां है, इसका पता लग सकता है ऐसी अद्भुत सूची अबतक कहीं नहीं बनी थी। जो शास्त्रीय ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणियोंके साथ प्रकाशित होंगे, उनके साथ यह सूची भी दी जायगी।

(३) ग्रन्थमालाका प्रत्येक खण्ड डिमाई ८ पेजी फार्मके २०० से ३०० पृष्ठोंके बीच रहेगा और तदनुसार उसका मूल्य १॥) या २) रहेगा।

(४) मालाके सहायक दो प्रकारके रहेंगे। १—संरक्षक और २—पोषक। (क)

देशके स्वाधीन धार्म्मिक नृपतिवृन्द अथवा जो धनी सज्जन केवल एक खण्डकी छपाई एकवार दे देंगे, वे मालाके संरक्षक माने जायंगे। उन्हें मालाकी सब पुस्तकोंकी ५।५ प्रतियां विना मूल्य दीं जायंगी और जो खण्ड वे छपा देंगे, उसमें उनका सचित्र चरित्र छापा जायगा तथा वह खण्ड उन्हींको समर्पित किया जायगा। (ख) जो धनी सज्जन कमसे कम १० सहस्र रुपये ४॥) सैंकड़े सूदपर इस विभागके नामपर भारतधर्म सिण्डिकेट बैंकमें ५ वर्षके लिये फिक्स डिपाजिट रक्खेंगे, उन्हें भी स्थायी संरक्षक समझा जायगा और उनका भी सचित्र चरित्र एक किसी खण्डमें प्रकाशित होकर उन्हें समर्पित किया जायगा।

(५) मालाके पोषक वे होंगे, जो केवल १००) या इससे अधिक हमारे सिण्डिकेटके सैविंगबैंकमें निश्चित समय तकके लिये फिक्स डिपाजिटके रूपमें रख देंगे। जबतक उनका रुपया बंकमें रहेगा, तबतक उसके सूदके द्विगुणित रकमकी पुस्तकें विना मूल्य उन्हें मिला करेंगी। यदि पुस्तकोंका मूल्य बाद करके भी सूदका रुपया बच रहा तो वह उन्हे लौटा दिया जायगा।

(६) महामण्डल ग्रन्थमालाके जो सज्जन १) प्रवेश शुल्क देकर सदस्य हो गये हैं या होंगे, उन्हें पौने मूल्यमें इस मालाके सब ग्रन्थ मिलेंगे।

(७) पूरे मूल्यमें जो ४ पुस्तकें एक साथ खरीदेंगे, उन्हें ५ पुस्तकें भेजी जायंगी। अर्थात् १ प्रति उन्हें विना मूल्य मिलेगी।

सर्वसाधारणको यह विदित ही है कि काशीधाम जैसे हिन्दूजातिके विद्या और धर्मकेन्द्रमें हिन्दूजातिके स्वजातीय शास्त्रप्रकाशनविभागका बृहत्कार्यालय स्थापन करनेके लिये १० लाख रुपयेके प्रस्तावित मूलधनसे कंपनी ऐक्टके अनुसार भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड नामक एक संस्था, थोड़े दिन हुए स्थापित की गई है। जिसमें प्रेस विभाग, बुकडिपो विभाग, शास्त्र प्रकाशन विभाग, सम्वादपत्र विभाग आदि कई विभाग हैं। प्रस्तावित उक्त कार्य उसके शास्त्र प्रकाशन विभाग द्वारा सम्पादित होंगे।

इस योजनाके अनुसार 'निगमागम ग्रंथमाला' से लाभ उठाना सनातनधर्मावलम्बी मात्रका कर्तव्य है। साधारण पोषकोंके ५०० नाम हमारे पास आते ही हम कार्यारम्भ कर देंगे। इस समय केवल नाम ही भेजनेकी कृपा करें। सर्व साधारण और धनी-मानी पुरुषोंसे विनम्र प्रार्थना है कि यथासम्भव शीघ्र अपनी अनुमति लिख भेजनेकी कृपा करें जिससे इस विराट् अभावकी पूर्ति विना विलम्बके की जा सके। श्रीविश्वनाथ आपको दीर्घायु बनावें और आपकी धर्मबुद्धि दिनदिन बढ़ाते रहें। जो सज्जन इस परम शुभ कार्यमें सहायक बनना चाहें, वे मेरे नाम पत्र भेजें।

निवेदक—

गोविन्दशास्त्री दुगवेकर

अध्यक्ष निगमागम ग्रन्थमाला, सिण्डिकेट भवन, बनारस सिटी।

सनातन धर्मकी पुस्तकें।

धर्मकल्पद्रुम।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दूजातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे

धर्मग्रन्थकी थी कि जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारंभ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायंगे। इस ग्रंथसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रंथों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसके सात खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २) चतुर्थका २), पंचमका २) और षष्ठका १॥) एवं सप्तमका २) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। आठवां खण्ड यंत्रस्थ है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

इस ग्रंथमें आर्यजातिका आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। यह ग्रन्थ धर्मशिक्षाके अर्थ बी. ए. क्लासका पाठ्य है। इसके दो खण्ड हैं प्रत्येकका मूल्य १)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित और सुन्दर होकर छप चुका है। यह ग्रन्थ भी बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुंदर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका।

अज्ञाननाशिनी और ज्ञानजननीको विद्या कहते हैं। विद्या दो भागमें विभक्त है, एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। गुरुमुखसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या परा विद्या कहलाती है। परा विद्या ग्रंथोंसे नहीं प्रकाशित होती, परन्तु ग्रन्थोंसे प्रकाशित होनेवाली विद्याको अपरा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या भी पुनः दो भागोंमें विभक्त है, यथा—लौकिक विद्या और पारलौकिक विद्या। शिल्प, कला, वाणिज्य, पदार्थविद्या, सायन्स, राजनीति, समाजनीति,

युद्धविद्या, चिकित्साविद्या आदि सब लौकिक विद्याके अन्तर्गत हैं और वेद और वेदसम्मत दर्शन पुराणादि शास्त्र सब पारलौकिक विद्याके अन्तर्गत माने गये हैं। पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रंथ इस विचारसे बनाया गया है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्म-शिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके। मूल्य १॥) रुपया।

धर्मचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

एन्ट्रेंस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोड़श संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। इस ग्रंथके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरहसे जान सकेंगे। मूल्य १)

आर्य गौरव।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। यह ग्रंथ स्कूलकी ९ वीं तथा १० वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

आचारचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचारसम्बन्धीय धर्मपुस्तक है। इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिन्दुसन्तानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समयके विचारसे प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह ग्रंथ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है। यह स्कूलकी ८ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्व खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गई हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। यह स्कूलकी ७ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका।

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर।

इस ग्रंथमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रंथ स्कूलकी ६ ठी कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं।

प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभांति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अतिसरल है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ४ थी कक्षाका पाठ्य है। कागज और छपाई बढ़िया होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक-रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

मनुष्य मरकर कहां जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृतरूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

स्वर्ग और नरक कहां और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। आजकल स्वर्ग नरक आदि लोकोंके विषयमें बहुत संशय फैल रहा है। श्रीमान् स्वामीजी महाराजने अपनी स्वाभाविक सरल युक्तियोंके द्वारा चतुर्दश लोकोंका रहस्य वर्णन करते हुए उस सन्देहका अच्छा समाधान किया है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य कर्म चन्द्रिका।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दुमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभांति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मंगावें। यह स्कूलकी ५ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्मसम्बन्धसे मुक्ति, कर्मके साथ धर्मका मिश्र सम्बन्ध, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णन, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा और विज्ञान, उपासना रहस्य, उपासनाकी मूलभित्तिरूप पीठरहस्य, धर्म कर्म और यज्ञ शब्दोंका वैज्ञानिकरहस्य और सदाचारका विज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रन्थ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवाद-सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है, यह ग्रंथरत्न प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये उपादेय है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाका पाठ्य है। मूल्य –) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य -)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रंथकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये यह ग्रंथ बनाया गया है, परंतु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अंग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे इस पुस्तकको पढ़ाना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि, बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधनविषयक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रंथमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान।

यह ग्रंथ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुत ही हितकारी है। मूल्य ।) आना।

उपदेशपारिजात।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या २ विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रंथ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रंथ है। विशुद्ध हिंदी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रंथको पढ़ना उचित है। मूल्य १॥)

योगदर्शन।

हिन्दी भाष्यसहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब

विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रियासिद्धांशका पारगामी हो। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमवद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर असम्बद्ध नहीं मालूम होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। इसका द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है, इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुस्पष्ट, परिवर्द्धित और सरल किया गया है। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य।

इस ग्रंथमें सात अध्याय हैं। यथा-आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिंताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। यह ग्रंथरत्न हिंदू-जातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रंथ है। प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इस ग्रंथको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रंथका आदर सारे भारतवर्षमें समानरूपसे हुआ है। धर्मके गूढ़तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १।)

निगमागमचन्द्रिका।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ भाग धर्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकते हैं। इन भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धी ऐसे ऐसे प्रबंध प्रकाशित हुए हैं कि, आजतक वैसे धर्मसम्बन्धी प्रबंध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। जो धर्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें, वे इन पुस्तकोंको मंगावें। प्रत्येकका मूल्य १)

मन्त्रयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रंथ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये हैं। इसमें मन्त्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है, इसमें नास्तिकोंके मूर्ति पूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रु०।

हठयोग संहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अंग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ॥।)

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्य कृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =)

स्तोत्र कुसुमाञ्जलि।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकता-

नुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मू० ।) आना।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी-भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजतक श्रीगीताजीपर अनेक संस्कृत और हिन्दी-भाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता-विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मू० १) एक-रु०।

सप्त गीताएं।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच प्रकारके उपासकोंके लिये पांच गीताएं—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएं उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है, वैसा नहीं होगा, वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्मज्ञानका भण्डार है। श्रीमहामण्डल प्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रन्थ आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरुशिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राजयोगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रंथ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंके लिये यह उपकारी ग्रन्थ है। इसका अनुवाद बंगला भाषामें भी छप चुका है, पाठक इन सातों गीताओंको मंगाकर देख सकते हैं यह छप चुकी हैं। विष्णुगीताका मूल्य १), सूर्य्यगीताका मूल्य ॥), शक्तिगीताका मूल्य १) धीशगीताका मूल्य ।॥), शंभुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबंध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

कर्म्ममीमांसा दर्शन।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धान द्वारा प्राप्त हुआ है जिसका यह प्रथम धर्म्मपाद प्रकाशित हुआ है। सूत्र सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृत भाष्यका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार इसको छापा गया है। कर्म्मके साथ धर्म्मका सम्बन्ध, धर्म्मके अङ्गोपाङ्ग,

पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त प्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्मपादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार पञ्चम भूमिकाका यह दर्शन है। महर्षि जैमिनीकृत जो बृहत् कर्म मीमांसा दर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। वैदिक यज्ञोंका प्रचार आजकल बहुत कम होनेके कारण जैमिनीदर्शनका उपयोग बिलकुल नहीं होता है यही कहना युक्तियुक्त होगा। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन ग्रंथ कर्मके सब अंगोंके विज्ञानका प्रतिपादक और धर्म विज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। इस ग्रन्थरत्नका चार खण्डोंमें प्रकाशित होना सम्भव है। इसका द्वितीय पा दभी प्रकाशित होगया है। क्रमशः मूल्य १।) २)

श्रीरामगीता।

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायणमें कथित यह श्रीरामगीता है। परमधार्मिक विद्वान् स्वर्गवासी भारतधर्म सुधाकर श्रीमहारावलजी साहब सर विजयसिंहजी बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर राज्याधिपतिके पुरुषार्थ द्वारा इसका सुललित हिन्दी भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंके द्वारा इसके दुरूह विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है इन टिप्पणियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञाता और सब योगोंका अभ्यासी समझ कर आनन्दित हो सकता है क्योंकि इसमें सब तरहके विषय आये हैं। इसके आदिमें श्रीरामचन्द्र-जीके मर्यादा पुरुषोत्तम अवतारकी लीलाओंका विशद रहस्य प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तकमें श्रीरामचन्द्र सीता और हनुमान आदिके कई त्रैवर्णिक चित्र भी दिये गये हैं। कागज छपाई तथा जिल्द आदि उत्कृष्ट हैं। श्रीमहामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभागके सम्पादकत्वमें यह ग्रंथरत्न प्रकाशित हुआ है। इसमें अयोध्यामण्डपादि वर्णन, प्रमाणसार विवरण, ज्ञान-योग निरूपण, जीवन्मुक्तिनिरूपण, विदेह मुक्ति निरूपण, वासना क्षयादिनिरूपण, सप्तभूमिका निरूपण, सामाधिनिरूपण, वर्णाश्रम व्यवस्थापन, कर्मविभाग योग निरूपण, गुणत्रय विभाग योग निरूपण, विश्वरूप निरूपण, तारक प्रणव विभाग योग, महावाक्यार्थविवरण, नवचक्र विवेक योगनिरूपण, अणिमादि सिद्धि दूषण, विद्या सन्तति गुरुतत्त्व निरूपण और सर्वाध्याय संगति निरूपण इत्यादि विषय हैं। प्रस्तुत पुस्तकका मूल्य केवल २॥)

कहावत रत्नाकर।

न्यायावली और सुभाषितावली सहित। परमधार्मिक तथा विद्वान् स्वर्गीय श्रीमान् भारतधर्म सुधाकर हिज़हाइनेस महारावल साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर नरेशके सम्पादकत्वमें इस पुस्तकका छपना प्रारंभ हुआ था जिसको श्रीमहामण्ड-लके शास्त्र प्रकाशक विभागकी पण्डित-मण्डलीने सुचारुरूपसे समाप्त किया है। हिन्दीभाषाका यह एक अद्वितीय ग्रंथ है, इसमें हिन्दीभाषाकी प्रधानता रखकर पांच भाषाओंमें कहावतें दी गई हैं, हिन्दी और उसीकी संस्कृत कहावत, अंग्रेजी कहावत, फार्सी कहावत और उर्दू कहावत, अरबी कहावत। ये कहावतें प्रत्येक भाषाके प्रधान प्रधान विद्वानों द्वारा संग्रहीत और संशोधित हुई हैं, इसी प्रकार संस्कृत न्यायावली और उसका अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत अंग्रेजी विवरण तथा हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवरण दिया गया है। अन्तमें संस्कृत

सुभाषितावली हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। हिन्दी कहावत, संस्कृत न्यायावली और संस्कृत सुभाषितावलीको सर्व साधारणके सुबीतेके लिये अकारादि क्रमसे दिया गया है। इसके प्रारम्भमें अंग्रेजी और हिन्दी भाषामें हिन्दी भाषाका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली एक भूमिका दी गई है। पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर और यू० पी० के सर्वश्रेष्ठ प्रेस नवलकिशोर प्रेस, लखनऊमें छपी है सुन्दर जिल्दबंधी हुई है। रायल एडीशन १०) साधारण एडीशन ७)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका रामायण।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि, इसके मुकाविलेकी पुस्तक बाजारमें नहीं मिलेगी। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि विना किसीके सहाराके- औरतें, बालक, बुड्ढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ ले सकते हैं और भी इसकी विशेषता यह है कि,—इस तरहकी टिप्पणियां इसमें दी गई हैं कि, जिनको पढ़नेसे सनातनधर्मकी सब बातें समझमें आजावेंगी। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शङ्काओंका समाधान भली भांति हो जायगा। इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुदृश्य है और केवल प्रचारके लिये ही मूल्य भी स्वल्पमात्र रक्खा गया है।

गीतार्थ चन्द्रिका।

[दो खण्ड]

(श्रीस्वामी दयानन्द विरचित)

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दी भाषाके जाननेवाले भी इसके द्वार गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गई है। इसमें श्लोकके प्रत्येका शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अति मधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अति सरल तथा मधुर है। इस ग्रंथके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दी भाषामें ऐसी अपूर्व गीता अबतक निकली ही नहीं है। मूल्य प्रत्येकका १)

सानातनधर्म—दीपिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें १ धर्म, २ नित्यकर्म, ३ उपासना, ४ अवतार, ५ श्राद्धतर्पण ६ यज्ञोपवीत- संस्कार, ७ वेद और पुराण, ८ वर्णधर्म, ९ नारीधर्म, १० शिक्षादर्श और ११ उपसंहार शीर्षक निबंध लिखकर श्रीस्वामीजीने बड़ी ही सरल भाषामें सनातनधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। यह पुस्तक अंगरेजी स्कूलोंकी दशम श्रेणीके विद्यार्थियोंके धर्मशिक्षा देनेके उपयोगी बनाई गई है। मूल्य केवल ॥।) बारह आने।

आदर्श—जीवन—संग्रह।

महा पुरुषोंके जीवन चरित्रसे भावी सन्तानके चरित्रसंगठनपर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। अतः बालकोंको आदर्श महापुरुषोंका जीवन चरित्र अवश्य पढ़ाना चाहिये। वस्तुतः पुस्तकमें श्रीभगवान् शंकराचार्य, ईसामसीह, गो० स्वा० तुलसीदास, महाराज युधिष्ठिर,

महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, महारानी अहिल्या बाई, आदि ३२ महानुभावों तथा महादेवियोंके जीवन चरित्रका संग्रह किया गया है। इस प्रकार यह अनेक आदर्शोंकी पुष्पमाला है। बालकोंके लिये अत्युपयोगी है। ऐसी पुस्तकका मूल्य १॥) मात्र है।

वीर बाला अथवा अपूर्व नारी रत्न।

यह एक अत्युपयोगी तथा शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास है। राज-मद, धन-मद, यौवन-मदसे युक्त मनुष्यके पतन तथा, राज-धन-यौवनपूर्ण विवेकयुक्त पुरुषके उत्थानका अति सरल एवं ललित भाषामें दिग्दर्शन तो कराया ही गया है, इसके साथ ही विपत्तिग्रस्त भारतीय नारियोंके साहस, धैर्य, पराक्रम, कर्त्तव्य और प्रेमका अत्युत्तम चित्र खींचा गया है। इसके अतिरिक्त लेखकने जगत्‌विख्यात शेक्सपियरके "Two Gentlemen of Verora" Twelfth Night" पात्रोंसे भी अधिक इसकी नायिकाको कौशलपूर्ण दिखला कर अपनी कौशलताका परिचय दिया है। उपन्यासके आरम्भ करनेपर विना समाप्त किये उसे छोड़नेको जी नहीं चाहता। १७० पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य केवल ॥।) मात्र है।

कल्पलतिका बाल-चिकित्सा।

आजकल बच्चे कमज़ोर तो होते ही हैं, अनेकों रोगोंसे सदैव ग्रसित रहते हैं। अपढ़ माताओंके होनेसे उनकी औषधि भी ठीक ठीक नहीं होती। परिव्राजक मैथिल स्वामीकी रचित प्रस्तुत पुस्तकमें प्रायः हर प्रकारके बाल—रोगोंकी विवेचना की गई है और साथ ही बहुत ही कम कीमत जड़ी बूटीके नुसखे भी बतलाये गये हैं। विना गुरुके थोड़ी भी हिन्दी जाननेवाले इसके द्वारा बच्चोंकी चिकित्सा कर सकते हैं। प्रत्येक माता पिताको यह पुस्तक अपने पास रखनी चाहिये। मूल्य ।) मात्र है।

॥ त्रिवेदीय सन्ध्या ॥

शास्त्रविशारद-महोपदेशक

पं० राधिका प्रसाद वेदान्तशास्त्री-प्रणीत।

इसमें तीनों वेदकी सन्ध्या दी गई है। हर एक मंत्रका हिन्दीमें अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दीभाषामें अनुवाद दिया गया है। सन्ध्या क्यों की जाती है? सन्ध्याका स्वरूप क्या है? उपासनाकी रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं, सन्ध्याके द्वारा कैसे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध प्रकारकी उन्नति हो सकती है, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है, सन्ध्या न करनेसे क्या क्या हानि होती है, प्राणायामका स्वरूप क्या है और कैसे किया जाता है, गायत्रीका रहस्य क्या है? प्रणवका विस्तृत स्वरूप और विज्ञान क्या है, सन्ध्याका वैज्ञानिक तात्पर्य क्या है, गायत्री जप करनेका विधान क्या है, इस प्रकारसे सन्ध्या सम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई है। इसके साथ साथ गायत्री-शापोद्धार, गायत्रीकवच और गायत्री-हृदय भी सानुवाद दिया गया है। इसकी विशेषता यह है कि, इस पुस्तकके देखनेसे विना किसीसे पूछे आप ही आप, सन्ध्याका कार्य ठीक तरहसे कर सकेंगे और सन्ध्याके विषयमें जो कुछ शंकाएं हो सकती हैं सबका भलीभांति समाधान हो जायगा। हम गर्वके साथ कह सकते हैं कि, इसके द्वारा हिन्दु जनताका महान् उपकार होगा। इस प्रकारकी

किताब अभीतक बाजारमें नहीं मिलेगी। यह बिलकुल ही नूतन और देशकालोपयोगी है। मूल्य केवल ॥) आने।

हिन्दीके जरियेसे बंगला सीखनेकी उत्तम पुस्तक

सरल बंगला शिक्षा।

पं० गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री प्रणीत।

हिन्दी भाषा भाषियोंमें बंगला सीखनेके लिये उत्कट आकांक्षा देखी जाती है। उसकी पूर्तिके लिये यह पुस्तक लिखी गई है। यह पुस्तक पांच खण्डोंमें पूर्ण है। प्रथम खण्डमें "वर्णपरिचय" और "अनुवाद" द्वितीय खण्डमें "शब्दमाला" तृतीय खण्डमें "व्याकरण" चतुर्थ खण्डमें "कथित भाषा" और पञ्चम खण्डमें "मुहावरा" और "कहावत" दिये गये हैं। अतः इस एक ही पुस्तकके पढ़नेसे बंगला पढ़ना, लिखना और बोलना विना किसीकी सहायता लिये ही आसानीसे आ जायगा। २६८ पृष्ठकी पुस्तकका नाममात्र मूल्य १) है।

"THE WORLD'S ETERNAL RELIGION"

A Unique work on Hinduism in one volume, containig 24 Chapters with tricolour illustrations, glossary, etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real exposition of the Hindu religion in all its phases. The book has perfectly supplied this long-felt want. Names of the chapters are as follows:—1 Foreword, 2 Universal Religion, 3 Classification of Religion, 4 Law of Karma, 5 Worship in all its phases, 6 Practice of Yoga through Mantras, 7 Practice of Yoga through physical exercise, 8 Practice of Yoga through finer force of Nature, 9 Yoga through power of reasoning, 10 the Mystic Circle, 11 Love and Devotion, 12 Planes of knowledge, 13 Time, space, creation, 14 the Occult world, 15 Evolution and Reincarnation, 16 Hindu philosophy. 17 The System of Castes and Stages of Life 18 Woman's Dharma, 19 Image Worship, 20 The great Sacrifices, 21 Hindu Scriptures, 22 Liberation, 23 Education, 24. Reconciliation of all Religions. The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give. Price cloth bound, superior edition Rs. 5, Ordinary edition Rs. 3, postage extra.

सब पुस्तकोंके मिलनेका पता—

निगमागम बुकडिपो,

भारतधर्मसिण्डिकेट लिमिटेड, स्टेशनरोड, बनारस सिटी।

MAHAMANDAL MAGAZINE,

Devoted to Hindu Religion,

Science, Education, &c.

EDITOR:

Dr. Kunja Bihari Bose, Vidyaratna, PH. D.

The 20th year of the Magazine begins from January, 1926. Very widely circulated paper. Best medium for advertisements. Annual subscription Rs. 2/- for members of the Mahamandal and Rs. 3/-for public, Post free. Specimen copy free. Write to the Manager.

Mahamandal Magazine,

Mahamandal Buildings, BENARES.

समाज हितकारीकोष ।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डलने हिन्दूसमाजको सहायता करनेके लिये यह फण्ड खोला है । एक रुपया वार्षिक देनेसे ही दाताके उत्तराधिकारियोंको अच्छी सहायता मिलती है और पुत्र कन्याके विवाहपर और विद्याभ्यासके समय तथा विधवाको भी सहायता मिल सकती है ।

नियमावली मंगानेका पता—

मैनेजर समाज हितकारीकोष, महामण्डलभवन, बनारसकेण्ट ।

सनातन धर्म क्या है ?

इसका रहस्य बतानेवाला व्याख्याताओंका मित्र "धर्म सुधाकर" छपकर तैयार हो गया है । इसमें मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, वर्णव्यवस्था, सहभोज आदि विषयोंपर वेदके प्रमाणके साथ इनके विरोधियोंका खण्डन करनेके लिये युक्तियां भी लिखी गयी हैं ।

क्यों इसे किसने लिखा ?

वही सनातनधर्मके प्रधान व्याख्याता श्रीस्वामी दयानन्दजी जिन्होंने 'गीतार्थ चन्द्रिका' नामक गीताकी अपूर्व टीका लिखी है । क्या सच सच कह सकते हो कि वह पुस्तक कहांसे मिल सकेगी ? सुनो —

श्रीभारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड, स्टेशनरोड, बनारससे ।

संगीतसुधाकर ।

क्या आपने इसे देखा है ? नहीं साहब अभी तो वह छप ही रहा है । वाह भाई खूब कहते हो ! वह छपकर प्रायः तैयार हो गया है, लोग उसके खरीदनेके लिए बड़े उत्सुकसे मालूम हो रहे हैं । देखिये न यह चारों तरफ जो कानासानी हो रही है, सो उसीके लिए । क्यों ? उसमें सनातनधर्मके अच्छे अच्छे गीत संग्रह किये गये हैं । इसीलिये भजनोपदेशक लोग अभीसे पेशगी मूल्य जमाकर प्रसन्न हो रहे हैं कि, प्रस्तुत होते ही पहले मुझे मिलेगा । तुम चाहो तो लिखो—

भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड, स्टेशनरोड, बनारस सिटीको ।

निगमागमचन्द्रिका ।

सनातनधर्म्म और वर्णाश्रमधर्म्मकी एकमात्र प्रतिपादिका अखिलभारतवर्षीय सनातन-धर्म्मावलम्बियोंकी विराट् सभा श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलकी यह मासिक मुखपत्रिका ३१ वर्षसे सनातनधर्म्मकी सेवा कर रही है । महामण्डलके मैम्बरोंके लिये २) दो रुपया वार्षिक और अन्यान्य व्यक्तियोंके लिये ३) तीन रुपया वार्षिक ।

मैनेजर निगमागमचन्द्रिका

महामण्डलभवन, बनारस केन्ट ।

अन्यान्य पुस्तकें ।

सूर्यपुराण आदि २९६ रत्न	॥≡)	रामयशशिरोमणिनाटक	१॥=)
कर्मविपाकसंहिता (भाषा टीका सहित)	१॥)	सुन्दर विलास	॥=)
		बूटी प्रचार	॥।=)
भर्तृहरिशतक त्रयम्	॥।)	आल्हारामायण आठोंकांड	॥=)

विश्राम सागर २।=)
गीता पंचरत्न बड़ा १॥=)
महाभारत दोहा चौपाईमें २॥)
गृहभूषण (भाषाटीका सहित) ॥-)
महाभारत हिन्दीमें ७॥)
रसराजमहोदधि ४)
सुखसागर २॥)
आल्हाखण्ड बड़ा ३)
प्रेमसागर १॥)
ब्रज विलास २॥)
प्रयाग माहात्म्य ॥=)
मानस मञ्जरी ।)
बारह मासी -)
रामायण तुलसीदाकृत भाषटीकासहित बड़ा अक्षर सुन्दर जिल्द १४)
रामायण गोस्वमी तुलसीदासकृत भाषा टीका सहित छोटे अक्षरोंमें ४)
रामायण भाषाटीका सहित बहुत बड़े अक्षरोंमें रफ कागजपर ८)
रामायण मूल बड़े अक्षरोंमें ६)
रामायण सूर्यदीनकृत भाषा टीका सहित ८)
रामायण रफ कागजपर २॥)
रामायण गुटका १।)
बड़ा भरथरी चरित्र ।=)
मूल रामायण भाषा टीका सहित =)॥
आनन्दसागर ।-)
वैताल पचीसी ।-)
सिंहासन बत्तीसी ।≡)
किस्सा हातिमताई ।॥)
श्रीचित्र गुप्त यमद्वितिया कथा भा० टी० सहित =)
ज्योतिषसार भा० टी० सहित १॥=)
कौतुकरत्नभण्डार १=)
विवेक चूड़ामणि संस्कृत टीका सहित १)
ग्रहशान्ति ॥)

विवाह पद्धति ≡)
तर्क संग्रह संस्कृत टीका सहित ॥)
शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी ।-)
फलित संग्रह ॥;)
प्रेत मंजरी मूल ।=)
लघुसंग्रह ≡)
वासिष्ठी हवन पद्धति ।)
साम्वत्सरिक एकोदिष्ट श्राद्धप्रयोग =)॥
पञ्चांग पद्धति ।-)
गोपाल सहस्रनाम =)॥
दुर्गासप्तशती खुला पत्रा ।-)
अनन्त व्रत कथा मूल)
अनन्त व्रत कथा भा० टी० सहित ≡)
सत्यनारायण व्रत कथा मूल =)॥
सत्यनारायण व्रत कथा भा० टी० सहित ≡)॥
गरुड़ पुराण भा० टी० सहित ॥)
सत्यहरिश्चन्द्र नाटक ≡)
गायत्री पुरश्चरण =)॥
दशकर्म पद्धति ।≡)
दत्तात्रेयतन्त्रम् भा० टी० सहित ॥=)
उड्डीशतंत्र भा० टी० सहित ॥)
नारायण बलि भा० टी० ॥=)
गणेशचतुर्थी कथा भाषा टीका सहित ।-)
जातकालंकार भा० टी० सहित ॥≡)
हितोपदेश ॥≡)
शीघ्र बोध भा० टी० सहित ।≡)
शकुन्तला नाटक (राजालक्ष्मणसिंहकृत टीका) ॥)
शैवमनोरंजनी चारो भाग १=)॥
सारस्वत व्याकरण पूर्वार्द्ध ।=)
धनुर्वेद संहिता ।)
पार्वण श्राद्ध प्रयोग =)
वैद्य जीवन संस्कृत टीका सहित ॥)
चिकित्सा चक्रवर्ती ॥)
कार्तिक महात्म्य भा० टी० सहित ३)
एकादशी महात्म्य भा० टी० सहित १)